जो ममत्व बुद्धि को छोड़ता है, वह परिग्रह को भी छोड़ता है ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

जिनवाणी

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के
६६वें दीक्षावर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित



अपरिग्रह विशेषांक



प्रधान सम्पादक

डॉ. नरेन्द्र भानावत



सम्पादक

डॉ. श्रीमती शान्ता भानावत



प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर–३०२ ००३

जिनवाणी

अपरिग्रह विशेषांक : वर्ष : ४३ • अंक : ६–८

जून–अगस्त, १९८६
वीर निर्वाण संवत् २५१२
ज्येष्ठ–श्रावण, २०४३

प्रवन्ध सम्पादक

प्रेमराज बोगावत

संस्थापक

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नं० १८२–१८३ के ऊपर
बापू बाजार, जयपुर–३०२ ००३ (राजस्थान)
फोन न० ४८९९७

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

सी–२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर
जयपुर–३०२ ००४ (राज०) फोन : ४७४४४

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन नं० ३६५३/५७

सदस्यता

स्तम्भ सदस्यता : १००१ रु०
संरक्षक सदस्यता : ५०१ रु०
आजीवन सदस्यता . देश मे २५१ रु०, विदेश में ७५१ रु०
त्रिवर्षीय सदस्यता : ५५ रु०
वार्षिक सदस्यता : २० रु०
इस विशेषांक का मूल्य १० रु०

मुद्रक :

फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर–३०२ ००३
फोन · ४८६०४

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय जैन आचार्य पूज्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के ६६ वें दीक्षा वर्ष (दीक्षा सवत् १९७७, माघ शुक्ला द्वितीया, अजमेर) के उपलक्ष्य में अपरिग्रह-भाव को जागृत कर निष्काम समाज-सेवा करने की प्रेरणा देने वाली **'अपरिग्रह : विचार और व्यवहार'** विषयक सामग्री पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता एवं गौरव की अनुभूति हो रही है।

आचार्य श्री की प्रेरणा से महान् क्रियोद्धारक पूज्य आचार्य श्री रत्नचंद्रजी म० सा० की स्वर्गवास शताब्दी (सं० २००२) के पुनीत अवसर पर आज से लगभग ४१ वर्ष पूर्व सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना की गई थी। मण्डल द्वारा सम्यक्ज्ञान के प्रचार-प्रसार की विविध प्रवृत्तियाँ संचालित की जाती है, जिनमें मुख्य हैं—'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का नियमित प्रकाशन, सामायिक व स्वाध्याय संघ का संचालन तथा जीवनोन्नायक सत्संस्कारवर्धक साहित्य का निर्माण एवं प्रकाशन।

अब तक सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा आगमिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, तात्त्विक, कथात्मक, स्तवनात्मक, प्रवचनात्मक, व्याख्यात्मक आदि विविध विषयक धर्म-दर्शन व साहित्य संबंधी ५० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है।

ये पुस्तके संत-सतियों, विद्वानो, स्वाध्यायियों से लेकर सामान्य स्तर के सभी पाठको के लिए मननीय, पठनीय और आचरणीय रही है। कई पुस्तके पुनर्मुद्रित भी कराई गई है। उच्चकोटि के सत्-साहित्य के निर्माण एवं प्रकाशन की व्यापक योजना भी तैयार की जा रही है ताकि जीवन और समाज की सत्-साहित्य संबधी बढती हुई माँग पूरी की जा सके। कोई भी व्यक्ति ५०१ रु० प्रदान कर आजीवन साहित्य सदस्यता ग्रहण कर सकता है। साहित्य सदस्यों को उपलब्ध प्रकाशित साहित्य नि:शुल्क भेजा जाता है।

सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल की दृष्टि व्यापक और उदार रही है। जीवन को अध्यात्मप्रवण बनाने वाले विभिन्न आनुष्ठानिक तत्त्वों पर उसने सिद्धान्त और व्यवहार के स्तर पर उपयोगी साहित्य प्रकाशित किया है, जिसमे भारतीय धर्म और दर्शन विशेषकर जैन धर्म-दर्शन का निचोड़ समाहित है।

"**जिनवाणी**" मासिक पत्रिका का गत ४३ वर्षो से नियमित प्रकाशन मण्डल की विशेष उपलब्धि है। 'जिनवाणी' के 'सामायिक', 'स्वाध्याय', 'तप' 'साधना' 'ध्यान', 'श्रावक धर्म' 'जैन संस्कृति और राजस्थान' 'कर्म सिद्धान्त', आदि विषयो पर प्रकाशित विशेषांक बड़े चर्चित और विचारोत्प्रेरक रहे है। **अपरिग्रह** जैसे उपयोगी विषय पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों स्तरो पर जो शास्त्रीय और समाज वैज्ञानिक चिन्तन हुआ है, उसे अनुभवी सत-महात्माओ और विभिन्न क्षेत्रों के अधिकारी विद्वानों द्वारा विश्लेषणात्मक एव समीक्षात्मक ढंग से इस कृति मे प्रस्तुत किया गया है, जो आज के युग की अपरिहार्य आवश्यकता है। विभिन्न निबंधों में प्रस्तुत विचार लेखको के अपने निजी विचार है; उनसे सम्पादक अथवा सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नही है।

इस ग्रथ के प्रणयन मे ग्रंथ के संपादक डॉ० नरेन्द्र भानावत व विद्वान् लेखको का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ग्रंथ के मुद्रण मे फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के प्रबन्धको ने विशेष रुचि लेकर समय पर इसे पाठको के समक्ष प्रस्तुत करने में हमारी मदद की, अतः हम मण्डल की ओर से सबके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते है।

आशा है, इस कृति के माध्यम से अपरिग्रह-भाव का चिन्तन-मनन व्यापक बनेगा और समाज-सेवा तथा लोककल्याणकारी प्रवृत्तियो को विशेष बल मिलेगा।

देवेन्द्रराज मेहता
अध्यक्ष

चैतन्यमल ढढ्ढा
मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर



अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

अपरिग्रह : विचार

द्वितीय खण्ड

अपरिग्रह : व्यवहार

□ **बोधकथा/प्रसंग/सूक्ति/कविता आदि** □

□ परिशिष्ट □

□ • □

सम्पादकीय

मनुष्य अकेला जन्म लेता है। जन्म के साथ उसके पास मांसपिण्ड रूप शरीर के अतिरिक्त और कुछ नही होता। वह अपने चारों ओर के वातावरण से परिचित होने की स्वाभाविक प्रक्रिया में ही रुदन करता है। उसका यह रुदन सृजन मे सहभागी बनता है। धीरे-धीरे उसका अपने परिवेश के प्रति संपर्क और परिचय बढता जाता है। विवेक से युक्त होकर यह परिचय और संपर्क सुन्दर और स्वस्थ समाज-निर्माण में सहायक होता है, पर जब इसके साथ विवेक नहीं रहता तो वह मोह और आसक्ति का रूप लेकर दुःख का कारण बनता चलता है। यही परिग्रह है। मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ ज्यो-ज्यों विज्ञान और तकनीकी का विकास हो रहा है त्यों-त्यों परिग्रह का दवाव और वस्तु-सग्रह की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती जा रही है। यह सही है कि व्यक्ति वस्तु, परिस्थिति और विचार के बिना जीवित नहीं रह सकता और न अपना विकास ही कर पाता है। जीवन-विकास के लिए आवश्यक शर्त ही यह है कि वस्तु, परिस्थिति और विचार रूप जो साधन है, उनका दुरुपयोग न किया जाय। जीवन और समाज के विकास में इन साधनो का अधिकाधिक सदुपयोग करना ही सभ्य होना, उन्नत होना है।

जब तक शरीर है, उसके लिए उसकी प्रकृति के अनुकूल भोजन आवश्यक है। पर यह भोजन कैसा, कब और कैसे करना, इसमें सजगता बरतना जरूरी है। वह अधिक मिर्च मसालेदार न हो, मात्रा मे आवश्यकता से अधिक न हो, अपने शरीर के प्रतिकूल न हो, वह सादा और नियमित हो, तभी वह जीवन के लिए पुष्टिदायक और रसप्रद बनता है। ठीक यही बात, अन्य पदार्थो के उपयोग के सम्बन्ध में है। शरीर-रक्षा और जीवन-विकास के लिए कितने और कैसे पदार्थ आवश्यक है, इनका विवेकपूर्वक ग्रहण बुरा नही। भोजन शरीर के लिए है, शरीर भोजन के लिए नही। इसी प्रकार पदार्थ जीवन के लिए है, जीवन पदार्थो के लिए नही। पाचन तंत्र द्वारा भोजन का सारतत्त्व ग्रहण कर लिया जाता है, और निस्सार विजातीय तत्त्व छोड दिया जाता है। इसी प्रकार जीवन की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो जरूरी पदार्थ है, उनको ग्रहण कर शेष पदार्थो का समाज के लिए विर्सजन करना इष्ट है।

व्यक्ति जब स्वाभाविक आवश्यकताओं को छोड़कर अस्वाभाविक इच्छाओं के घेरे मे आबद्ध हो जाता है तब उसका विवेक कुण्ठित हो जाता है, उसका व्यक्तित्व अपनी ऊर्जा खो बैठता है और अनावश्यक अनुपयोगी वस्तुओं के भार से वह दबता जाता है। उसकी उपयोग दृष्टि मंद हो जाती है और उपभोग वृत्ति अनन्त आकाश में गुलाचे भरने लगती है। अपने व्यक्तित्व की गुणवत्ता के कारण नही, बल्कि वस्तु की सचय-वृत्ति के आधार पर वह समाज मे अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए व्यग्र बना रहता है। सामाजिक उत्सवों मे ही नही, धार्मिक अनुष्ठानों में भी वह अपने परिग्रह का प्रदर्शन कर थोथी प्रतिष्ठा को खरीदना चाहता है। पर यह स्वस्थ जीवन-दृष्टि नही है। पदार्थो का उपयोग प्रतिष्ठा-प्रदर्शन मे न होकर परोपकार मे होना चाहिये। सच्ची प्रतिष्ठा प्रदर्शन मे न होकर इष्ट के प्रति समर्पण, उदार चिन्तन और जागृत संवेदन मे है। श्रेष्ठी वह नही है जो सग्रही है, बल्कि वह है जो अपने सग्रह का उदारतापूर्वक लोक-हित मे सदुपयोग करता है। ट्रस्टी वह नही है जो आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का संरक्षण भाव से केवल सचय करता है, बल्कि वह है जो उन वस्तुओं को उन लोगो के पास पहुँचाता है जिनको उनकी जरूरत है। नदी का स्वभाव निरन्तर बहते रहना है। जहाँ-जहाँ पानी की जरूरत होती है और जिस-जिस को जरूरत होती है, वह उससे लाभान्वित होता रहता है। नदी की तरह ट्रस्टी का दिल होना चाहिए जो देने से, बहने से, पिघलने से अपने को न रोके।

परिग्रह—अपरिग्रह की विवेचना में प्राय: कहा जाता है कि मूर्च्छा अर्थात् मोहवृत्ति परिग्रह है और मूर्च्छा से रहित होना अर्थात् पदार्थों के प्रति आसक्ति न रखना अपरिग्रह है। पर व्यवहार मे ऐसे उदाहरण अत्यन्त दुर्लभ है कि कोई विषय-सुख की अपार भोग-सामग्री के वीच रमण करता हुआ, रहता हुआ भी उससे निर्लिप्त रहे। सच तो यह है कि वस्तुओं का स्वामी रहते हुए पूर्ण अनासक्त नही हुआ जा सकता। यही कारण है कि भगवान् महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों ने राजसी सुख वैभव का त्याग कर सन्यास मार्ग ग्रहण किया।

ध्यान देने की वात यह है कि मनुष्य योनि मे ही पूर्ण अपरिग्रह व्रत धारण किया जा सकता है। मनुष्येत्तर पशु, देव आदि योनियो मे शरीर प्रधानत: भोग के लिए है अत: वहाँ व्रत-प्रत्याख्यान रूप संयमी जीवन विताने का अवसर और सामर्थ्य नही रहता। मनुष्य योनि भोग के लिए नही, योग के लिए है। यदि मनुष्य आत्मस्थ होकर अस्वाभाविक इच्छाओ से निवृत्त होता हुआ, अध्यात्म साधना में अग्रसर होता है तो वह देहातीत-लोकातीत होकर पूर्ण शान्ति, स्वाधीनता, चिन्मयता और अमरता की अनुभूति कर सकता है।

मनुष्य मननशील प्राणी है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसमे मनस् तत्त्व

की प्रधानता है। मन की शक्ति के द्वारा वह व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति को जानता है। जो कुछ जानता है, उसका अपने परिवेश और परिस्थिति के अनुसार मूल्यांकन करता है। मूल्यांकन के अनुसार ही वह संवेदन अथवा अनुभवन करता है। जो अनुभव उसे सुखद लगता है उसे वह बनाये रखना चाहता है और जो अनुभव दु:खद लगता है, उसे दूर करना या हटाना चाहता है। इस प्रतिक्रियात्मक संस्कार को ही राग और द्वेष कहा गया है। दूसरे शब्दों मे इष्ट पदार्थो के प्रति प्रीति और अनिष्ट पदार्थो के प्रति अप्रीति क्रमश: राग और द्वेष है। राग सुखात्मक भाव है और द्वेष दुखात्मक भाव है। सुख के ही अन्य अनुभाव है—लोभ, मोह, भोगवृत्ति आदि। दु:ख के ही विस्तारक अनुभाव है—ग्लानि, घृणा, क्रोध, द्वेष वैर, ईर्ष्या आदि। मनुष्य मन, वचन और शरीर द्वारा जो कुछ क्रिया-व्यापार करता है। साधारणत: राग-द्वेष के वशीभूत होकर ही। इसीलिए राग-द्वेष को कर्म का बीज कहा गया है।

प्राकृतिक विधान की ओर देखें तो पता चलता है कि जब बीज को अनुकूल परिस्थितियाँ खाद, पानी, हवा, रोशनी आदि मिलते है तो वह अंकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित होता हुआ एक से अनेक रूपो में फलित होता है। उन फलो मे जो बीज होते है उनमें एकाध बीज ऐसा अवश्य होता है जिसमें अपने जैसे अनेक बीजों को पैदा करने की शक्ति होती है। कर्मबीज का यह सिलसिला ही शरीर का कारण है, जन्म-मरण का चक्र है। जो इस चक्र मे संक्रमण करता है वह संस्कारों के वशीभूत होकर कोई न कोई सुख अथवा दु ख की प्रतिक्रिया किये बिना नही रहता। यह प्रतिक्रिया ही अशान्ति और बेचैनी का कारण है।

दार्शनिकों ने इस जगत् को नाम-रूपात्मक कहा है। नाम ही चित्त है और रूप शरीर है। जब चित्त का मन और इन्द्रियों द्वारा विषयों से सम्पर्क-स्पर्श होता है तब संवेदन के फलस्वरूप अच्छी-बुरी प्रतिक्रिया होती है, जो राग और द्वेष के कारण सुख-दु:ख का कारण बनती है। यह प्रतिक्रिया विस्तार पाती रहती है और भव-प्रपंच बढ़ता जाता है। जब मनुष्य की आवश्यकताएँ कम रहती हैं तब उसमें संस्कारगत प्रतिक्रियाएँ कम होती है लेकिन भोगवृत्ति के बढने के साथ-साथ इच्छाएँ आवश्यकताओ का रूप लेने लगती हैं। तब राग-द्वेष का क्षेत्र विस्तृत बनता जाता है। पदार्थ मे अच्छा या बुरापन रागवृत्ति के कारण होता है। जिनके प्रति राग होता है उन्हें हम अधिक परिमाण में प्राप्त करना चाहते है और वे हमारे पास अधिक समय तक बने रहें, कभी नष्ट न हो, यह तृष्णा भाव सतत बना रहता है। जो पदार्थ हमे इष्ट नही है, उनके प्रति द्वेष वृत्ति बनी रहती है। हम उन्हे नही चाहते, उन्हें नष्ट हुआ देखना चाहते है।

राग और द्वेष का मुख्य कारण भोग-बुद्धि है। हम इन्द्रिय और मन की

सहायता से इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेषभाव जागृत करते हुए भोग मे इतने आबद्ध हो जाते हैं कि हमारी सम्पूर्ण चेतना मूर्च्छित और जड़ हो जाती है। चेतन मन और अचेतन मन का फासला भोग-वृद्धि के कारण निरन्तर वढता जाता है। 'मै' और 'मेरापन' इतना हावी हो जाता है कि 'पर' या तो दिखाई ही नही देता या बहुत छोटे रूप मे दिखाई देता है। इससे अहं प्रबल हो उठता है और व्यक्ति यथार्थ से हटकर भ्रम में जीने लगता है, जहाँ सुख नही है वहाँ सुख समझने लगता है। यह मिथ्या दृष्टि राग-द्वेष का ही परिणाम है।

एक समय था जब व्यक्ति जीवन और व्यवहार मे सरल और सादगी-पसद था, पर आज तकनीकी विकास ने जीवन-व्यवहार को अधिकाधिक जटिल और वक्र बना दिया है। इस कारण व्यक्ति अपने तक ही सीमित रह गया है। दूसरे की संवेदनाओ को वह अनुभव ही नही कर पाता। जब व्यक्ति भोग-भूमि से ऊपर उठकर योग-भूमि मे अर्थात् चित्त और शरीर के भेद विज्ञान को समझकर चेतन और अचेतन मन के फासले को दूर करने में पराक्रमशील होता है तब उसकी बुद्धि स्थिर और सम होती है। इस अवस्था को ही स्थितिप्रज्ञ, अनासक्त योग, अपरिग्रह वृत्ति या जीवन मुक्त अवस्था कहा गया है।

मनुष्य के साथ दो तरह के विकार लगे हुए है। एक पुरातन संस्कारगत और दूसरा वर्तमान व्यवहारगत। अपने वर्तमान को सजग होकर देखने-परखने से व्यक्ति चरित्रवान बनकर प्रज्ञा मे पहुँच सकता है। अपने प्रत्येक क्षण के प्रति जागरूक रहने वाला नये कर्म नही बांधता है। उसका चिन्तन और व्यवहार सम्यक् हो जाता है। जब वह प्रज्ञा को जागृत कर लेता है तब पुरातन संस्कारो को उदय में लाये बिना ही उन्हें निर्जरित और दग्ध कर देता है और फिर उनमे फल देने की ताकत नही रहती।

इस प्रकार कर्म से अकर्म, अनित्य से नित्य और कषाय से समाय की ओर बढकर, चेतन-अचेतन मन की खाई को पाटकर, राग-द्वेष को जीता जा सकता है। यही अपरिग्रह वृत्ति का चरम लक्ष्य है। पर मनुष्य की भोग वृत्ति इतनी सूक्ष्म है कि वह वस्तु के प्रति रहे हुए परिग्रह को भले ही छोड दे परन्तु विचार और कीर्ति-कामना का जो परिग्रह है, उससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। परिग्रह का यह भाव क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो के द्वारा परिपुष्ट होता है। जिस व्यक्ति के मन मे परिग्रह का भाव है, वह अपने को तनिक भी हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति या पदार्थ के प्रति बात-बात पर क्रोध करेगा। अपने मान की पुष्टि के लिये वह दूसरो को हीन समझ कर उसके प्रति तिरस्कार की भावना रखेगा तथा अपने अहम् की तुष्टि के लिये वह अधिकाधिक संग्रह करने हेतु सम्पर्क मे आने वाले लोगो के साथ मायाचार करेगा, कथनी और करनी

में, आदर्श और व्यवहार में अन्तर रखेगा। उसका व्यक्तित्व अखंड व्यक्तित्व न होकर विखंडित हो जायेगा, टुकड़ों-टुकड़ों में बंट जायेगा। जो कुछ उसे प्राप्त नही, उसे प्राप्त करने की दौड़-धूप में वह हमेशा परेशान रहेगा और लोभ-वृत्ति के वशीभूत होकर वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा और शोषण पर उतर जायेगा।

भगवान् महावीर ने अपने अपरिग्रह-सन्देश में कषाय वृत्तियों पर नियत्रण करने कर विशेष बल दिया है। महावीर के समय में आर्थिक व्यवस्था विशेष जटिल नही थी। अत. हिसा और परिग्रह का विवेचन धार्मिक क्रियाओं के नाम पर होने वाले क्षेत्रों में ही विशेष चर्चित रहा। उनके समय में यज्ञ आदि धार्मिक हिसा का बोलबाला अधिक था। अतः उसे रोकने के लिये उन्होंने अहिसा पर विशेष बल दिया और बाद के आचार्यो ने भी उसी संदर्भ में विशेष व्याख्या-विवेचना की।

पर आधुनिक युग में औद्योगिक क्रान्ति व तकनीकी वैज्ञानिक विकास के कारण धार्मिक अंधविश्वास तो अपेक्षाकृत कम हुए है पर आर्थिक क्षेत्र मे हिसा और शोषण का चक्र पूर्वापेक्षा तेज गति से चलने लगा है। इसे रोकने के लिये विभिन्न राजनैतिक विचारकों, दार्शनिकों ने अपने-अपने विचार दिये है। इनमें कार्लमार्क्स का चिन्तन विशेष प्रभावी बना हुआ है। मार्क्सवादी चिन्तन में स्वामित्व को नकारा नही गया है। वहाँ व्यक्ति के स्वामित्व को समाज-राज्य के स्वामित्व मे बदलने की प्रक्रिया पर बल दिया गया है, और इस बदलाव के लिये हिसा करने की भी छूट है पर महावीर ने मार्क्स से बहुत पहले स्वामित्व को बदलने का नही, वरन् स्वामित्व को नकारने का समाधान दिया। यही समाधान सुख और शान्ति का मूल आधार बन सकता है क्योकि इसमें आवश्यकताओं और इच्छाओं पर स्वैच्छिक और मानसिक नियंत्रण रहता है। और किसी के प्रति प्रतिक्रिया का भाव नही है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब तक स्वामित्व बना रहता है चाहे वह व्यक्तिगत हो, चाहे समाजगत या राज्यगत, संघर्ष चलता रहता है। जहाँ संघर्ष है वहाँ हिसा है। संघर्ष और हिसा को रोकने के लिये स्वामित्व का विसर्जन आवश्यक है। महावीर के अपरिग्रह संदेश मे स्वामित्व के रूपान्तर की नहीं, उसके विसर्जन की बात को रेखांकित किया गया है।

स्वामित्व के विसर्जन भाव को पुष्ट करने के लिये भगवान् महावीर ने एक ओर अणगार धर्म की प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर आगार धर्म की। अणगार धर्म के धारक श्रमण नितान्त अकिंचन और अपरिग्रही होते है जबकि आगार धर्म के धारक श्रावक अपनी इच्छा और आवश्यकता की मर्यादा करते है। मर्यादा से अधिक प्राप्त सम्पत्ति को वे अपनी नही, समाज की मान कर जन-

कल्याण मे उसका उपयोग करते है। इस प्रकार महावीर ने गृहस्थ श्रावकों को उपदेश दिया कि वे शुद्ध साधनों के बल पर आवश्यकतानुसार अर्जन करें और आवश्यकता से अधिक अर्जन का जन-कल्याणकारी कार्यों में विसर्जन करें।

अर्जन और विसर्जन की यह प्रक्रिया समतावादी समाज रचना का मुख्य आधार है। यदि अपरिग्रह भाव को व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के स्तर पर प्रयोग रूप मे लाया जा सके तो विश्व के विभिन्न तनावो से मुक्ति मिल सकती है और संघर्ष व युद्ध का अन्त हो सकता है।

यह ज्ञातव्य है कि वस्तुओं का सग्रह परिग्रह नही है, उन पर स्वामित्व परिग्रह है, समुदाय परिग्रह नही है, साम्प्रदायिकता परिग्रह है, विचारो का बाहुल्य और वैविध्य परिग्रह नही है, पर उनके प्रति कदाग्रह परिग्रह है। सच तो यह है कि अपरिग्रह और परिग्रह जीवन और समाज के प्रति एक दृष्टिकोण हैं। शरीर और संसार में रहते हुए उनके प्रति लगाव परिग्रह है और विलगाव अपरिग्रह। शरीर और संसार के पदार्थ विनाशी है, पौद्गलिक है, उत्पाद और व्यय स्वभाव वाले है तथा इनसे भिन्न चेतना अविनाशी, नित्य और स्वाधीन तत्त्व है। इस विचारणा के विकास के साथ-साथ परिग्रह भाव छूटता जाता है और अपरिग्रह भाव विकसित होता जाता है। अपरिग्रह भाव या दृष्टिकोण के विकास के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इस प्रशिक्षण का मूल आधार आत्म-निरीक्षण और आत्मावलोकन है, जो सत-महात्माओ के सान्निध्य, सत्संग और सद्शास्त्रों के स्वाध्याय एव चिन्तन से परिपुष्ट होता रहता है।

व्यापक दृष्टि से चिन्तन करने पर यह फलित होता है कि वस्तु की भाँति अपना शरीर भी परिग्रह है। परिग्रह से छूटने के अभ्यास-क्रम में वस्तुओ के सदुपयोग करने का सामर्थ्य विकसित करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तु और विचार के सदुपयोग का नाम ही सेवा है। भावात्मक रूप में सेवा का क्षेत्र असीम है। हमे जो शरीर प्राप्त हुआ है इसकी परिपालना और विकास में समाज का बहुत बड़ा योगदान रहा है। अत. यह स्वस्थ्य रहे और लोकहित मे काम आये, इस भावना से इसकी सार-संभाल करना भी सेवा का अंग है। शरीर भोग के लिए नही वरन् यह दूसरों के उपयोग के लिए है, ससार की सेवा के लिए है, ऐसा समझ कर मानव-कल्याण मे इसे निष्काम भाव से समर्पित करना मानव-भव की सार्थकता है।

अपरिग्रह का विचार आज के युग की अपरिहार्य आवश्यकता है। सभी धर्मो और दर्शनो में अपरिग्रह-वृत्ति को सच्ची शान्ति और अखण्ड आनन्द का

मूल उत्स माना है। सिद्धान्त रूप में जीवन और समाज का अपरिहार्य अंग होते हुए भी अपरिग्रह-विचार व्यवहार में आत्मसात् नही हो पा रहा है। मोटे तौर से देखें तो पता चलता है कि वस्तु या धन का जो संग्रह है, उसके दो मूल हेतु है। एक संरक्षण और दूसरा शोषण। संरक्षण वृत्ति में परिश्रम और न्याय, नीति पूर्वक धन का उपार्जन किया जाता है। उसका दुर्व्यसनों में दुरुपयोग न होने के कारण स्वाभाविक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद वह बच रहता है तथा अर्थशास्त्रीय दृष्टि से उत्पादन के बहुविध साधनों में उसका नियोजन करने से धन की सतत गुणाकार वृद्धि होती रहती है, जैसा कि जैन समाज तथा अन्य निर्व्यसनी समाजों मे दृष्टिगत होता है। संरक्षण वृत्ति के लोग इस प्रकार से अर्जित धन का सदुपयोग शिक्षा, चिकित्सा जैसे लोकोपयोगी कार्यों में अधिकाधिक करते है। जनहित की यह प्रवृत्ति जैन धर्मानुयायियों में संख्या के अनुपात की दृष्टि से सर्वाधिक है।

पर जिनकी वृत्ति संरक्षण की न होकर शोषण की होती है, वे येन-केन प्रकारेण अधिकाधिक सग्रह करने को बेताब रहते है। घी मे गाय की चर्बी तक मिलाने में वे नही हिचकते। वस्तुओं में साधारण मिलावट आदि करना उनके लिए सामान्य बात है। ऐसे लोग अपने संचित धन का न स्वयं अपने लिए उपयोग कर पाते है और न समाज के लिए। उनका धन ढोंग, प्रदर्शन, दुर्व्यसन, फैशन-परस्ती और विलासिता मे व्यय होता है। ऐसे लोगो का आचरण जैन संस्कृति और अपरिग्रह-विचारणा के विपरीत है। इन लोगो की लक्ष्मी कमलासिनी न होकर उलूक वाहिनी होती है, जिसे दिन में भी रात अर्थात् उजाले में भी अंधेरा दिखाई देता है। यही अंधेरा उन्हे दुःखी, बेचैन और अशान्त बनाये रखता है। करोड़ो की सम्पत्ति होते हुए भी ऐसे लोग हृदय से अत्यन्त क्रूर, निर्दयी और संवेदना मे अत्यन्त गरीब होते है।

आज समाज में मध्यम वर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। न तो वह उच्च वर्ग की भाँति सुविधाजीवी है और न निम्न वर्ग की भाँति श्रमजीवी। सुविधा और श्रम की दुविधा से ग्रस्त यह जीव सामाजिक रूढियों और धार्मिक आडम्बरों से मुक्त नही है। उच्च वर्ग के साथ प्रभुता और प्रदर्शन की होड़ में यह भी पीछे नही रहना चाहता। परिणामस्वरूप दुहरी मार और दोहरे भार से त्रस्त है यह।

गृहस्थों की बात छोडें, यदि हम देश-विदेश के वृहत् साधु-समाज की जीवन-पद्धति को देखें तो पता चलेगा कि जिन साधको ने बाहरी परिग्रह छोड़कर वैराग्य धारण किया है, उनमे से कई न्यूनाधिक रूप से आन्तरिक परिग्रह से ग्रस्त है। उन्होने बाहरी संसार छोडा है पर भीतर का संसार अधिक विस्तृत और प्रगाढ बना है, उसी का परिणाम है साम्प्रदायिक विद्वेष, धर्म के नाम पर युद्ध, हठाग्रह, आतकवाद।

अनुभूति के स्तर पर कई वार ऐसा लगता है कि व्यक्ति जव वैराग्य के पथ पर बढता है तो कंचन और कामिनी को छोड़ने में अधिक अंत.संघर्ष नही करना पड़ता। पर कीर्ति-कामना से ऊपर उठने में अधिक अत:संघर्ष करना पडता है। जो आत्म-दर्शन के वजाय प्रदर्शन में उलझ जाता है, वह साधक होकर भी आंतरिक चेतना के साथ जुडकर साधना नही कर पाता। उसका पूरा जीवन और दैनिक कार्यक्रम इसी टोह में लगे रहते हैं कि येन-केन प्रकारेण उसकी कीर्ति-कामना तुष्ट होती रहे। आज धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में पूजा-पाठ, प्रतिष्ठा-समारोह, भक्तो की भीड, आदि के जो प्रसंग सामने आते है उनमे आत्म-दर्शन और आत्म-साक्षात्कार की वजाय परिग्रह-प्रदर्शन का भाव अधिक परिलक्षित होता है। धर्म स्थानों मे उपदेश अपरिग्रह का और प्रतिष्ठा परिग्रह-धारी की, यह कैसा वैचित्र्य है? कैसी विडम्वना है? यहाँ ज्ञान का फल विरति और वैराग्य न होकर अहम् और अलगाव प्रतीत होता है। महावीर कभी प्रदर्शन के पीछे नही पड़े। वे आत्म-दर्शन मे ही संलीन रहे। महावीर ने धर्म के नाम पर वढती हुई हिंसा और पशु वलि का विरोध किया और प्राणी-मात्र को मैत्री और प्यार वांटा। आज के सदर्भ मे हम सोचे तो लगेगा कि उस समय धर्म के नाम पर जो हिसा थी, उससे अधिक सूक्ष्म हिसा आज अर्थ के नाम पर हो रही है। आज हमारी धर्म साधना मे भी अर्थ अर्थात् धन केन्द्र मे है। वन के द्वारा धर्म खरीदने की व्यग्रता चारो ओर दिखाई देती है। इसी का परिणाम है कि सर्वत्र यहाँ तक कि धर्म स्थलों मे भी धन आगे दिखाई देता है। महावीर ने पूणिया श्रावक की सामायिक का दृष्टात देकर समता भाव और चित्त की निर्मल वृत्ति को ही प्रधानता दी है। हम चित्त के स्थान पर वित्त को प्रवान वनाये हुए हैं।

महावीर की सावना श्रम और स्वावलम्वन की साधना थी। उपसर्ग और परिपह की साधना थी। उसमे लोक पोडा की अनुभूति, समाज के पद-दलित, असहाय और विपन्न लोगो के प्रति मैत्री और करुणा की भावना थी। हमारी सावना सुख-सुविधा को साधना वनती जा रही है। उसमे लोकपीड़ा का भाव नही, स्वार्थ क्रीडा की प्रमुखता है, उपसर्ग-परिपह से सामना नही, सुख-सुविधाओं की चाह है। महावीर का अभिग्रह वधनों से मुक्त होने के लिए है, जो वधनो मे पड़े हैं उनको मुक्त करने के लिए है, चन्दना की वेड़ियो को काट-कर भावशुद्धि के आधार पर दासी वनी हुई नारी को तथाकथित महारानियो से अधिक गौरव और प्रतिष्ठा देने के लिए है, पर हमारा अभिग्रह परिग्रह को वढाने के लिए है, कीर्ति-कामना के पोपण के लिए है।

धर्म के क्षेत्र मे ही नही राजनैतिक स्तर पर विश्व-शान्ति के लिए कार्य-रत राष्ट्र भी वैचारिक परिग्रह से त्रस्त है। शस्त्रीकरण, गुटवन्दी, शीत युद्ध की लहर आदि सव मे परिग्रह वृत्ति ही मूल कारक है। आज व्यक्ति ही नही,

विश्व के राष्ट्र उपभोक्ता संस्कृति के दीवाने है और सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की शक्ति इन्द्रियों के विषय-सेवन के क्षेत्रों को विस्तृत करने और वैषयिक सुखों की मांग बढ़ाने में लगी हुई है। जब तक उपभोग के स्थान पर उपयोग दृष्टि का विकास नही होता, तब तक वस्तु, व्यक्ति और विचार तीनों स्तरों पर परिग्रह की जकड़ बढ़ती जायेगी।

जीवन-व्यवहार में अपरिग्रह सिद्धान्त को चारितार्थ करने के लिए इच्छाओं को नियन्त्रित करते हुए परिग्रह का परिमाण करना आवश्यक है। परिमाण से ज्यादा की प्राप्ति पर उसका अपने लिए नहीं वरन् समाज के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। यह दृष्टि विकसित होने पर शेष सृष्टि के साथ सहानुभूति, प्रेम, एकता और सेवा का भाव जागृत होता है। इस भावना के जागृत होने पर अहिसा, अनेकान्त और अनासक्ति की साधना का विकास स्वतः होता चलता है।

विचार और व्यवहार के स्तर पर अपरिग्रह भावना को पुष्ट और विकसित करने की दृष्टि से ही, अपरिग्रह साधना के अनन्य साधक परम श्रद्धेय जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के ६६वें दीक्षा वर्ष (दीक्षा संवत् १९७७ माघ शुक्ला द्वितीया) के अवसर पर यह ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्य श्री ज्ञान, दर्शन रूप स्वाध्याय एवं चारित्र रूप सामायिक साधना की प्रबल प्रेरणा देते हुए जनसाधारण को आत्मशक्ति के प्रकटीकरण का मार्ग प्रशस्त कर रहे है। उन्ही के तपःपूत, निस्पृही, तेजस्वी व्यक्तित्व को यह ग्रंथ समर्पित है।

यह ग्रथ दो खडों में विभक्त है। प्रथम खंड '**अपरिग्रह : विचार** से सम्बन्धित है। इसमें अपरिग्रह विचार के विविध पक्षो पर अधिकृत विद्वानों के ३५ निवध संकलित है। द्वितोय खड '**अपरिग्रह . व्यवहार**' से सम्बन्धित है। इसमें अपरिग्रह विचार के व्यावहारिक पक्ष को विश्लेषित करने वाले विविध आयामी ३० निबंध संकलित है। इन निबधो मे जो विचार व्यक्त किये गये है, वे आज के युग की समस्याओं व विचारधाराओं को जगह-जगह स्पर्श करते चलते है। अतः इनका स्वर तीखा एव समीक्षात्मक होना स्वाभाविक है। सिद्धान्त को व्यवहार में ढालने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर भी इन निबधों में विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। विचार-मंथन की दृष्टि से ये निबंध अपना विशेष महत्त्व और उपयोग रखते है। निबधों में प्रकट किये गये विचार लेखकों के अपने हैं और उनसे सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नही है।

स्थान-स्थान पर अपरिग्रह भाव को पुष्ट करने वाली बोध-कथाएँ, कविताएँ, गाथाएँ, सूक्तियाँ आदि दी गयी है।

जिन विद्वान् आचार्यो, मुनियों व लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस ग्रन्थ को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने मे हमारी सहायता की है, उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते है। जैन धर्म-दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् और अनुभवी साधक श्री कन्हैयालाल लोढा, अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण सस्थान, वजाज नगर, जयपुर का सामग्री-संकलन मे विशेष सहयोग मिला है अतः हम उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते है। सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल के पदाधिकारियों के हम विशेष आभारी है जिनके प्रयत्न से इस उपयोगी ग्रंथ के प्रकाशन की व्यवस्था संभव हो सकी।

आशा है, इस ग्रंथ का अध्ययन-मनन अपरिग्रह भाव को पुष्ट करने एवं लोक सेवा के मार्ग पर अग्रसर होने मे प्रेरक सिद्ध होगा।

सी-२३५ए,
तिलकनगर, जयपुर—३०२ ००४

—डॉ० नरेन्द्र भानावत



प्रथम खण्ड



अपरिग्रह : विचार

१

अपरिग्रह : मानव-जीवन का भूषण

☐ आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

हजारों धर्मोपदेशकों के उपदेश, प्रचारकों का प्रचार और राज्य के नवीन अपराध निरोधक नियमों के बावजूद भी जनता मे पाप क्यों नही कम हो रहे, लोभ को सब कोई बुरा कहते है फिर भी देखा जाता है—कहने वाले स्वयं अपने संग्रह को बढ़ाने की ओर ही दौड़ रहे है। ऐसा क्यों ? रोग को मिटाने के लिए उसके कारणों को जानना चाहिए।

पाप घटाने के लिये भी उसके कारणों को देखना आवश्यक है। शास्त्र में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि दस संज्ञाएँ बताई गई है। संसार के आबाल वृद्ध जीव मात्र इन संज्ञाओं से त्रस्त हैं। सामायिक के बाद, हम प्रतिदिन आलोचना करते हैं कि चार संज्ञाओं में से कोई संज्ञा की हो "तस्स मिच्छामि दुक्कड़" पर किसी संज्ञा में कमी नहीं आती। आहार, भय और मैथुन संज्ञा में अवस्था पाकर फिर भी कमी आ सकती है, पर लोभ-परिग्रह संज्ञा अवस्था जर्जरित होने पर भी कम नहीं होती। इसके लिये सूत्रकार ने ठीक ही कहा है—

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।"

लाभ वृद्धि के साथ लोभ भी बढ़ता है, इसीलिए तो अनुभवियों ने कहा है—"तृष्णैका तरुणायते", समय आने पर सब में जीर्णताजन्य दुर्बलता आती है, पर करोड़ों-अरबों वर्ष बीतने पर भी तृष्णा बूढ़ी नहीं होती बल्कि वह तरुण ही बनी रहती है।

लोभेच्छा की वृद्धि के, शास्त्र में अन्तरंग और बहिरंग दो कारण बताये है। लोभ, मोह या रतिराग का उदय एवं मूर्च्छा भाव आदि अन्तर के मूल कारण है। खान-पान, अच्छा रहन-सहन, यान-वाहन, भवन-भूषण आदि दूसरे के बढ़े-चढ़े परिग्रह को देखने-सुनने से लोभ भावना बढती है। परिग्रह का चिन्तन भी लोभ वृद्धि का प्रमुख कारण है। मेरे पास कौड़ी नहीं, स्वर्ण-रत्न के आभूषण नही और अमुक के पास हैं, इस प्रकार अपनी कमी और दूसरों की बढ़ती का चिन्तन करने से परिग्रह संज्ञा बढ़ती है।

परिग्रह घटाइये, सादगी बढ़ाइये

गॉव मे परिग्रह का प्रदर्शन कम है तो वहाँ वस्त्राभूषण आदि के संग्रह का नमूना भी अल्प दृष्टिगोचर होता है। शहर और महाजन जाति मे परिग्रह का प्रदर्शन अधिक है तो वहाँ पाप मानते हुए भी वस्त्राभूषण, धन-धान्य आदि का सग्रह अधिक दृष्टिगोचर होता है, क्योकि परिग्रह के उन साधनों से ही आदमी का मूल्याकन होता है। कितना ही व्रती, सेवाभावी, गुणी एव विद्वान् भी क्यों न हो, सादी वेश-भूषा में हो तो आदर प्राप्त नही करता, यदि बढ़िया वेश और उच्च स्तरीय आकर्षक रहन-सहन हो तो दर्शकजनों की दृष्टि मे बड़ा माना जाता है। यही दृष्टि-भेद सग्रह-वृत्ति और लोभ-वृद्धि का प्रमुख कारण है।

अपरिग्रह भाव को बढाने के लिए सामाजिक व्यवस्था और वाह्य वातावरण सादा एव प्रदर्शन रहित होना चाहिए।

आग्ल शासको की अधीनता से मुक्त होने को गाँधीजी ने सादा और विना प्रदर्शन का अल्प परिग्रही जीवन अपनाया था। बड़े-वडे धनी, उद्योगपति और अधिकारी भी उस समम सादा जीवन जीने लगे। फलस्वरूप उन दिनो सेवा और सेवावृत्ति को ऊँचा माना जाने लगा। लोगो मे न्यायनीति, सेवा और सदाचार चमकने लगा। आज फिर सामाजिक स्तर से देश को सादगी का विस्तार करना होगा, प्रदर्शन घटाना होगा। जब तक ऐसा नही किया जाय, तब तक परिग्रह का बढता रोग कम नही हो सकता।

प्रदर्शन करने वाले के मन मे ईर्ष्या, मोह और अहकार उत्पन्न होता है और दूसरो के लिये उसका प्रदर्शन, ईर्ष्या, हरणबुद्धि, लालच एव आर्त्त-उत्पत्ति मे कारण होता है, अत. प्रदर्शन को पाप-वुद्धि का कारण समझ कर त्यागना परिग्रह सज्ञा घटाने का कारण है। आज ससार मे परिग्रह की होड लगी हुई है। ऐसी परिस्थिति मे परिग्रह भाव घटाने मे निम्न भावनाएँ अत्यन्त उपयोगी हो सकती है—

१. परिग्रह भय, चिन्ता और चचलता का कारण एव क्षणभगुर है।
२. असग्रही वृत्ति के पशु-पक्षी मनुष्य की अपेक्षा सुखी और प्रसन्न रहते है।
३. परिग्रह मानव को पराधीन बनाता है, परिग्रही वाह्य पदार्थो के अभाव मे चिंतित रहता है।
४ परिग्रह की उलझन मे उलझे जीव को शान्ति नही मिलती।
५ सन्तोष ही सुख है। कहा भी है—

"गोधन, गजधन, रतन धन, कचन खान सुखान।
जव आवे सन्तोष धन, सव धन धूलि समान ॥"

६. जिसको चाह है, वह अरबों की सम्पदा पाकर भी दु खी है। चाह मिटने पर ही चिन्ता मिटती है। सन्तों ने ठीक ही कहा है—

"सन्तोषी सदा सुखी, दु खी तृष्णावान् ।"

संसार के अगणित पशु-पक्षी और कीट पतंगादि जीव, जो संग्रह नही करते, वे मानव से अधिक निश्चिन्त एवं शोक रहित है। संग्रहवान, आसक्त मानव से वह अधिक सुखी है जो अल्प संग्रही और आसक्ति रहित है। ससार की सारी संपदा किसी एक असंतोपी को मिल जाय तब भी उस लोभी की इच्छा पूर्ण नही हो सकती, क्योकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है। ज्ञानियों ने कहा है—मानव, इस नश्वर सम्पदा के पीछे भान भूलकर मत दौड़। यह तो पापी जीव को भी अनन्त बार मिल गई है। यदि सम्पदा ही मिलानी है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आत्मिक सम्पदा मिला, जो शाश्वत आनन्द को देने वाली है, अन्यथा एक लोकोक्ति में कहा गया है—

"सुत दारा, अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।
संत समागम, प्रभु कथा, दुर्लभ जग मे दोय ।।"

पैसे वाले बड़े नही, बडे है सद्गुणी, जिनकी इन्द्र भी सेवा करते हैं।

परिग्रह-मर्यादा का महत्त्व

परिग्रह-परिमाण पाँच अणुव्रतों मे अन्तिम है और चार व्रतों का संरक्षण करना एवं बढाना इसके आधीन है। परिग्रह को घटाने से हिसा, असत्य, अस्तेय, कुशील, इन चारों पर रोक लगती है। अहिसा आदि चार व्रत अपने आप पुष्ट होते रहते है। इस व्रत के परिणामस्वरूप जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है। निश्चितता और निराकुलता आती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने से धर्म-क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है। इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है। आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, इस व्रत के पालन न करने का ही परिणाम है। आर्थिक वैषम्य इस युग की एक बहुत बड़ी समस्या है। पहले बडे-बड़े भीमकाय यंत्रो का प्रचलन न होने के कारण कुछ व्यक्ति आज की तरह अत्यधिक पू जी एकत्र नही कर पाते थे; मगर आज यह बात नही रही। आज कुछ लोग यन्त्रों की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते है तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने से भी वचित रहते है। उन्हे पेट भर रोटी, तन ढकने को वस्त्र और औषध जैसी चीजे भी उपलब्ध नही। इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादो का जन्म हुआ है। समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल है। प्राचीन काल मे अपरिग्रहवाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था। इस वाद की विशेपता यह है कि यह धार्मिक रूप मे स्वीकृत

है। अतएव मनुष्य इसे बलात् नही, स्वेच्छा पूर्वक स्वीकार करता है। साथ ही धर्मशास्त्र महारंभी यन्त्रों के उपयोग पर पाबंदी लगा कर आर्थिक वैपम्य को उत्पन्न नही होने देने की भी व्यवस्था करता है। अतएव अगर अपरिग्रह व्रत का व्यापक रूप में प्रचार और अंगीकार हो तो न अर्थ वैपम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे और न वर्ग संघर्ष का अवसर उपस्थित हो। मगर आज की दुनिया धर्मशास्त्रों की बात सुनती कहाँ है। यही कारण है कि संसार अशान्ति और संघर्ष की क्रीड़ा भूमि बना हुआ है और जब तक धर्म का आशय नही लिया जायगा, तब तक इस विषम स्थिति का अन्त नही आएगा।

देशविरति धर्म के साधक (श्रावक) को अपनी की हुई मर्यादा से अधिक परिग्रह नही बढाना चाहिए। उसे परिग्रह की मर्यादा भी ऐसी करनी चाहिए कि जिससे उसकी तृष्णा पर अकुश लगे, लोभ में न्यूनता हो और दूसरे लोगों को कष्ट न पहुँचे।

सर्वविरत साधक (श्रमण) का जीवन तो और भी अधिक उच्चकोटि का होता है। वह आकर्षक शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श पर राग और अनिष्ट शब्द आदि पर द्वेष भी नहीं करेगा। इस प्रकार के आचरण से जीवन मे निर्मलता बनी रहेगी। ऐसा साधनाशील व्यक्ति चाहे अकेला रहे या समूह में रहे, जंगल में रहे, या समाज मे रहे, प्रत्येक स्थिति मे अपना व्रत निर्मल बना सकेगा।

स्वाध्याय की भूमिका

परिग्रह वृत्ति को घटाने में स्वाध्याय की असरकारी भूमिका होती है। स्वाध्याय वस्तुतः अन्तर में अलौकिक प्रकाश प्रकट करने वाला है। स्वाध्याय आत्मा में ज्योति जगाने का एक माध्यम है, एक प्रशस्त साधन है, जिससे प्रसुप्त आत्मा जागृत होती है, उसे स्व तथा पर के भेद का ज्ञान होता है। स्वाध्याय से आत्मा में स्व-पर के भेद के ज्ञान के साथ वह स्थिति उत्पन्न होती है, निरन्तर वह भूमिका बनती है, जिसमे आत्मा स्व तथा पर के भेद को समझने मे प्रति-क्षण जागरूक रहती है। संक्षेप में कहा जाय तो स्वाध्याय के द्वारा स्व-पर के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रवुद्ध आत्मा को स्व तथा पर के भेद का ज्ञान प्राप्त हो गया, उसकी पौद्गलिक माया से ममता स्वतः ही कम हो जायगी।

ममता घटने पर दान की प्रवृत्ति

स्व-पर के भेद का बोध हो जाने की स्थिति मे ही अपने शरीर पर साधक की ममता कम होगी। शरीर एवं भोज्योपभोज्यादि पर ममता कम होने पर वह तप करने को उद्यत होगा। भौतिक सामग्री पर ममता घटेगी, तभी व्यक्ति के अन्तर्मन में दान देने की प्रवृत्ति बलवती होगी। ममता घटेगी

तभी सेवा की वृत्ति उत्पन्न होगी, क्योंकि ये सारी चीजें ममता से सम्बन्धित है। आलोचना का व्यक्ति के स्वयं के जीवन-निर्माण से सम्बन्ध है। आलोचना वस्तुतः व्यक्ति के स्वयं के जीवन निर्माण का प्रमुख साधन है, जबकि दान स्व और पर दोनों के जीवन-निर्माण का साधन है। दान का सम्बन्ध दूसरे लोगों के साथ स्वधर्मी बन्धुओ के साथ आता है और इसमें स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण का दृष्टिकोण अधिक होता है। इसका मतलब यह नही है कि दान देते समय दानदाता द्वारा स्व-कल्याण को पूर्णतः ठुकरा दिया जाता है। क्योंकि पर-कल्याण के साथ स्व-कल्याण का अविनाभाव सम्बन्ध है। पर-कल्याण की भावना जितनी उत्कृष्ट होगी, उतना ही अधिक स्व-कल्याण स्वतः ही हो जायगा। जो स्व-कल्याण से विपरीत होगा, वह कार्य व्यावहारिक एवं धार्मिक, किसी पक्ष में स्थान पाने लायक नही है।

तो दान की यह विशेषता है कि वह स्व और पर दोनों का कल्याण करता है। दान देने की प्रवृत्ति तभी जागृत होगी जब कि मानव के मन में अपने स्वत्व की, अपने अधिकार की वस्तु पर से ममता हटेगी। ममत्व हटने पर जब उसके अन्तर में सामने वाले के प्रति प्रमोद बढ़ेगा, प्रीति बढेगी और उसे विश्वास होगा कि इस कार्य मे मेरी सम्पदा का उपयोग करना लाभकारी है, कल्याणकारी है, तभी वह अपनी सम्पदा का दान करेगा।

किसान अपने घर में संचित अच्छे बीज के दानों को खेत की मिट्टी में क्यों फैंक देता है ? इसीलिये कि उसे यह विश्वास है कि यह बढ़ने-बढाने का रास्ता है। अपने कण को बढ़ाने का यही माध्यम है कि उसे खेत में डाले। जब तक बीज को खेत मे नही डालेगा, तब तक वह बढेगा नही। पेट में डाला हुआ कण तो खत्म हो जायगा, जठराग्नि से जल जायगा किन्तु, खेत में, भूमि मे डाला हुआ बीज फलेगा, बढ़ेगा। ठीक यही स्थिति दान की भी है। थोडा सा अन्तर अवश्य है।

बीज को खेत मे डालने की अवस्था में किसान की बीज पर से ममता छूटी नही है। बीज को खेत मे फैंकने में अधिक लाभ मानता है, इसलिये फैंकता है। पर हमारे धर्म पक्ष मे दान की इस तरह की स्थिति नही है। दान की प्रवृत्ति मे जो अपने द्रव्य का दान करता है, वह केवल इस भावना से ही दान नही करता कि उससे उसको अधिक लाभ होगा, बल्कि उसके साथ यह भावना भी है कि—यह परिग्रह दुःखदायी है, इससे जितना अधिक स्नेह रखूँगा, मोह रखूँगा, यह उतना ही अधिक क्लेशवर्द्धक तथा आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान का कारण बनेगा।

'स्थानांग' सूत्र मे श्रावक के जो तीन मनोरथ बताये गये है, उनमे पहले मनोरथ में परिग्रह-त्याग को महती निर्जरा का महान् कारण बताते हुए उल्लेख किया गया है—

"तिहि ठाणेहि समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा-कया ण अहं अप्पं वा बहुअं वा परिग्गहं परिचइस्सामि,....एवं समणसा सवयसा सकायसा जागरमाणे समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।"

अर्थात्—तीन प्रकार के मनोरथों की मन, वचन और क्रिया से भावना भाता हुआ श्रावक पूर्वोपार्जित कर्मो को बहुत बड़ी मात्रा में नष्ट और भवाटवी के बहुत बड़े पथ को पार कर लेता है। परिग्रह घटाने सम्बन्धी मनोरथ इस प्रकार हैं—अरे! वह दिन कब होगा, जब मैं अल्प अथवा अधिकाधिक परिग्रह का परित्याग कर सकूँगा।

'स्थानाग' सूत्र मे जिस प्रकार श्रावक के तीन मनोरथों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार साधु के तीन मनोरथों का भी उल्लेख है। गृहस्थ का जीवन व्रत-प्रधान नही, शील प्रधान और दान-प्रधान है। साधु का जीवन संयम-प्रधान एवं तप-प्रधान है। गृहस्थ के जीवन की शील और दान ये—विशेषताएँ है। गृहस्थ यदि शीलवान् नही है तो उसके जीवन की शोभा नही। जिस प्रकार शीलवान् होना गृहस्थ जीवन का एक आवश्यक अग है, उसी तरह अपनी सचित सम्पदा मे से उचित क्षेत्र में दान देना, अपनी सम्पदा का विनिमय करना और परिग्रह का सत्पात्र मे व्यय करना, यह भी गृहस्थ-जीवन का एक प्रमुख भूषण और कर्तव्य है।

धर्मस्थान में अपरिग्रही बनकर आना चाहिए

धर्मस्थान में आने वाले भाई-बहिनों से यह कहना है कि सबसे पहले ध्यान यह रखा जाय कि अपरिग्रहियो के पास जाते है तो वे ज्यादा-से-ज्यादा अपरिग्रहियो का रूप धारण करके जाये। हम लोग क्या है? अपरिग्रही। हमारे पास सोने का कन्दोरा है क्या? नही, बढिया सूट है क्या? नही। हमारे पास पैसा होने की शंका है क्या? नही, हमारे पास सिहासन भी रजत का, सोने का, हीरा-मोती जटित है क्या? नही। जैन साधु अपने पास एक फूटी कौडी भी नही रख सकता यहाँ तक कि चश्मे की डण्डी मे किसी धातु की कील भी हो तो हमारे काम नही आयेगा। जब तक दूसरा नही मिले, तब तक भले ही रखे।

आपके सन्त इतने अपरिग्रही और आप धर्मस्थान में आवे तो सोचे कि बढिया सूट पहन कर चलें। बाई सोचती है कि सोने के गोखरू हाथों मे पहन ले, सोने की लड गले मे डाल ले, सोने की जजीर कमर मे बांध लें, यहाँ तक कि माला के मनके भी लकडी चन्दन के क्यो हो, चांदी के दानों की माला बनवा ले।

इस प्रकार आप धर्मक्रिया मे परिग्रह रूप धारण करेगे, जरा-जरा सी लेने-देन की सामग्री मे परिग्रह से मूल्याकन होगा तो चिन्ता पैदा होगी या

नहीं ? चोरी होगी तो आप कितनों को लपेटे मे लेंगे ? वेतन पर काम करने वाले कार्यकर्ता भी लपेटे में आयेंगे, कमेटी के व्यवस्थापक भी लपेटे में आयेंगे।

दूसरे लोग कहें न कहे लेकिन हम अपरिग्रही हैं, इसलिए कहता हूँ कि अपरिग्रह के स्थान पर तो ज्यादा से ज्यादा अपरिग्रह रखने की ही भावना आनी चाहिए।

अपरिग्रह : मानव-जीवन का भूषण

परिग्रह की ममता कब कम होगी ? जबकि स्व का अध्ययन करोगे। अपने आप को समझ लोगे तो जान लोगे कि सोने से आदमी की कीमत नही है। आप समझते है कि गले में सोने की लड़ होगी तो लोग सेठ समझेंगे। कई युवक और बुजुर्ग बैठे हैं जिनके गले में सोने की लड़ नही है, कुर्ता या कमीज पहन कर चले आते हैं तो क्या उनका सेठाइपना खत्म हो जायेगा ? सेठ नहीं समझकर यह समझेंगे कि कोई मुनीम है ? चार अगुलियो मे चार सोने की बींटिया पहन रखी है और सन्तों की अगुलियो मे एक भी बीटी नही है तो क्या संतों मे सन्तपना नहीं होगा ? होगा।

एक बाई की भावना अठाई करने की है। इस चातुर्मास में नही होगी तो कब होगी ? लेकिन घरवाला कहता है कि अभी मत कर। अभी मेरी हैसियत खर्चा करने की नही है।

एक बाई से यह पूछा कि आप व्याख्यान मे क्यों नही आती ? वह कहने लगी—"बापजी ! जी तो घणो ही टूटे है कि व्याख्यान मे आऊँ पण काई करूँ, अकेली हूँ पैरण ने जेवर नही है। बिना दागीना पहने जाऊँ तो घर की इज्जत जावे।" आपने इस तरह का वातावरण समाज मे बना रखा है। इस वातावरण के कारण व्याख्यान मे आने से वंचित रहना पड़ता है। यह गलत रूप है। सोने के आभूषणो से कीमत नही, लेकिन आत्मा की कीमत है सदाचार से, प्रामाणिकता से, सद्गुणो से। सत्य और क्रियावादी होना भूषण है। दान चाहे देने के लिए पास मे कुछ भी नही हो, जो भी आवे उसका योग्यता के कारण सम्मान करना चाहिए। तिरस्कार करके नही निकालना यह हाथ का भूषण है। गुणवान को नमस्कार करना यह सिर का भूषण है। परिग्रह को घटाकर सत्सग में जाना, कही किसी की सहायता के लिए जाना यह पैरो का भूपण है। सत्सग मे ज्ञान की प्राप्ति होगी।

मनुष्य का शरीर यदि सोने से लदा हुआ है लेकिन वह सद्गुणी नही है तो निन्दनीय है।*



*आचार्य श्री के प्रवचन से श्री सजीव भानावत द्वारा सम्पादित।

२

इच्छा-सरोवर और परिमाण की पाल

☐ आचार्य श्री नानालालजी म० सा०

पाप और साँप दोनो ही जगत् में भयंकर माने जाते है। दोनों से बचकर रहना विवेकी मनुष्य के लिये अनिवार्य है। प्रभु महावीर ने जिन महापापो से बचने के लिये व्रतों का विधान किया है, उनमें पाँचवां व्रत परिग्रह से विरत होना बताया है। परिग्रह एक प्रकार का पाप है, क्योकि वह मानव को पतन के गहरे गर्त में डाल देता है। परिग्रह वह भयंकर ग्राह है, जिसने समस्त संसार को बुरी तरह पकड़ रखा है। यह वह बन्धन है, जिससे सारी दुनिया बंधकर परेशान हो रही है। आत्मिक शान्ति और विश्व शान्ति के लिये यह अत्यन्त बाधक और घातक है। इसीलिये जैन धर्म ने आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से परिग्रह को पाप बताकर अपरिग्रह को व्रतो मे स्थान दिया है।

परिग्रह पाप के दो रूप है—इच्छा और मूर्च्छा। इच्छा मे अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना होती है और मूर्च्छा मे जो प्राप्त है उस पर तीव्र ममत्व भाव या आसक्ति होती है। जगत् में इच्छा रूप परिग्रह का विस्तार बहुत अधिक है। क्योंकि इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त और असीम है। इच्छाओं का कभी अन्त नही आता। मनुष्य की आयु का तो एक दिन अन्त आ जाता है परन्तु इच्छाओं का सहसा अन्त नही होता। मनुष्य की देह बूढ़ी हो जाती है, परन्तु इच्छा, तृष्णा और आशा कभी बूढ़ी नही होती। इच्छाएँ पानी मे उठने वाली तरंगो के समान है। एक इच्छा पूरी नहीं होती कि सौ दूसरी इच्छाएँ पैदा हो जाती है।

जिस प्रकार स्थिर शान्त सरोवर मे कोई व्यक्ति ककर या मिट्टी के ढेले फेंकता है तो तुरन्त उसमे लहरे उठने लगती है। उस ककर या मिट्टी के ढेले के वजन और उसे फेंकने की गति के अनुरूप ही तीव्र-मंद लहरे उठा करती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्योंही कोई इच्छा प्रविष्ट होती है त्योंही उसकी तीव्र-मन्द गति और प्रवलता-निर्वलता के अनुरूप मानस में लहरें उठने लगती है। अर्थात् वह मूल इच्छा अनेक छोटी-मोटी तरगो को जन्म देती है। इस प्रकार शान्त एवं स्थिर मन-मस्तिष्क मे तूफान उठने लगता है, हलचल मच जाती है, वह अशान्त और चंचल हो जाता है।

मनुष्य की असीमित इच्छाएँ सदा से सघर्ष का कारण रही है। दुनिया में होने वाले भीपण महायुद्धो के मूल में ये ही उद्दाम इच्छाएँ रही हुई है। चाहे

वह महाभारत का युद्ध हो, चाहे वह कोणिक-चेड़ा का संग्राम हो, चाहे आज के युग में लड़े गये विश्व युद्ध हो - सबके मूल में धन और सत्ता की उद्दाम लालसा, असीम अभिलाषा और अमर्यादित इच्छाएँ हैं। लाखों लोगों की हत्या, भीषण नर-सहार, लूटपाट, चोरी, डकैती, छल-कपट, बेईमानी आदि सब पापों के मूल में परिग्रह का पिशाच काम कर रहा है। अनियंत्रित इच्छाओं की बदौलत ही ससार में सारे पाप हो रहे है। 'प्रश्न व्याकरण' में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

"परिग्रह के कारण लोग हिसा करते है, असत्य भाषण करते है, बड़ी-बड़ी चोरियाँ, डकैतियाँ, परिग्रह के कारण होती हैं, मिलावट, तोल-माप की गड़बड़ी, जालसाजी, व्यभिचार, अपहरण, बलात्कार आदि पाप परिग्रह के कारण होते है।"

इस प्रकार शास्त्रकारों ने समस्त पापों का उत्पत्ति स्थान परिग्रह को बताया है। कोई भी ऐसा पाप कर्म नहीं है जो परिग्रह के निमित्त से न होता हो।

पापों का केन्द्र : परिग्रह

परिग्रह पाप-बन्ध का कारण है। 'भगवती' के दूसरे शतक में गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान महावीर ने कहा— गौतम ! इच्छा, मूर्च्छा और गृद्धि से क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का तादात्म्य सम्बन्ध है। जहाँ परिग्रह होता है वहाँ क्रोधादि चार कषाय अवश्य होते हैं और जहाँ क्रोधादि चार कषाय होते है, वहाँ परिग्रह आदि पाप अवश्य होते है। इस प्रकार परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ इन पापानुबन्ध-चतुष्टय का जनक है। परिग्रह समस्त पापों का केन्द्र है। समस्त पाप परिग्रह से उत्पन्न होते है।

अपनी निकृष्ट इच्छाओ, गलत महत्त्वाकांक्षाओं एवं वस्तु के प्रति आसक्ति तथा मोह-ममता को लेकर ससार के बड़े-बड़े पाप होते है। जहाँ इच्छा-मूर्च्छा नही होती या सीमित होती है, वहाँ प्रायः पाप कर्म नहीं होता।

संग्रह-बुद्धि : विषमता का कारण

पदार्थो के प्रति इच्छा और मूर्च्छा होती है, तब उनको संग्रह करने की बुद्धि होती है। इच्छा-मूर्च्छा होने से उस पदार्थ की ओर से संतुष्टि नही होती, भले ही वह पदार्थ उसे चाहे जितनी संख्या में या चाहे जितनी मात्रा में मिल जाए, तृप्ति उसे नही होती। संसार में आज जो दुःख की प्रचुरता है वह प्रायः संग्रह-बुद्धि का फल है।

मानव शरीर तब तक स्वस्थ रहता है जब तक उसके हर अवयव को रक्त का प्रवाह मिलता रहता है। जब शरीर के किसी भी भाग में रक्त का प्रवाह रुक जाता है, तब शरीर में दर्द होने लगता है। क्या आज के समाज का दर्द भी यही नही है ? जब तक गृहस्थ समाज के हर अवयव तक धन का प्रवाह पहुँचता है तब तक समाज पीड़ित नही होता। जब यह धन-प्रवाह कुछ लोगो तक पहुँच कर रुक जाता है या एक के पास जमा हो जाता है तो समाज मे पीड़ा का प्रारम्भ हो जाता है। आज के समाज की पीड़ा है - धन का कुछ हाथो में एकत्रित हो जाना।

यह मानना पडेगा कि एक ओर पहाड़ होगा तो दूसरी ओर खाई होगी। सम्पत्ति जब कुछ ही स्थानों पर संग्रहीत होगी तो दूसरे लोगों को उससे वचित रहना पड़ेगा। सामाजिक विषमता का यही कारण है। एक ओर पदार्थों का अम्बार लगा है, इनको इतने पदार्थो की आवश्यकता नही, दूसरी ओर ऐसे लोग भी है, जिनके पास उन पदार्थो का अभाव है, वे उन पदार्थो के उपभोग से वचित है। कुछ लोगों के पास धन का अत्यधिक संग्रह है, जबकि दूसरे लोग एक-एक पैसे के लिये तरस रहे है। एक ओर अत्यधिक अन्न कोठारों मे जमा है, जबकि दूसरी ओर अन्न के दाने के अभाव मे हाहाकार मचा हुआ है। एक ओर सन्दूको मे वस्त्र पड़े सड रहे है, उन्हे दीमक खा रहे है, दूसरी ओर लोग सर्दी से ठिठुर रहे है। कुछ के पास सीमा से अधिक जमीन है, कुछ लोगों के पास जमीन ही नही है। इस प्रकार की विषमता सग्रहचोरी या जमाखोरी की देन है।

सग्रह से मुख्यतया दो बुराइयाँ जन्म लेती है—विलास और क्रूरता। जब संग्रह के रूप मे परिग्रह बढ जाता है तो आलस्य, अकर्मण्यता, दूसरे के श्रम पर गुलछर्रे उड़ाने की वृत्ति, विलासिता आदि दुर्गुण आ जाते है। परिग्रही व्यक्ति चाहता है कि उसके मार्ग मे कोई बाधक न बने। दूसरे चाहे मरे या जीये, उसे कोई मतलब नही होता। उसे दूसरो के सुख-दुःख की जरा भी परवाह नही होती। रोम का सम्राट नीरो इसी प्रकार का क्रूर व्यक्ति था। कहते है कि रोम जल रहा था तब भी वह अपने ही मौज-शौक में लीन था।

संग्रह वुद्धि के पीछे मूल आशय यह रहता है कि वे सग्रहीत पदार्थ व्यक्ति को सुख देते है। परन्तु यह धारणा निर्मूल और भ्रान्तिपूर्ण है। तत्त्वदर्शी पुरुषो का चिन्तन और अनुभव इससे विपरीत है। वे तो कहते है कि परिग्रह अनर्थो का मूल है, अशान्ति का कारण है, दुःख रूप है, बन्धन रूप है, पाप का कारण है, दुर्गति का हेतु है। उन्होंने धन और परिग्रह को अभिशाप माना है। कहा है—

"दु.खमेव धन-व्याल विष विध्वस्त चेतसाम् ।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ।।"

धन रूपी विषधर के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगों को सदैव दुःख ही दुःख रहता है। उन्हें धनोपार्जन में दुःख होता है, रक्षा करने में भी दुःख होता है और धन के नाश या व्यय में भी दुःख होता है। महाकवि शेक्सपियर ने कहा है—

"मनुष्यों की आत्मा के लिये सोना निकृष्टतम विष है। इस दुःखमय विश्व में धन का विष अन्य विषों की अपेक्षा अधिक मारक और संहारक होता है।"

महान् दार्शनिक लूथर ने कहा है कि—हे परमात्मा ! मैं तेरा आभारी हूँ कि जो तूने मुझे निर्धन बनाने की कृपा की। ऐसा न करता तो मुझे तेरी उपस्थिति का भान न होता।

संसार का धनकुबेर हेनरी फोर्ड ने अपनी डायरी में लिखा है—धन का अभिशाप तो मै इसी जीवन में भोग रहा हूँ। धन की अधिकता के कारण सारा जीवन अनियन्त्रित वासनाओं और कामनाओं में बीतने से आज मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि विपुल सम्पत्ति के होते हुए भी मुझे चाय के अतिरिक्त और कुछ पी लेने के लिये डॉक्टरों ने मना कर दिया है।

अत्यधिक संग्रह करने के कारण अनेक प्रसंगों में व्यक्ति को जन-आक्रोश का शिकार होना पड़ता है। उसकी जिन्दगी और धन-सम्पत्ति सदा संकट में रहती है। किसी भी क्षण वह लूट ली जा सकती है, राज्य-शासन द्वारा छीन ली जा सकती है या अन्य तरीको से उस व्यक्ति को उससे वंचित होना पड़ता है। अतएव परिग्रह को, धन-सम्पदा को सुख का कारण समझना भ्रान्ति ही है। भगवान् महावीर तो स्पष्ट फरमाते है कि—

"वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते"

प्रमत्त व्यक्ति धन-सम्पदा को त्राण रूप, शरण रूप मानता है परन्तु वह धन उसके लिये त्राण रूप नही होता।

इसलिये यह मानना कि धन या परिग्रह मनुष्य को सुखी बनाता है, बहुत बड़ी भ्रान्ति है। यदि ऐसा होता तो सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर देव न राज्य-पाट, धन वैभवादि छोड़ते और न अपरिग्रह का उपदेश ही देते।

इच्छा-सरोवर और परिमाण की पाल

बिना ओर-छोर वाले इच्छा के सरोवर की अनिष्टकारिता और अरमणीयता को दूर करने के लिये उसके चारों ओर परिमाण की पाल बाँध देनी चाहिये। ऐसा करने से उस सरोवर की अनिष्टकारिता भी दूर हो जाती है

और उसके स्वरूप मे रमणीयता भी आ जाती है। इसीलिये भगवान् महावीर ने परिग्रह की अनिष्टता को दूर करने के लिये श्रावको को इच्छा विधि परिमाण करने का निर्देश और उपदेश दिया है।

प्रभु महावीर द्वारा श्रावकों के लिये उपदिष्ट इच्छा परिणाम व्रत का आश्रय लेने से परिग्रह की विषाक्तता कम हो जाती है। यह वह मणि है जो परिग्रह के विष को दूर कर देती है। इस व्रत को स्वीकार करने से गृहस्थ श्रावक का कोई भी व्यावहारिक कार्य रुकता नही, न विकास कार्य मे रुकावट ही होती है, बल्कि आत्म-चिन्तन, भगवद्भक्ति, धर्म ध्यान आदि कार्य निश्चिन्तता-पूर्वक कर सकता है। वह निराकुलता के साथ गार्हस्थ्य जीवन सुख-शान्तिपूर्वक चला सकता है। इच्छाओ और तृष्णाओं के भार से आक्रान्त व्यक्ति का जीवन अशान्त, चिन्तातुर और मशीन की तरह व्यस्त बना रहता है परन्तु जिसने इच्छाओ और तृष्णाओ पर परिमाण की पाल द्वारा नियन्त्रण कर लिया हो, वह व्यक्ति उक्त सभी परेशानियो से बच जाता है और अत्यन्त सुख शान्तिपूर्ण निराकुलतामय जीवन आनन्दपूर्वक जीता है। अमर्यादित इच्छाओ वाला व्यक्ति न तो शान्ति से खा-पी सकता है, न निश्चिन्तता से जीवनयापन कर सकता है और न प्रभु भक्ति या आत्म कल्याण ही कर सकता है। उसके पास सारे ससार का वैभव आ जाए तो भी वह अशान्त ही बना रहेगा। इस अशान्ति को हटाने का एक ही मार्ग है और वह है—इच्छाओ का परिमाण करना। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार कर लेने से सब प्रकार की अशान्ति दूर हो जाती है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला महा परिग्रह से बच जाता है। क्योंकि उसने इच्छाओं को सीमित कर दिया है। इस कारण जितने अंश मे उसकी इच्छा शेष है, उतने अंश के परिग्रह के सिवाय शेष समस्त परिग्रह से वह निवृत्त हो जाता है। उसे सम्पूर्ण परिग्रह की क्रिया नही लगती, अपितु जितने अंश में परिग्रह रहा है उसकी ही क्रिया लगती है। इसलिये वह महापरिग्रही न रहकर अल्प परिग्रही हो जाता है। जितना परिग्रह शेष है, उसमें भी वह जल-कमलवत निर्लिप्त रहता है तो उसी भव मे, नही तो सात-आठ भवों मे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यद्यपि उसने पूर्णतया परिग्रह नही त्यागा है तथापि आंशिक रूप से परिग्रह त्याग एवं इच्छा परिमाण किया है, अतः उतने अशो मे वह जन्म-मरण के कष्टो से छूट जाता है, नीच गति का पथिक होने से बच जाता है, या तो वह सुगति मे जाता है या मुक्ति पथ का पथिक हो जाता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति कभी इस बात से चितित या दुःखी नही होता कि उसकी वस्तु कोई छीन लेगा, या नष्ट कर देगा। वस्तुओ के प्रति उसकी आसक्ति सहज रूप से कम हो जाती है अतः उसके लिये दुःख का कोई कारण नहीं रहता। इसके विपरीत महापरिग्रही व्यक्ति मृत्यु के

समय या पुण्य की हीनता से उन वस्तुओं को छूटती हुई जानकर घोर कष्ट का अनुभव करता है। शास्त्र के कथनानुसार महापरिग्रही को मरते समय आर्त्त-रौद्र ध्यान आता है, जो दुर्गति का कारण है। इच्छा परिमाणव्रती श्रावक के पास ऐसा दुःख कभी नही फटकता।

एक सघन वृक्ष है। उसका सहारा एक बन्दर भी लेता है और पक्षी भी। पक्षी अपने पखो के आश्रय पर रहता है, वृक्ष के साथ उसका लगाव नही होता, अतएव वृक्ष के गिर पड़ने पर पक्षी को दुःख नही होता परन्तु बन्दर वृक्ष को अपना मानकर रहता है, अतएव वृक्ष के गिरने से बन्दर को बहुत दुःख होता है। यही अंतर इच्छा परिमाण व्रतधारी श्रावक मे और व्रत न लेने वाले परिग्रही में होता है। इच्छा परिमाण करने वाले को अपनी मर्यादा से गृहीत पदार्थों का आधार छूट जाने पर भी पक्षी की तरह दुःख नहीं होता क्योंकि वह उन पदार्थो पर भी उतनी ममता नही रखता जिससे दुःख हो। इच्छा परिमाण न करने वाले को पदार्थों के छूट जाने पर बन्दर की तरह बहुत दुःख होता है।

इच्छा परिमाण व्रत

इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है—धन-धान्यादि पदार्थों की इच्छा को मर्यादित करना, सीमित करना। सम्पूर्ण अपरिग्रह व्रत को अंगीकार करने वाला तो संसार के समस्त पदार्थों पर से इच्छा और मूर्च्छा का त्याग करता है लेकिन इच्छा परिमाण व्रतधारी को संसार के समस्त पदार्थों पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग नही करना पड़ता। उसे उन्हीं पदार्थों पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग करना पडता है जो पदार्थ महा परिग्रह मे माने जाते है या जिन पदार्थों की इच्छा निकृष्ट है, दूसरों के लिये घातक है।

इच्छा परिमाण व्रत के ग्रहणकर्ता को इस बात का संकल्प करना होता है कि वह इन-इन पदार्थो से अधिक पदार्थो पर स्वामित्व का ममत्व नहीं रखेगा, न उन पदार्थो के अतिरिक्त किसी पदार्थ की इच्छा करेगा। आंशिक रूप से परिग्रह से विरत होकर महापरिग्रही न होने की जो प्रतिज्ञा ली जाती है, उसे भी इच्छा परिमाण व्रत कहते है।

इच्छा परिमाण व्रत का उद्देश्य दुनिया भर के समस्त पदार्थों की विस्तृत इच्छाओं से अपने मन को खीचकर एक सीमित दायरे में कर लेना है। इच्छा परिमाण में मर्यादा जितनी कम होगी उतना ही दुःख और संसार-भ्रमण कम होगा। क्योंकि उसका ध्येय तो एक दिन परिग्रह या इच्छा का सर्वथा त्याग करने का होता है। वह अपनी मंजिल तक तभी पहुँच सकता है, जब इच्छा-मूर्च्छा को न्यून से न्यूनतम कर लेगा। श्रावक का उद्देश्य इच्छा और मूर्च्छा

के साथ-साथ आवश्यकताओं में भी कटौती करना है, तभी वह एक दिन निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ की मंजिल पर पहुँच सकेगा।

जो व्यक्ति संसार के समस्त पदार्थों से अपना ममत्व हटा लेता है और केवल आत्म-साधना के लिये जीवन-निर्वाह हेतु अपनी कल्प मर्यादा के अनुसार अल्प से अल्प, वाह्य साधन ग्रहण करता है वह अपरिग्रही है। अपरिग्रही के लिये मूर्च्छा का सर्वथा त्याग आवश्यक है। साधु वस्त्र, पात्र आदि रखते हुए भी उसमें मूर्च्छा न होने से अपरिग्रही कहे जाते है। जैन धर्म के अनगार साधुओं के लिये सर्वथा अपरिग्रही होना आवश्यक बताया है। गृहस्थो के लिये भी परिग्रह की मर्यादा करने और उत्तरोत्तर परिग्रह को कम करने का व्रत बताया है, यही परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है।

पाँच विक्षेप

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में इस परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच विक्षेप बताये हैं—

"अतिवाहनाति संग्रह-विस्मय लोभातिभार वहनानि।
परिमित परिग्रहस्य विक्षेपा पंच लक्ष्यन्ते ।।

अर्थात्—अतिवाहन, अति सग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभार वहन ये पाँच परिग्रह परिमाण के विक्षेप है—अन्तराय है।

जिस पुरुष के पास वाहन बहुत हों वह उन्हे छोडने या मर्यादित करने में हिचकिचाता है। इसी प्रकार अति संग्रह भी व्रत में विक्षेप डालता है। अति संग्रह के कारण मनुष्य त्याग की ओर झुकने में हिचकिचाता है। इसी प्रकार चक्रवर्ती, धनकुबेर या वैभव सम्पन्न की ऋद्धि और ठाठ-बाट देखकर विस्मय में पड़ा हुआ व्यक्ति सहसा परिग्रह की मर्यादा करने से कतराता है। जिसकी लोभ वृत्ति बढी हुई है, वह भी परिग्रह की सीमा करने मे झिझकता है, तथा जो आदमी अनेक प्रकार की जिम्मेदारियाँ ओढ लेता है या किसी प्रकार के एहसान के बोझ से दबा है, वह भी परिग्रह परिमाण करने में आनाकानी करता है अथवा जिसका जीवन अत्यन्त खर्चीला है, वह उस खर्च की पूर्ति हेतु परिग्रह मे वृद्धि करेगा, घटाएगा नही अतः व्रतधारी का जीवन सरलता, सादगी और मितव्ययिता से ओतप्रोत होना चाहिये। इन पाँच विक्षेपों से स्वय को बचाकर चलना चाहिये।

सच्चा गृहस्थ अल्प आरम्भी और अल्प परिग्रही होता है। उसकी धन

लोलुपता इतनी बढ़ी हुई नहीं होती कि वह उसके पीछे न्याय-नीति और धर्म को हार जाय। इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए श्रावक को परिग्रह का परिमाण करना चाहिये। कहा है—

"अमरा किंकरायन्ते संतोषो यस्य भूषणम्"

संतोषी के लिये देव भी किंकर तुल्य है।

यह गृहस्थ का पाँचवा अणुव्रत है। इसका निरतिचार पालन करने से उद्भूत शान्ति, निराकुलता और आनन्द की अनुभूति के साथ आत्मा का परम कल्याण होता है।



इच्छा रा दूहा

'भानावत' मन-लालसा, रसना तणो सभाव।
चावै कतरो रस चखै, रहै अभाव अभाव॥ १॥

'भानावत' धापै नहीं, मन मापै आकास।
जतरो पाणी दो अनै, वतरी जायै प्यास॥ २॥

ज्यूं ज्यूं इच्छा पूरवै, नव नव वधै अनेक।
एक बीज सूं रूंख ज्यूं, धारै अगणित भेख॥ ३॥

इच्छा कामण नित सजै, पिया मिलन रै काज।
नय-नच नखरा देख नै, साजन जावै भाज॥ ४॥

नव गैणा नव वेस धर, इच्छा री गणगौर।
ईसर पूजै रात-दिन, पण न मिले सुख-कोर॥ ५॥

इच्छा आंधी बावड़ी, पाणी ग्यो पाताल।
मन सन्तोषी नेज सूं, लोटा भरै, निहाल॥ ६॥

[] डॉ० नरेन्द्र भानावत

३

अपरिग्रह-दर्शन

☐ आचार्य श्री जीतमलजी म० सा०

अपरिग्रहवाद का विपरीतार्थक शब्द है "परिग्रहवाद" जिसका अर्थ है आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। मानव जीवन की सफलता क्रमशः "अपरिग्रह" और "परिग्रह" इन दोनो को भली-भाँति समझने मे निहित है। एक मे जीवन का उत्थान है, कल्याण है और निर्माण है, तो दूसरे में जीवन का पतन है, हानि है और विनाश है। जो विवेकशील है वह जीवन के उत्थान की ओर प्रवृत्त होता है और जो विवेकहीन है, वह जीवन के विनाश की ओर बढता है। संसार के प्रायः सभी महामानव, मनुष्य को सन्मार्ग की ओर उन्मुख होने की सदा सन्मति देते आये है। भगवान् महावीर ने लोक कल्याण की भावना से कहा था—

लोभ कलि-कसाय-महवखंधो।
चितासयनिचयविपुलसालो ।। प्रश्न व्याकरण १/५

अर्थात्—परिग्रह रूप एक विशाल वृक्ष है जिसके स्कन्ध है लोभ, क्लेश और कषाय। उस परिग्रह के वृक्ष की बडी ही सघन एव विशाल शाखाएँ है अनेक प्रकार की चिन्ताएँ।

शास्त्रकार ने शब्दो की इस छोटी-सी गागर मे महान् सागर भर दिया है। जीवन की निखिल समस्याओ का, उलझनों का, संतापो का, परितापों का, अन्तर्द्वन्द्वो का, आकस्मिक कर्मबन्धों का और जीवन के निर्मल क्षणों के परि-स्पन्दनों का उक्त सूत्र रूप शास्त्र-वचन मे समाधान निहित है। जीवन की समस्याओ का समाधान, जीव अन्तर्जगत में न खोजकर बहिर्जगत में खोजता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके दु:ख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती है। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने मे ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियो की उलझन मे स्वयं उलझ कर अपना जीवन तो भार रूप बनाता ही है, किन्तु जिस परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र में वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दु:खद समस्याओ के मूल कारण को अन्तर्जगत् मे ही खोजने का प्रयत्न करता, तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वतः हल हो सकती थी। मनुष्य के दु:ख का मूल कारण उसके बाहर नही अपितु उसी के अन्दर है। मात्र दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और आवश्यकताएँ

जीवन की आवश्यकताएँ तो जीव के गर्भ में आते ही आरम्भ हो जाया करती है। जन्म के पश्चात् उत्तरोत्तर उनकी वृद्धि होने लगती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे वैरागी हो, चाहे सन्त हो, कोई भी हो, भोजन की, वस्त्र की और निवास स्थान की आवश्यकता तो उसे रहेगी ही, वह इनकी उपेक्षा नही कर सकता। उपेक्षा करता है तो वह जीवित नही रह सकेगा। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने अत्यावश्यक आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखने पर अधिक बल नही दिया है, आसक्ति न रखने की सन्मति अवश्य दी है। इच्छा के निरोध को और आसक्ति के निरोध को जीवन के लिये हितकर बताया है। आवश्यकताओं का क्षेत्र तो सीमित है, किन्तु इच्छाओ का क्षेत्र तो अनन्त है। जिस प्रकार जल मे ढेला फैंकने से पहले एक लहर-चक्र, फिर दूसरा चक्र, तीसरा, चौथा आदि अनेक चक्र स्वतः उत्पन्न होते ही जाते है, उसी प्रकार एक इच्छा अनेक इच्छाओं का उपक्रम आरम्भ कर देती है। इस इच्छा के अतिरेक का ही दूसरा नाम तृष्णा है। इच्छा और तृष्णा का कहीं अन्त नही है। भगवान् महावीर का कथन है कि—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

—उत्तराध्ययन ६/४८

अर्थात् जिस प्रकार आकाश का कही अन्त नही उसी प्रकार इच्छाओं का भी अन्त नही है।

"कसिणं पि जो इम लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इह दुप्पूरए इमे आया॥"

—उत्तराध्ययन ८/१६

अर्थात् धन धान्य से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौंप दिया जाये तब भी वह उससे सन्तुष्ट नही हो सकता। आत्मा की इच्छा का या तृष्णा का पूर्ण होना कदापि संभव नही है।

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं॥"

—उत्तराध्ययन ८/१७

अर्थात्—ज्यों-ज्यों मनुष्य को लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों उसका लोभ अधिकाधिक के लिये बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार लाभ से लोभ की वृद्धि होती जाती है। दो मासे सोने से सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति (कपिल) करोड़ों से भी सन्तुष्ट नही हो पाया।

लाभ और लोभ

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणामस्वरूप अर्जित किया हुआ धन क्या मनुष्य को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। जीवन का सुख अर्जित धन मे नही, वह तो त्याग मे है, त्याग लोभी व्यक्ति कर नही सकता। इसका परिणाम होता है, सामाजिक विषमता। वर्तमान युग मे हम प्रत्यक्ष रूप से देख रहे है कि कुछ लोगो के पास इतना धन संग्रह है कि उन्हे चिन्ता है कि इसे कहाँ खर्च करे, कहाँ लगावे, इसके विपरीत ऐसे लोग या परिवार तो बहुत बडी संख्या मे है जिनको यह चिन्ता है कि दो जून का अन्न जुटाने के लिये पैसा कहाँ से लावे ? धनाढ्य परिवारो के सदस्य अधिक पौष्टिक भोजन खाने के कारण बीमार और रोग ग्रस्त रहते है और अकिंचन परिवारो के सदस्य सामान्य कोटि के खाद्यान्न के अभाव मे ही जीर्ण-शीर्ण होकर दम तोड़ देते है। निःसन्देह शोपक और शोपित, दुःखी दोनो है। परन्तु दोनों के दु.खो के मूल कारण सग्रह या परिग्रह के पोपक-शोषक ही है। शोषको ने अपनी सग्रह की प्रवृत्ति के कारण ही स्वय के और दूसरो के जीवन को भार बना दिया है। यदि कोई एक व्यक्ति देश का सारा धन, अन्न-वस्त्र अपने ही खजाने और भण्डार मे भर लेगा तो जन सामान्य के लिये उसका वितरण बन्द हो जाने से देश-वासियो का जीवन अर्थ और अन्न-वस्त्र के संकट से ग्रस्त होना स्वाभाविक है।

बर्नार्डशा यूरोप के प्रख्यात नाटककार थे। बडे ही दुबले-पतले शरीर के थे। चर्चिल ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री थे जो शरीर से मोटे-ताजे थे। ये दोनो महा-पुरुप वर्तमान युग मे हुए है। एक बार किसी सभा में दोनो की भेट हो गई। दुबले-पतले, सूखे-शरीर वाले बर्नार्डशा को देखकर चर्चिल साहब ने कहा—"आपको देखने से तो ऐसे लग रहा है जैसे आपको रोटी नसीब न होती हो और आप भूखे रहते हों।" झट से बर्नार्डशा ने उत्तर दिया, "आपको देखने से लोग तुरन्त समझ जाते है कि मैं दुबला-पतला क्यो हूँ और मुझे भूखा क्यो रहना पड़ता है ?"

बर्नार्डशा के व्यंग्य ने तीर की तरह चर्चिल के चित्त को चित्त कर दिया। चर्चिल साहब बल खाकर रह गये, कुछ भी उत्तर नहीं बन पड़ा। शा की बात वास्तव में सत्य थी। एक का मोटापा दूसरे की दुर्बलता का कारण होता है। एक की सम्पन्नता दूसरे की विपन्नता को जन्म देती है। एक की सग्रह की प्रवृत्ति, अनेक के संकटो का बीजारोपण करती है और एक की स्वार्थ प्रवृत्ति सहस्रो परिवारों को नारकीय यातनाओं मे धकेल देती है। हेमन्त ऋतु मे हमने अनेक बार देखा है, बड़े-बड़े नगरो मे, बडे-बडे धनी तो बहुमूल्य ऊनी कपड़ों के बोझ से लदे फिरते है और बेचारे अकिंचन, नगे बदन कापते हुए शरीर का भार

ढोते फिरते है, बडे-बडे बंगलो में अमीर तो रेशम की रजाइयों में भी सर्दी का अनुभव करते है और बेचारे गरीब सड़कों के किनारे टाट के टुकड़ों मे चिथड़ो में लिपटे हुए कांप-कांप कर रात काटते है। मानव की मानव के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा से यदि शोषित वर्ग मे विद्वेष की और घृणा की भावना उत्पन्न न होगी तो फिर और किस मे होगी ? इस गर्हणीय उपेक्षा की नीव में परिग्रह की भावना गढी हुई है। आज के युग में जो सम्पन्न देश हैं, जिनके पास अपार अन्न-धन की राशि है, वे भी दूसरे देशों पर आक्रमण इसलिये करते है कि उन्हें लूटे, वहाँ अधिक कमाने के लिये अपनी मण्डियाँ स्थापित करें। उनका यह लोभ जब भयानक रूप धारण कर लेता है, तो युद्ध में परिणत हो जाता है। जन-सहार होता है, अत्याचार होता है और लूट का प्रसार होता है।

अतएव ससार यदि सुख की नीद सोना चाहता है—युद्धों की विभीषिका से बचना चाहता है, सर्वनाश से अपनी रक्षा करना चाहता है, जीवन की जटिल समस्याओ को सुलझाना चाहता है, विषमता के दुष्परिणामों से त्राण पाना चाहता है और मानव होकर मानवता को पहचानना चाहता है तो उसे भगवान् महावीर के अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त को अपनाना होगा, जीवन में उतारना होगा और उस पर निरन्तर अमल करना होगा। भगवान् महावीर के निम्नलिखित उपदेश को कभी नही भूलना चाहिये।

"सतोसपाहन्नरए स पूज्जो।"

—दशवैकालिक सूत्र, ६/३/५

अर्थात् जो सन्तोष के पथ पर चलता है, वही व्यक्ति पूजा, प्रतिष्ठा के योग्य है।



○ भाग्यवान वह है जिसका धन गुलाम है और अभागा वह है जो धन का गुलाम है। —वाल्तेयर

○ यदि तुम अपनी आय से कम में निर्वाह कर सकते हो तो निश्चय जानो कि पारस पत्थर तुम्हारे पास है।

—बेजामिन फ्रैकलिन

४

अपरिग्रही जीवन ही सुखी जीवन

☐ पंडित रत्न श्री हीरा मुनि

भलीभाति विचार कर देखा जाये तो अपरिग्रही जीवन से वढकर दूसरा कोई जीवन सुखी नही है। कीट से लेकर कैठिभारि-विष्णु तक का जीवन इच्छाओ के वश मे है। अतृप्ति और तृष्णाधिकता के कारण उनको कभी सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख नही मिल पाता। कीचड़ मे फसे गज की तरह पुत्र, स्त्री और कुटुम्वादि मे आसक्त प्राणी सतत दु:ख उठाता रहता है।

पहले तो धनोपार्जन से ही अत्यन्त कठिनाई उत्पन्न होती है। एक से एक वढ़कर विघ्न वाधाये अर्थ-सग्रह के मार्ग मे सुरसा की तरह मुंह वाए खड़ी रहती है। उन सव विघ्नो को पार करके कठोर श्रम का पसीना वहा करके, सद्भाग्य से धन मिल भी गया तो उसमे अतृप्ति वनी रहती है। साथ ही प्राप्त द्रव्य के संरक्षण की चिन्ता भी सांसो मे समायी रहती है। दुर्योग से कदाचित् वह संगृहीत परिग्रह नष्ट हो जाये तो मरणान्तिक पीड़ा होने लगती है।

मनुष्य सोचता है कि वह परिग्रह प्राप्त कर सुख से जीवन व्यतीत कर सकेगा, मगर ऐसा उसको नसीव नही होता। धनवानों और परिग्रहियो पर लोग चारों ओर से नजर लगाये रहते है। कैसे इनका धन लिया जाये ? कैसे इनकी सम्पत्ति का अपहरण किया जाये ? आदि दुर्विचारशील व्यक्तियो की आक्रमणात्मक कार्यवाही से उनका जीवन अशान्त एवं व्यथित वना रहता है। जैसे मास के टुकडे को जल में मछलिया, पृथ्वी पर कुत्ते आदि जानवर और आकाश में पक्षिगण मिलकर खाते है, वैसे ही सर्वत्र धनवानों को भी सव खाना चाहते है।

मनुष्य के पास में जव परिग्रह का वहु संग्रह हो जाता है तो उसका होश ठिकाने नही रहता। वह वेभान एव हृदयहीन वन जाता है। उसकी इन्द्रिया भी ठीक से काम नही कर पाती। किसी के दु:ख-दर्द को वह न तो सुन पाता है और न उसके मन पर उसका कुछ प्रभाव ही पडता है। दूसरो की तो वात ही क्या, परिग्रही अपने व्यक्तियो से भी वात करने मे कतराता है। कर्त्तव्य एव अकर्त्तव्य का मार्ग भी वह निश्चित् नही कर पाता। वास्तव में धन एक प्रकार की अभिनव व्याधि है, जो सरक्षक को अन्धा, वहरा और गूंगा वना देती है। अत: परिग्रह कभी सुखद नहीं कहा जा सकता।

जो जन अपने जीवन में आसक्ति और तृष्णा का सर्वथा त्याग कर देता है, जिसकी दृष्टि में स्वर्ण का मोल मिट्टी के ढेले से अधिक नही एवं जो संग्रह के प्रति भी उदासीन बना रहता है, निश्चय उसका जीवन, सुखी जीवन है । जिस जीवन में चिन्ता, ममता, आसक्ति और परवशताओ का जाल बिछा हो, उसे सुख कैसे मिल सकता है ?

जिसके मन में किसी वस्तु की चाह या कामना नही है, बडा से बड़ा परिग्रह भी जिसका मन ललचाने मे समर्थ नही होता, जिसको स्वसुख की अपेक्षा पर-सुख दर्शन की लालसा लगी रहती है; जो परोपकार को ही जीवन का सर्वस्व समझता है, जो स्वय खाने के बनिस्पत किसी अन्य को खिलाने को भी कर्त्तव्य मानता है, ऐसे निस्पृही व्यक्ति का जीवन सुखी जीवन कहा जाता है ।

भारतीय संस्कृति में, आध्यात्मिक परम्परा मे, साधु और परिव्राजकों का जीवन सुखी जीवन माना गया है । परिव्राट् बडे-बडे सम्राटो से भी बढ़कर सुखी होते है । जो आनन्द और खुशी एक फकीर को पेड़ की शीतल घनी छाया मे प्राप्त होती है, वह राजमहलो मे रहने वाले राजाओं को भी नसीब नहीं । अनेक चिन्ताओं के दुश्चिन्तन में, विविध राजकीय उलझनों मे उलझा उनका मन क्षण पल भी चैन नही पाता । आनन्द की सच्ची अनुभूति वह कभी नही पा सकता जो परिग्रह-ग्रह-ग्रस्त है । चिन्ताओ से चिन्तित तथा इच्छाओं के वशीभूत जन को सच्चा सुख कहा से मिल सकता है ?

अपरिग्रहता ही शान्ति का मार्ग

ससार में आज चारो ओर भय, घृणा, द्वेप, कलह, अशान्ति और विग्रह-मूलक जो हाहाकार मचा हुआ है, उसके मूल मे परिग्रह का ही हाथ है । परिग्रह ने सृष्टि रत्न मानव को आज दानव जैसा बना दिया है । धन के लोभ मे मनुष्य अशान्ति के दल-दल मे फसकर प्राण गंवाना चाहता है । अच्छे से अच्छे नर को भी परिग्रह के लालच ने कौड़ी का तीन बनाकर छोड दिया है ।

मनुष्य की गुरुता और महानता तभी तक स्थिर रहती है जब तक कि वह परिग्रह के पीछे भाग दौड प्रारम्भ नही करता अथवा धनाशा से किसी के आगे हाथ नही फैलाता । ऐसी आदत अगर एक बार भी लग जाये तो वह सहसा छूट नही पाती । मनुष्य इसके लिये क्या-क्या नही करता ? मगर इससे हीनता और लघुता ही वढती है । 'रामसतसई' मे ठीक ही कहा है—

तौं लगि जोगी जगतगुरु, जौ लगि रहत निराश ।
जब आशा मन में जगी, जगगुरु जोगी दास ॥

सचमुच मे अपनी आवश्यकताओं को कम कर जीवन निर्वाह करने वाला व्यक्ति ही जगत् का गुरु बनकर रह सकता है । ज्योंही उसके मन मे आशा या

तृष्णा जगेगी त्योंही योगी दास बन जाता है। परिग्रही को शान्ति नही मिल सकती। ग्राम या नगर छोडकर वह जगल में भी चला जाये फिर भी उसे चैन मिलना मुश्किल है। अतिशय सम्पन्न व्यक्ति भी लालसा के फेर में पड़कर सुखी नही रह सकता। इस संसार मे प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त से अधिक पदार्थ है, सुख के भरपूर साधन हैं, परन्तु सबकी तो बात अलग, एक की भी इच्छा भरने के लिए वह पर्याप्त नही कही जा सकती।

इच्छा कभी तृप्त नही होती। एक की पूर्ति होने पर दूसरी अनेक इच्छायें पुन: उठ खड़ी होती हैं। जैसे आग ईंधन डालने से शान्त नही होती, वैसे इच्छाये पूरी नही होती, सतत अधूरी ही बनी रहती हैं। इच्छापूर्ति की कोशिश क्षितिज छूने जैसा असफल प्रयत्न है जिसमे आज तक कोई भी व्यक्ति सफल नही हो पाया और न आगे ही सफल होने की सम्भावना है।

शान्ति के प्रेमी स्वामी रामकृष्ण परमहस का कथन है कि अगर तुम वास्तविक शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो इच्छाओ की दासता से, गुलामी से मन को अलग करलो। जिस क्षण तुम इच्छाओ से ऊपर उठ जाओगे यानी इच्छा के सामने झुकना छोड़ दोगे, स्वतः इच्छित वस्तु तुम्हारी तलाश करने लग जायेगी। सच है कि "सुखी वह है, जिसकी इच्छायें कम है।"

"अंगुत्तर निकाय" में एक स्थान पर कहा है—ससार मे दो व्यक्ति दुर्लभ है, एक वह जो स्वयं तृप्त है—सन्तुष्ट है, परिग्रह की भूख जिसे नही सताती, और दूसरा वह जो दूसरो को, दीन-दुःखियों को तृप्त-सन्तुष्ट करता है। अपरिग्रहता ही शान्ति का वास्तविक मार्ग है। इससे मनुष्य के मन की सारी हाय-हाय धाय-धायं मिट जाती है। जब तक अपरिग्रहता की भावना मन में घर नही करेगी तब तक तृष्णा उछल-कूद मचाती ही रहेगी।

जो जरूरत से अधिक संग्रह की भावना नही रखता और न उपयोग की इच्छा ही करता है, सच्ची शान्ति उसे ही मिलती है। जिसने बडे-बड़े महल बना लिये, बाग-बगीचे और खेत-खलिहान तैयार कर लिये, सोने-चांदी आदि द्रव्यों से खजाने भर लिये, उसको रात मे नीद नही आती। वह सोना चाहता है, मगर पास का जमा सोना उसे सोने नही देता, वह करवटो पर-करवटे बदलता रहता है, पर गाढी नीद नही आ पाती। कहते हैं कि अमेरिका के पूंजीपति नींद की गोलियां लिये बिना नीद नही ले सकते।

दूसरी ओर देखा जाता है कि मांगकर सूखी रोटी खाकर पानी पीने वाला भिखारी जहां चाहता है चैन से झोली अलग रखकर सो जाता तथा खर्राटे भरने लग जाता है। उसे इस बात की कोई भी चिन्ता नही है कि मेरी झोली कोई उठा ले जायेगा। एकान्त शान्त स्थान में अकेला सोया देखकर कोई घातक आक्रमण कर देगा। कैसे रात आयी और गयी, दिन कब निकला, इसका उसे पता ही नहीं चल पाता।

कहने का आशय इतना ही है कि जीवन में परिग्रह की मात्रा जितनी कम होगी, सुख और शान्ति उतनी ही अधिक रहेगी। वस्तुतः सच्चा सुख चिन्ताओं का सर्वथा अभाव ही माना जाता है। अपरिग्रहता की दशा मे किसी से वैर-विरोध या ईर्ष्या-द्वेष का प्रश्न ही नही उठता। थोडे मे निर्वाह करने वाले को किसी से द्वेष क्यों रहे ? लड़ाई-झगडा और तूतू-मैंमै का सवाल तो वहां उठता है, छीना-झपटी तो वहां होती है, जहा दो की इच्छा किसी एक वस्तु पर टकरा जाती है। शान्ति भी वही भग होती है जहां परिग्रह का भाव जोर पकड़ लेता है। जहा इच्छायें, लालच और अहंभाव अपना रंग नही जमाते वहां अशान्ति का कारण क्या ? अतः मानना होगा कि अपरिग्रहता ही शान्ति का सच्चा मार्ग है।

अपरिग्रहता ही सुख की कुंजी

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, शान्ति चाहता है मगर इसके वास्ते वास्तविक प्रयास नही करता। जाने क्यो, आज सब ने परिग्रह को ही सुख का मूल मान रखा है। उन सब की धारणा है कि अधिक से अधिक परिग्रही सग्रही अधिक से अधिक सुख का भागी हो सकता है। वह परिग्रह को एक उलझन एवं दुःख भरी समस्या नहीं मानता।

परिग्रह बढाने मे मनुष्य को अपना प्रिय जीवन और सुख शान्ति सब कुछ दाव पर लगा देना पड़ता है। कठिन से कठिन श्रम करके, बड़ी कठिनाई के बाद तब कही परिग्रह प्राप्त होता है। परिग्रह से मन में एक प्रकार की उत्तेजनात्मक गर्मी बढ जाती, किन्तु थोड़ी भी शान्ति नही आती। परिग्रह के वश में मनुष्य बुरे विचार और आचार का दास बन जाता है। और अन्त में ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि जिससे अपने ही रचे परिग्रह के जाल में उलझ कर वह जीवन से हाथ धो बैठता है।

पूर्व मे भी लोग परिग्रह बढाने का प्रयास करते थे, किन्तु उनके इस प्रयास का अर्थ कुछ दूसरा होता था। वे अड़ी-वड़ी का काम निकालने, बीमारी, बेकारी के समय काम आने तथा सार्वजनिक या सामाजिक किसी काम को करने तथा दुष्काल आदि के समय में लोक सेवा का काम रुके नही, एव द्वार पर आने वाला रिक्त हाथ वापस नही लौटे, अतएव अर्थोपार्जन करते थे। उनके इस अर्जन की कुछ मर्यादाएँ थी, कुछ सीमाएँ थी। किससे अर्थ मिलाना, कैसे मिलाना एवं किस प्रकार के धधों से मिलाना आदि कुछ बधी हुई व्यवस्थाए थीं। वे नियमो और व्यवस्थाओ का उल्लंघन नही करते थे।

पहले के लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि वड़ी से वड़ी तिजोरी भर सकती है, पेटी भर सकती है, किन्तु मन कभी नही भर सकता है। चाहे विश्व की सारी सम्पदा ही क्यों न हाथ मे आ जाये, त्रिभवन के वैभव भण्डार

के एकच्छत्र स्वामी क्यों न बन जायें, परन्तु उनसे भी इच्छा की पूर्ति संभव नही है। बड़वानल समुद्र में रहकर भी जैसे शान्त नही होती, वैसे इच्छाएं भी अतुल सम्पत्ति के मध्य में भी अतृप्त ही रहती है।

परिग्रह की साधना में पशु-पक्षी भी रात-दिन अनियन्त्रित रूप से संलग्न रहते है। अगर मानव भी उन्ही की भाति हर क्षण उसी के पीछे लगा रहे तो मानव और पशु में क्या अन्तर? क्या मानव होकर भी मानव पशु तुल्य नही समझा जा सकता? तिजोरी के भीतर पड़ा परिग्रह भी जब मानव का सब सुख चैन छीन लेता है, तो जो सिर पर चढ़ा रहता है, उससे मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है?

यह सच है कि धन के विना आज के युग में जीवन-यापन कठिन है। अतः गृहस्थ को धन का संग्रह तो करना पड़ेगा, मगर सग्रह करते हुए भी हमें इस पर विचार करते रहना पडेगा कि कही यह सग्रह हमारे लिये ग्रह रूप तो नही बन रहा है? हम संग्रह करें किन्तु वह कर्तव्य भाव से ही करे, ममत्व और आसक्त रूप मे नही। न्याय और नीति पूर्वक जो भी संग्रह होगा उससे जीवन का भी निर्वाह होगा, साथ ही उससे परोपकार भी किया जा सकता है। गृहस्थी का कार्य भी सुचारु रूप से चले और घर आये अतिथि देव के सत्कार मे भी कोई कसर नही हो। इस तरह के भावों से किया गया संग्रह अनर्थ का कारण नही बनता। पेट में अन्न और तिजोरी मे धन सीमित मात्रा में ही लाभदायक होते है। जो इस भाव की अवहेलना करता है, उसका जीवन दुःखद बनता है।

जीवन में कल्याण की कामना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह परिग्रह से होने वाली हानि और अपरिग्रह की दशा मे उपलब्ध सुख को अच्छी तरह निरखे, परखे और पुनः विवेक से काम ले। इस तरह वस्तु मात्र के प्रति अनासक्त और निर्मम जन ही सच्चा सुख पा सकता है। क्योकि धन जितना दुःख का कारण नही, उससे बढकर उसके प्रति किया जाने वाला ममत्व भाव दुःखदायी होता है।

अपरिग्रहवाद से ही विश्व का कल्याण

आज भौतिकता की चकाचौध मे अर्थ की अनर्थकारी आंधी के झोके मे, मानव इस बात को भूल सा गया है कि वह कौन है, कहा से आया है और कहा जायेगा? उसका यह भौतिक शरीर ही सब कुछ नही है जिसके लिए कि वह रात-दिन हाय-हाय करता है। अपने मात्र साढ़े तीन हाथ के शरीर की सुविधा के लिए आलीशान कोठिया तैयार करता, शानदार बड़े बगले बनाता, बाग-बगीचे लगाता तथा दुनिया भर के परिग्रह को अपने घर मे जमा करता है। मुट्ठी भर दानो से भरे जाने वाले इस पेट के लिए वह अन्न का भण्डार भरता, और हीरे जवाहरातो से तिजोरियो को भर कर हर्ष एवं आमोद मनाते रहता

है। वह धनार्जन के लिए तरह-तरह के अवैध उपायों को काम में लेता और सतत अतृप्त और धनाभिलाषी बना रहता है। वह चाहे जितना अर्जन करले, किन्तु उसकी चाह कभी पूरी नही हो सकती।

संसार मे अपने ऊपर आने वाले कष्टों और पीडाओ के कारणों को ढूढा जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इनका मूल असन्तोष ही है। धन के वास्ते आज लोग जितने दुःखी नही है, उससे अधिक असंतोष के चलते रहने से दुखी हैं! जीवन-निर्वाह के लिए किसको कितना चाहिये, उसके पेट के लिए कितना अन्न पर्याप्त समझा जा सकता है तथा तन के लिए कितने वस्त्र की अपेक्षा हो सकती है? उत्तर स्पष्ट है कि इस सबके लिए अधिक उपलब्ध करने की आवश्यकता नही है। किसी के खाने और पहनने के लिए जितना अपेक्षित है, वह तो उस व्यक्ति के दैनिक श्रम से ही उपलब्ध किया जा सकता है। फिर भी उसके मन में असन्तोष की आग भड़कती रहती है और जिसमें व्यक्ति की सारी शान्ति और निराकुलता भस्म होती रहती है।

कण की आवश्यकता वाले प्राणी की मण की लालसा रहती है। इससे कितनी भी अपार सम्पत्ति हाथ मे आ जाये फिर भी अधिक के हेतु इच्छाये तडफती रहती है, लालसाएं लहराती है। हजारों है तो लाखों की और लाखों पर करोडो की कामना मन को कुलबुलाती रहती है। असलियत तो यह है कि जितना ही अधिक लाभ होता है, लोभ उससे भी अधिक बढ़ने लग जाता है।

आज देखा जाता है कि हर घर में, भाई-भाई में, अड़ोसी-पड़ोसी तथा राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तनाव और वैषम्य बना रहता है। सर्वत्र दंगे और फसाद होते ही रहते है। न्यायालयों मे अभी जितने भी अभियोग चल रहे है, उनका मूल परिग्रह से ही सम्बन्धित है। जीवन-यात्रा में सुख का माप-दण्ड द्रव्य समझा जाता है। पैसे ने परमात्मा का रूप धारण कर लिया है। नगद को लोग नारायण कहने लग गये है। आज कोई भी ऐसी कल्पना नही कर पाता कि द्रव्य के बिना भी जीवन का निर्वाह हो सकता है? सबको यह आश्चर्यजनक जान पड़ता है। क्योंकि आज परिग्रह की धुरी पर ही जीवन-रथ का चक्र चलता है। परिग्रह की कोई सीमा या इयत्ता निर्धारित नही है। चाहे जैसे भी हो प्रचुर परिग्रहों से अपनी कोठी भर लेनी चाहिये। यही आज का प्रमुख लक्ष्य है।

परिग्रह की होड़ में कब क्या होगा, कुछ कहना कठिन है। आज इन्सान इसके लिए हैवान जैसा बन गया है। वह धन के वास्ते जीवन देने और लेने के लिए तत्पर दिखाई देता है। हम सब आज परिग्रह के नाम पर लड़ने और मारने-मरने तक को तैयार रहते हैं, किन्तु इससे क्या? सोचना है कि उन नृशंसों ने, अत्याचारियों ने परिग्रह बटोर-बटोर कर आखिर क्या किया? क्या उनके साथ में कुछ जा सका? लूट की, हिसा से प्राप्त की गई वे सारी वस्तुएं यही की यही पर रह गयीं।

अतएव यह आवश्यक है कि हम अपरिग्रहवाद के प्रसार व प्रचार मे जीवन लगा कर, जग मे इसका विस्तार करे। धन के माहात्म्य को आज का वच्चा-वच्चा जानता है। मगर विश्वकवि टैगोर के इन उद्‌गारो से उसे परिचित कराना आवश्यक है। उन्होने कहा—"हमारा देश आज आत्मदान का ऐश्वर्य चाहता है, विपुल धन की महिमा और प्रतियोगिता नही। धन अब मनुष्य को अर्ध्य नही चढ़ाता वरन् उसे अपमानित करता है और प्रतियोगिता विस्मित करती है, आनन्दित नही, इससे ईर्ष्या होती है—प्रशसा नही।"

निश्चय ही आज के इस सतृष्ण विश्व का कल्याण अगर किसी साधन के द्वारा हो सकता है तो वह अपरिग्रहवाद ही है। अपरिग्रह का प्रयोग सदा ही जन-कल्याण मे सहायक वनेगा, ऐसा सोच कर जीवन-यात्रा मे कदम आगे वढाना चाहिये।



आत्म-संतोष

नगर सेठ सागरमल भगवती महालक्ष्मी के स्वर्ण छत्र पर नये मणिमुक्ता अर्पित करके लौट रहे थे। मार्ग मे एक छोटा-सा देवालय था। उन्होने देखा, एक उपासक दरिद्र वेश मे खड़ा कृतज्ञता भरे स्वर से कह रहा था—"हे शिवशंकर, आपकी कृपा पाकर मैं धन्य हुआ। कितना सौभाग्यशाली हूँ मै। न मै किसी से ईर्ष्या-द्वेष करता हूँ और न कोई अन्य मुझ से ईर्ष्या-द्वेष करता है।"

नगर सेठ ने उसे रोक कर पूछा—"उपासक, तुम ने प्रभु के सामने यथार्थ निवेदन नही किया। यह तुम कैसे कह सकते हो कि कोई तुम से ईर्ष्या नही करता। मै ही तुम से ईर्ष्या करता हूँ।"

"मुझ से ईर्ष्या ?" दरिद्र उपासक का कौतूहल जगा।

"हाँ, तुम से ईर्ष्या ? लक्ष्मी का वरदान पाकर भी मेरे मन मे सुख-चैन नही और तुम इतने सुखी हो इसका क्या कारण है ?

समाधान पाने के लिए दोनो मन्दिर के मुख्य पुजारी के पास गये। पुजारी ने 'दया ते पुण्या लक्ष्मीमरियन्तु' इस शास्त्र वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा—हे नगर सेठ ! भगवती की कृपा से आपके पास इतना धन है कि आप उसमे मनमाना खेलते है, किन्तु इस दरिद्र के पास इतना आत्म-संतोष है कि स्वयं भगवती इसके हृदय मे रमण करने को लालायित रहती है। आपके दु:ख और इस परित्यागी व्यक्ति के सुख मे यह अन्तर है।

नगर सेठ को ज्ञात हो गया कि आत्म-सतोप लक्ष्मी की कृपा से भी श्रेष्ठ है।

—डॉ. भेरूलाल गर्ग

५ अपरिग्रह-साधना

☐ मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'

प्रत्येक प्राणधारी प्राणियों में शरीर, आयु, आहार, निद्रा, भय आदि की प्रवृत्तियाँ समान रूप से होते हुए भी अन्य प्राणियों से मानव के श्रेष्ठ कहलाने का एकमात्र कारण है 'वृत्तियाँ'। मनुष्य में मानवीय वृत्तियाँ भी है और दानवीय भी। जब मानव अपने अन्तस् में बसे हुए काम, क्रोध आदि विकारों को जीतने के लिए अग्रसर होता है तो वह मानव कहलाने लगता है और जब क्रोधादि विकारो का दास बनकर संहार करने पर तुल जाता है तो अपने दानवीय रूप में प्रकट होता है। अन्तर्वृत्तियाँ ही नर को नरदेव या नरोत्तम बनाती है तथा वे ही नर-पिशाच भी बनाती है। इन वृत्तियों की श्रेष्ठता तथा निकृष्टता का आधार बनती है—मनुष्य की तृष्णा और इच्छाएँ। आवश्यकताएँ मर्यादित है, सीमित है, परिमित है और तृष्णा अमर्यादित। मनुष्य अपनी इच्छाओं को ही आवश्यकता मानकर उनकी पूर्ति में अपनी शक्ति को समर्पित कर देता है। परिणामतः एक इच्छा पूरी हुई कि सैकड़ो इच्छाएँ पैदा हो जाती है और उसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि जीवन समाप्त हो जाने पर भी इच्छाओ का प्रवाह चलता रहता है और अन्त में वह कह उठता है—"तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा"—तृष्णा तो बूढी नही हुई, लेकिन हम जरूर बूढ़े हो गए। इच्छाओं की अनियन्त्रित वृद्धि से समाज मे विषमता फैलती है, वर्ग-संघर्ष को बढावा मिलता है। अतः इस स्थिति का निराकरण करने, आवश्यकताओं को नियन्त्रित रखने और मनुष्य ही नही, प्राणिमात्र को सुख-शातिपूर्वक जीवन बिताने की मूल भूमिका को सबल बनाने के लिए भगवान् महावीर ने अहिसा, अनेकान्त के साथ "अपरिग्रह" का उपदेश-सदेश दिया है।

इस विश्व में अपरिग्रह के समान शुभ और परिग्रह के समान अशुभ वृत्ति अन्य कोई नही है। जहाँ लोभ है, वहीं परिग्रह है, मूर्च्छाभाव है और ससार का सबसे कठोर बन्धन है, पीड़ाएँ-विपमताएँ है। भगवान महावीर ने "प्रश्न-व्याकरण सूत्र" में भी कहा है:—

"नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्व जीवाण सव्वलोए।।"

—संसार मे परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल एवं बंधन रूप नही है।

वस्तु व पदार्थ के प्रति हृदय की आसक्ति—मेरापन की भावना ही परिग्रह है अर्थात् किसी भी वस्तु को अपनी मानकर उसकी ममता मे लिप्त हो जाना और ममत्व के वश होकर आत्म-विवेक को खो बैठना परिग्रह है। वस्तुतः प्रभु महावीर ने मानव की प्रकृति को भली-भाँति समझ लिया था और परिग्रह के दुष्परिणामों का वृहद् अवलोकन किया था। इसीलिए उन्होने सग्रहवृत्ति का घोर निषेध करते हुए मुमुक्षु को इस वृत्ति से बचने का आदेश दिया। उन्होने कहा—"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" मूर्च्छा ही परिग्रह है।

परिग्रह महापाप है जो कि आत्मा को कर्म बधनो से जकड़ कर उसका अगला लोक तो मिट्टी मे मिलाता ही है, इस लोक में भी चैन नही लेने देता। आजकल समाचार पत्र इन्ही समाचारो से रगे रहते हैं कि सरकार ने अमुक व्यक्ति के यहा छापा मारकर इतना सोना, चांदी या रुपया अपने कब्जे मे किया या कि अमुक सेठ के गोदामो की तलाशी लेकर हजारो ही नहीं लाखों की कीमत की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ निकाली जो बाजार मे अप्राप्य हो रही है। इन बातो से स्पष्ट है कि परिग्रह आदि पाप भले ही कुछ दिन मनुष्य को कृत्रिम सुख, संतोष का अनुभव करा दे, किन्तु अन्त मे वे अपना फल प्रदान किये बिना नही रह सकते। इसलिए सन्त-महापुरुप या आत्म-मुक्ति के इच्छुक, परिग्रह रूपी महापाप से दूर रहने के प्रयत्न मे लगे रहते है। वे भगवान के वचनों पर विश्वास रखते हुए सदा यही भावना रखते है कि—"अप्पगाहा समुद्द सलिले अचेल-अत्थेण" अर्थात् ग्राह्य वस्तु मे से भी अल्प ही ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार सागर के अथाह जल मे से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प जल ही ग्रहण किया जाता है।

वस्तुतः अल्प परिग्रह भी किस प्रकार मोक्ष मार्ग की साधना में विघ्न डालता है, इसे महापुरुप ही बारीकी से समझ सकते है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन का एक प्रसग है:—

स्वामीजी संसार से विरक्त होने के कारण सदा आत्म-साधना में जुटे रहते थे। अपने अमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को बिना व्यर्थ खोये सदुपयोग करते थे।

एक बार उनके किसी भक्त ने उन्हे एक बडा कीमती वस्त्र भेट मे दिया। स्वामीजी ने उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया क्योकि ऐसा बहुमूल्य वस्त्र उन्हे पहली बार ही मिला था।

किन्तु उस कीमती वस्त्र का प्रभाव उन्हे शीघ्र ही दिखाई दे गया। वह इस प्रकार कि जब वे ध्यान करने बैठे तो ध्यान के बीच में ही उस वस्त्र का विचार बार-बार आने लगा। स्वामीजी ने सोचा—"कोई बात नही, अभी वस्त्र

नया है और अभी-अभी मिला है अतः इसका विचार आ रहा है। कुछ समय वाद मै स्वयं ही इसे भूल जाऊँगा।"

पर ऐसा हुआ नही। कई दिन तक वस्त्र शरीर पर रहा और उनकी दृष्टि पुनः पुनः उसकी ओर जाती रही। एक दिन उस नये वस्त्र को धारण किये हुए वे अपनी आराध्या महाकाली के दर्शनार्थ भी गये, किन्तु वहाँ भी उस वस्त्र का ही दिमाग मे ध्यान बना रहा और देवी की भक्ति मे पूरा मन नही लगा। यहाँ तक कि जब वे देवी की प्रतिमा के सम्मुख साष्टांग प्रणाम करने लगे तो यह ख्याल आया—"जमीन पर लेटकर प्रणाम करने से यह सुन्दर वस्त्र खराब हो जाएगा।"

स्वामी परमहस विचारों की ऐसी लीला देखकर हैरान हो गये और अगले ही क्षण उस वस्त्र को शरीर से उतार कर दूर फैंकते हुए बोले—"जो भी वस्तु आत्म साधना मे, मन की शान्ति प्राप्त करने मे और भगवान से मिलन मे व्यवधान डालती है, उसकी मुझे तनिक भी आवश्यकता नही, चाहे वह कितनी भी मूल्यवान क्यों न हो।"

उदाहरण पर गहराई से विचार करें तो ज्ञात होता है कि जब एक ही वस्त्र को अत्यल्प काल के लिये ही अपने पास रखने पर स्वामी रामकृष्ण परमहस को साधना में बाधा महसूस होने लगी, तव फिर जो लोग अपने शरीर पर अनेक वस्त्राभूषण रखते है या लाखों का धन संचय कर लेते हैं और तिजोरियों को ठसाठस भर लेते है, उनका चित्त आत्म-साधना मे कैसे लगता होगा ? स्पष्ट है कि नही लग सकता। ऐसे व्यक्तियो की तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है। लाभ मिलने पर मन में संतोष और तृप्ति होनी चाहिये, पर बजाय सन्तोष के लोभ अधिक तीव्र हो जाता है। अग्नि मे जैसे घी डालने से उसकी ज्वाला अधिक भड़कती है, वैसे ही इच्छा की पूर्ति रूप लाभ मिलने पर लोभ अधिक बढता है और फिर मनुष्य मकड़ी के जाल की तरह लाभ और लोभ के जाल में फस जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा भी है—"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।" अर्थात् ज्यो ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो त्यों लोभ भी बढता जाता है। इस प्रकार अनुचित संग्रह या परिग्रह मानव के लिए अभिशाप है और जन्म-जन्मान्तर तक के लिए दु ख का कारण है। परिग्रह की वृद्धि करके वह कभी सच्चा सुख हासिल नही कर सकता। सच्चा सुख उसे तभी महसूस होता है, जबकि वह परिग्रह को कम से कम कर लेता है। जैसा कि कहा गया है – "Happy is he, whose wants are few". सुखी वही है जिसकी आवश्यकताएँ कम से कम हैं।

□□□

उपेक्षापूर्वक, तटस्थ और अप्रभावित रहना ही श्रोत्रेन्द्रिय संवर भावना का मूल मंत्र है। साधक को चाहिये कि वह शब्दों में अपने बुद्धि व मति को लगाए ही नही, उन प्रिय-अप्रिय शब्दो मे मन न रमाए। राग-द्वेष जागरण की संभावना ही इससे समाप्त हो जायगी। साधक शब्दों को सुने, पर सुनकर—

"न तेसु रज्जियव्वं, न सज्जियव्वं, न रुसियव्व, न हीलियव्वं।"[1]

अर्थात् न उनसे राग उत्पन्न होने दे, न रोप करे, न किसी को डाँट-टफकारे, अथवा निन्दा करे। जो इस प्रकार राग-द्वेष रहित होकर 'सम' बना रहता है—वही वीतराग है। सवर भावना का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने मन को इस प्रकार की तटस्थता की शिक्षा दे।

(२) चक्षुरिन्द्रिय—रूप निःस्पृह भावना

नेत्र मानव-मन को अनेकानेक सुन्दर-असुन्दर स्थितियों के सम्पर्क में लाते है। चक्षु ही दृश्यमान जगत् से मनुष्य का परिचय कराते है। जगत् में अनेक मन-भावन दृश्य, वस्तुएँ और व्यक्ति है जिन्हे देखकर मनुष्य आनन्दित होता है, उनमें अनुरक्त होता है। इसके विपरीत अनेक कुदर्शी वस्तुएँ ऐसी है जो रोष, घृणादि उपजाती हैं। दोनो ही परिणाम घातक हैं।

देखना मानव की सहज प्रवृत्ति है। यह न स्वाभाविक है न आवश्यक कि वह कुछ देखे ही नही। वह देखे, किन्तु किसी प्रिय या सुन्दर वस्तु के प्रति आकर्षित होकर उसके प्रति अनुरक्त होना अथवा असुन्दर के प्रति रोष करना अनुपयुक्त है। तटस्थ भाव से समस्त दृश्यमानों का अवलोकन करना ही साधक का धर्म है।

वस्तु कोई भी स्वय में सुन्दर अथवा असुन्दर नही होती। जो वस्तु किसी एक के लिए अति सुन्दर है - वही किसी अन्य के लिए असुन्दर भी हो सकती है। जो हमें आज सुन्दर प्रतीत होती है, वही वस्तु कल सभव है कि हमें ही सुन्दर न लगे। यह सौन्दर्य वस्तु का गुण न होकर दर्शन की दृष्टि मे निवास करने वाला एक तत्त्व है। अत. रूपारूप आधारित प्रतिक्रिया सर्वथा मिथ्या है। साधक जन के लिए यह अपेक्षित है कि स्थितप्रज्ञ सा वह चक्षु के समक्ष आये दृश्यो को देखता रहे और मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करे कि वस्तुओ को देखकर उसमे राग-द्वेप उत्पन्न न हो। यही चक्षुरिन्द्रिय संवर भावना का मूल मंतव्य है।

---

१ प्रश्न व्याकरण ' सवर द्वार : ५

(३) घ्राणेन्द्रिय संवर भावना

'घ्राण', अर्थात्—नासिका द्वारा हमें वस्तु की गध से परिचित होने का अवसर मिलता है। सुगंध हमारे मन को प्रफुल्लित कर देती है और उस सुगधित पदार्थ के प्रति एक अनुराग जागृत कर देती है। इसके विपरीत दुर्गंध हमारे मन को अप्रिय ही नही कष्टकर भी लगती है और वस्तु के प्रति घिन उपजाती है। यह सहज स्वाभाविक मानव वृत्ति है, किन्तु इस प्रवृत्ति पर नियंत्रण स्थापित करना, सम-भाव के साथ सुगंध और दुर्गंध के प्रति राग-द्वेष न करना साधक की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

वस्तुस्थिति यह है कि सुगध अथवा दुर्गंध वस्तु विशेष का स्थायी गुण धर्म नहीं है। सुगधित वस्तु कब दुर्गंध पूर्ण या गंधहीन हो जाय, अथवा दुर्गंधित वस्तु मे कब सुगध आने लग जाय—कुछ कहा नही जा सकता। फिर गध के आधार पर वस्तु के प्रति राग-द्वेष या प्रीति-घृणा करना कैसे उचित कहा जा सकता है। तीर्थंकर भगवती मल्लि की स्वर्ण प्रतिमा मे सुगंधित, सुस्वादु खाद्य पदार्थों का एक ग्रास प्रतिदिन डाला जाता था। विवाहोत्सुक अनेक नरेशो के एकत्रित होने पर जब प्रतिमा को खोला गया तो वह संचित सुगधित खाद्य पदार्थ विकृत होकर भयंकर दुर्गंध व्याप्त करने लगा। यह नियति है सुगधपूर्ण अनुभव होने वाले पदार्थों की। ऐसी सुगध पर मुग्ध होना सर्वथा मिथ्या है।

'ज्ञाता सूत्र' का एक दृष्टान्त है जो यह सिद्ध करता है कि समस्त पुद्गल गुण धर्म मे परिवर्तन शील है और उनसे इन तात्कालिक गुणों के आधार पर राग-द्वेष करना व्यर्थ है। राजा जितशत्रु का मत्री सुबुद्धि इसी प्रकार का तटस्थ मनोवृत्ति वाला पुरुष था। नगर के समीप की खाई से पानी की सडांध से जब राजा एवं अन्य राजपुरुष उद्विग्न हो उठे, तब भी सुबुद्धि सर्वथा सामान्य बना रहा। राजा को आश्चर्य हुआ और उसकी जिज्ञासा को तुष्ट करते हुए सुबुद्धि ने उत्तर दिया कि परिवर्तन पुद्गलो का स्वभाव है, अत: जल की इस दुर्गंध पर मन में घृणा लाना व्यर्थ है। यही जल कभी स्वच्छ और सुगधित भी हो सकता है। राजा को सहसा कथन पर विश्वास नही हुआ। कालान्तर मे मत्री ने राजा को अपने यहाँ निमंत्रित किया। भोजन के साथ जल भी राजा को रुचिकर लगा। मंत्री ने स्पष्ट किया कि यह जल उसी खाई का दुर्गंधपूर्ण जल है जिससे कभी आपने नाक भौ सिकोड कर घृणा की थी। अमुक प्रक्रिया द्वारा मत्री ने उस जल को शुद्ध कर दिया था। अस्तु; गंध के आधार पर वस्तु को हेय या प्रेय मानना; उसके प्रति राग अथवा द्वेष विकसित करना समीचीन नही है। साधक को चाहिये कि वह पुद्गलो के पूरण-गलन धर्म का ध्यान रखते हुए तटस्थ वृत्ति के साथ समत्व योग की साधना मे रत रहे और आत्मा को

प्रत्येक परिस्थिति मे आनन्दित ही रखे। सुगंध और दुर्गध—दोनो ही स्थितियों मे समभाव वनाये रखे—जो स्थितप्रज्ञ का स्वभाव है।

(४) रसनेन्द्रिय संवर भावना

अन्य ज्ञानेन्द्रियों का एक-एक ही धर्म होता है (यथा—नेत्र का देखना, कान का सुनना आदि); किन्तु रसनेन्द्रिय, अर्थात्—जीभ के दो धर्म है—स्वाद लेना तथा वोलना। वोलने के सम्वन्ध मे संयम की भावना का विपय भाषा समिति के अन्तर्गत होता है। हम जिन खाद्य पदार्थो का सेवन करते है, उनके स्वाद से जीभ ही हमे परिचित कराती है। पदार्थ सरस, स्वादिप्ट भी हो सकते हैं और नीरस या अप्रिय स्वाद वाले भी। साधक को मन में अच्छे स्वाद के प्रति अनुराग या आकर्पण भी नही उठना चाहिये और बुरे स्वाद के प्रति जुगुप्सा या विकर्पण भी नही।

यहाॅ यह प्रश्न भी चिन्तनीय है कि आहार का मूल प्रयोजन क्या है? वस्तुस्थिति यह है कि साधक को अपनी साधना हेतु शरीर को पर्याप्त सशक्त रखने मात्र के लिए आहार ग्रहण करना चाहिये, सरसता से रसना को तुष्ट करने के प्रयोजन से नही। चाहे श्रेष्ठ व्यजन मिले और चाहे तुच्छ, स्वादहीन पदार्थ—दोनो ही स्थितियो मे साधक के लिए यह निष्कर्प ही अनिवार्य है कि न तो वह काम्य पदार्थ है और न वह उपेक्षणीय है। मुझे तो जीवन-यात्रा चलाने के लिए कुछ आहार रूप मे चाहिये; अतः जो भी प्राप्य है—उसे ग्रहण करना है। उदर-पूर्ति मात्र के लिए आहार करना है।

"अणासयमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अचिरमन्नागए भवई।"

भोजन के समय जो उसका निग्रह कर अस्वाद भाव से आहार ग्रहण करता है, वह भोजन करते हुए भी कर्मो को क्षीण करता है और आहार करते हुए भी तपस्वी है। आवश्यकता इसी वात की है कि वह स्वादेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करले। यह 'रस-विजय' सभी विजय का मूलाधार है—'सर्वजित जिते रसे'। जिसने रसना पर विजय प्राप्त करली उसने सव कुछ जीत लिया।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर भावना

शीतल, उष्ण, सुकोमल, कठोर, सुखद-दुःखद अनेक स्पर्श इस जगत् मे है जो हमारे कलेवर मे सम्पर्क मे आकर सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभूतियाँ जागृत करते है—मन मे चांचल्य अथवा शैथिल्य का संचार करते है। कभी शीतल-मद पवन आकर प्रफुल्लित कर जाती है तो कभी झझावात आकर आतंकित कर जाती है। कभी लू की तप्त पवन आकर झुलसा जाती है। कठोर

चट्टानों का खुरदरा स्पर्श भी होता है तो निर्मल, शीतल जल का सुखद स्पर्श भी होता है। साधक इन सभी सुखद और दुःखद स्पर्श-स्थितियों में सदा सम बना रहे—यह आवश्यक है। शीत व ताप की अधिकता अथवा न्यूनता से उसे सदा अप्रभावित ही रहना चाहिये, अन्यथा प्रमाद में घिर कर वह साधना के पथ पर अग्रसर न हो सकेगा। सुखद स्पर्शो से मोह भी उतना ही घातक है, जितना दुःखद स्पर्शो से बचाव की प्रक्रिया। शरीर को सुखानुभव देने वाले स्पर्श आत्मा को कुंठित कर सकते हैं। भयंकर ताप, लू आदि के कष्टों से विचलित होकर शीतल पवन के आगमन की प्रतीक्षा मे आतुर हो जाना भी अनुपयुक्त है। जैसी भी परिस्थिति हो समत्व भावना के साथ उसका स्वागत करते हुए उसमे जीना और साधना-यात्रा को शिथिल न होने देना—यही साधक का धर्म है। कर्कश, कठोर, उष्ण और दुःखद स्पर्श साधक को धैर्ययुक्त करते है, अचंचल बनाते हैं और सहिष्णुता की शान्ति प्रदान करते है।



अन्तर

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—"गुरुजी, आप तो कहते थे कि संसार के सभी दरिया समुद्र में जा मिलते है ? फिर समुद्र का पानी इतना खारा क्यों है ? जब कि हर दरिया का पानी मीठा होता है।"

गुरु ने कहा—"वह समुद्र लेता ही लेता है, देता एक बूंद भी नहीं। जो केवल संचय करता है, उसमें कड़वाहट के अतिरिक्त और होगा ही क्या ?"

शिष्य ने फिर पूछा—"कहते है कि समुद्र का पानी सूर्य सोखता रहता है, वही पानी बादल बनकर बरसता है, फिर आप यह कैसे कहते हैं, कि देता एक बूंद भी नही ?"

गुरु ने समझाते हुए कहा—"छीने जाने और देने मे पृथ्वी-आकाश का अन्तर है बेटे ! तुम्हारे पैसे या सामान कोई छीन ले तो वह देना नही हुआ, देने की भावना से दिया गया ही देना होता है।"

—कमल सौगानी

७ तृष्णा की तड़पन

श्री सत्यनारायण गोयनका

धर्मप्रज्ञा के जाग्रत रहने में ही सच्ची सुख शांति समायी हुई है। यह दुष्प्रज्ञता ही है जो हमारे दुःख दारिद्र्य का पहाड़ खड़ा कर देती है।

प्रज्ञा जाग्रत रहने का अर्थ है, सचेत रहना, सजग रहना, सावधान रहना, होश में रहना, जो बात जैसी है उसको वैसे ही देखना, समझना और दुष्प्रज्ञता का अर्थ है ऐसा न होना याने अचेत रहना, बेहोश रहना, अनवधान रहना। जो बात जैसी है, उसको वैसी न देख-समझकर उसके विपरीत ही देखना, समझना। यही दुष्प्रज्ञता हमारे लिए अनेक प्रकार के दुःख पैदा करती है, हमें सच्चे सुख से दूर रखती है, हमारी शांति भंग करती है, हमें बेचैन बनाती है।

आओ, समझें कि ऐसा क्यों हो जाता है? कैसे हो जाता है?

हमारे मन में कोई नन्ही सी कामना जागती है, आकांक्षा जागती है, इच्छा जागती है, तमन्ना जागती है और धीरे-धीरे अनजान अवस्था में ही वह गहरी लालसा का रूप धारण कर लेती है। हम इस लालसा के प्रति गहरे आसक्त होते जाते हैं, इसमें बंधते व चिपकते जाते हैं। जितने-जितने गहरे आसक्त होते हैं, उतने-उतने ही उस तृष्णा विशेष को पूरी करने के लिए बेचैन हो उठते हैं, व्यग्र और व्याकुल हो उठते हैं। इस अशांत अवस्था में हम मन, वचन और शरीर से ऐसे कामों में अन्धाधुंध जुट जाते हैं, जिनसे कि हमारी समझ में हमारी वह तृष्णा, वह लालसा पूरी हो सकेगी। जितनी देर वह लालसा पूरी नहीं होती, उतनी देर अन्तर्मन में रह-रह कर ज्वार से उठते रहते हैं। उस लालसा की पूर्ति के अभाव में एक मानसिक तनाव पैदा होने लगता है, जो कि अनजान अवस्था में बढ़ता ही जाता है। इस तरह का हर तनाव मन की शांति भंग करता है, सरलता नष्ट करता है। इस तनाव व खिंचाव के मारे मन पर गांठें बनती जाती हैं। हम अपनी इस सही स्थिति को समझ भी नहीं पाते कि किस प्रकार भीतर ही भीतर सरल-स्वच्छ चित्त को गांठ-गठीला बनाते चले जा रहे हैं।

इस मानसिक तनाव और ग्रंथियों का असर धीमे-धीमे हमारे शरीर पर पड़ने लगता है। हमारे शरीर की मांसपेशियों में, रक्तवाहिनी नाड़ियों में, सूक्ष्म

स्नायु तन्तुओं में, सूक्ष्म से सूक्ष्म रेशे-रेशे में तथा समस्त जीवकोषों में तनाव व खिचाव आने लगता है। गाठे बंधने लगती हैं, शरीर की सहज सरल शिथिलता नष्ट होने लगती है। मन और तन दोनो मूंज की रस्सी की तरह अकड़े रहने लगते है।

हमें लगता है कि हमारे मन की वह एक तमन्ना पूरी होते ही यह सारा खिचाव अपने आप दूर हो जायेगा, हमें बडा सुख मिलेगा, शाति मिलेगी। मन आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठेगा। यह सच है कि हर कामना की पूर्ति पर थोड़ी देर के लिए ऐसी स्थिति अवश्य आती है जो कि हमारे मानसिक तनाव को और शारीरिक कसाव को ढीला कर देती है और हमें बड़ा अच्छा लगने लगता है। परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी स्थिति देर तक बनी नही रहती।

हमारा मन किसी एक चाह के प्रति निरंतर लालायित रहने के अभ्यास मे इस कदर स्वभाव-ग्रस्त हो गया है कि उस एक लालसा की पूर्ति होते ही वह अपनी स्वभावगत लालसा को किसी अन्य आधार बिन्दु पर केन्द्रित कर देता है। मतलब यह है कि जैसे ही एक लालसा की पूर्ति होते ही वह अपनी स्वभावगत लालसा को किसी अन्य आधार बिन्दु पर केन्द्रित कर देता है। मतलब यह है कि जैसे ही एक लालसा पूरी होती है, मन उससे किसी दूसरी बड़ी लालसा की पूर्ति के लिए लालायित हो उठता है। एक तृष्णा पूरी हो तो उससे बड़ी तृष्णा अपना सिर उठाने लगती है और तृष्णाओ का यह अटूट क्रम एक के बाद एक नए और बडे आलम्बन की ओर मुंह बाए बढ़ता ही रहता है। जिस लालसा की पूर्ति हो चुकी है, उसके प्रति हमारा आकर्षण समाप्त होने लगता है, क्योंकि उससे बड़ी किसी अन्य लालसा के प्रति मन आसक्त होने लगता है। इसलिए जो प्राप्त हुआ, उसका सुख-सतोष हम भोग ही नही पाते। जो अप्राप्त है, उसके लिए तरसने लगते है। जीवन का अधिकाश समय बिना पूरी हुई लालसाओ की इस तरस में बीतता चला जाता है। जो कुछ है, उसका सुख नही और जो कुछ नही है, उसी के लिए व्याकुल बने रहते है। भाव का सतोष-सुख पाते नही अभाव का दारिद्र्य-दु ख सिर पर चढाए रहते है। हमारी यह राग रजित अवस्था हमे कदापि शांति नही दे सकती। क्योंकि तृष्णाओं की कोई सीमा नही, इसलिए सारी तृष्णाएं कभी पूरी नही हो सकती। एक न एक बिन पूरी हुई तृष्णा हमारे मन को बोझिल बनाए रखती है। अपनी एक से एक बढती हुई तृष्णाओं के प्रति यह गहरी आसक्ति हमारे अन्तर्मन में एक ऐसा अटूट तनाव पैदा करती रहती है जिससे कि हमे दिन तो दिन, रात को भी चैन नहीं मिलता। या तो नीद आती ही नही और यदि आई भी तो इस अभावग्रस्त अचेतन मन का भारी बोझ बना ही रहता है। नीद से उठकर भी हम ताजगी और हल्कापन महसूस नही कर पाते। इस प्रकार इन सीमाहीन तमन्नाओं की लालसा हमे रात-दिन बेचैन, व्याकुल व अधीर बनाए रखती है। मन और शरीर को अनगिनत ग्रंथियो मे उलझाए रखती है।

ऐसा हो नही सकता कि हमारी सारी तमन्नाएँ सहज भाव से पूरी होती चली जायं, क्योंकि जैसे हमारी तमन्नाएँ है, वैसे औरों की भी तमन्नाएँ है। और वहुधा हमारी तमन्नाओ से टकराती हैं। यदि हमारी तमन्ना पूरी हो तो किसी अन्य की तमन्ना टूटती है। किसी अन्य की तमन्ना पूरी हो तो हमारी टूटती है। ऐसी अवस्था मे हमारी तमन्नाओ की पूर्ति के रास्ते में जहा भी कोई अवरोध पैदा होता है, वही हमे झुझलाहट होती है, गुस्सा आता है, हमारा आन्तरिक तनाव कई गुना वढ जाता है। शरीर और मन की ग्रथियां और अधिक उलझ जाती है। हम अधिक चिडचिड़े होने लगते है। हमारी शांति अधिक भंग होती है। सच्चाई को जाने विना हम अपने दु.खो का कारण औरो पर आरोपित करने लगते है। मन मे द्वेप, दौर्मनस्य भरते रहते है। रागरजित चित्त मे जो गाँठे वधती है और उनके द्वारा जो मानसिक व शारीरिक तनाव पैदा होता है, वह इस द्वेष दूपित अवस्था मे कई गुना अधिक वढ जाता है। मन का उत्तेजन और उत्तापन तीव्र हो उठता है। अशाति और वेचैनी ज्यादा वढने लगती है। प्रतिक्षण अपने मकसद की पूर्ति न हो सकने की आशंकाए हमारी व्याकुलता वढाती रहती है और इस प्रकार हमारा मन और तन दोनो अस्वस्थ हो उठते हैं। जीवन का वास्तविक सुख हमसे कोसो दूर रहता है।

जीवन के सारे भौतिक सुख-साधन, वैभव-विलास, ऐश्वर्य-सम्पदा हमे फीकी लगने लगती है। क्योंकि हम हमेशा जो है, उससे किसी अन्य ऊंची स्थिति की खोज मे पागल रहते हैं। जीवन सतत अभावग्रस्त वना रहता है। इस अभाव की पूर्ति मे वाधा स्वरूप आने वाले हर व्यक्ति, वस्तु, घटना व स्थिति के प्रति चित्त दुर्मन वना रहता है। मनचाही वात होती नही, इसकी पीडा तो होती ही है। दूसरी ओर अनचाही होती रहती है। यह उस पीडा की आग मे पैट्रोल छिडकने का काम करती है। मनचाही स्थिति को हम अपनी ओर खैचने का प्रयास करते है और अनचाही स्थिति को दूर ढकेलने का। इस खिचाव और इस दुराव के कारण, इस राग और इस द्वेप के कारण जो आन्तरिक संघर्प चलता रहता है, वही हमारा दु.ख है। जहां यह संघर्प समाप्त हुआ, वही खिचाव-तनाव दूर हुए, दु ख-दर्द दूर हुए और सही सुख तथा सही शाति मिलने लगी।

जैसे द्वेप की उत्पत्ति राग से होती है, वैसे ही राग की उत्पत्ति मोह-मूढ़ता मे होती है। यह मोह मूढता क्या है ? यह हमारे चित्त की वह अज्ञान अवस्था है, जिससे कि हम किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति को और साथ ही साथ अपने आपको चिरस्थायी मानकर उसके प्रति आसक्त हुए चले जाते है। विपश्यना साधना द्वारा जव चित्त एकाग्र होकर अपने इस वेचैन अन्तर्मन का स्वय दर्शन करता है तो उसे यह सारा खेल समझ मे आने लगता है। वह अपने ही समान सारी वाह्य वस्तुओ को, व्यक्तियों को और स्थितियों को अनित्य महसूस करने लगता है। उनके प्रति नित्यभाव की मिथ्या दृष्टि दूर होती है।

उनके नश्वर भंगुर और परिवर्तनशील स्वभाव को सही-सही समझने लगता है। इस प्रकार सही बात को सही रूप में देखने-समझने वाली जो प्रज्ञा जागती है, वह हमे उन भंगुर आलम्बनों के प्रति आसक्त होने से, चिपकने से, बचाती है। राग के प्रति जहाँ वह चिपकाव टूटता है, वही राग से उत्पन्न होने वाले दुःख दूर हो जाते है। और जब राग के प्रति चिपकाव टूटता है तो द्वेष दूषित होने का कोई कारण नहीं रह जाता। अतः द्वेष के कारण पैदा होने वाले दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। इसी प्रकार राग और द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले भय, आशंका, घृणा, दुर्भावना, क्रोध, दौर्मनस्यता, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि-आदि सभी प्रकार के मनोविकारों से छुटकारा मिल जाता है और इनके कारण उत्पन्न होने वाले सभी दुःखों से भी छुटकारा मिल जाता है। जहाँ दुःखों की जड उखड़ी वही सारे दुःख उखड़े। जहाँ दुष्प्रज्ञता उखड़ी, वहाँ उससे उत्पन्न होने वाले राग और द्वेष तथा तज्जनित अनेकानेक मनोविकारों का आवेश रुक गया। इसीलिए आवश्यक है कि दुःख से आत्यंतिक विमुक्ति पाने के लिए हम उसकी जड़ को उखाड़ फैंके। मोह-मूढ़ता को समूल नष्ट करें। प्रतिक्षण विद्या जागती रहे, प्रज्ञा जागती रहे, बोधिधर्म जागता रहे। बेहोशी मे पड़कर राग की आसक्तियों में न उलझने पाये। इसी में हमारी वास्तविक सुख-शांति समायी हुई है। इसी में हमारा मंगल-कल्याण समाया हुआ है।□□□

समय का सदुपयोग

सन्त दाऊद को पिता की विरासत मे तीस दीनार मिले। उन्होंने उसी से जिन्दगी के तीस वर्ष काटे और उतने से ही अपना खर्च चलाया। लोगों ने सहायता करनी चाही तो उन्होने सदा इन्कार किया और कहा—गुजारे के लिए जो मिला हुआ मौजूद है तो ज्यादा की हविस क्यो करूँ?

वे सत्तू घोलकर पीते थे। किसी ने पूछा—आप रोटी क्यो नही बना लेते? जवाब दिया—जितनी देर मे रोटी बनाऊँ उतनी देर में पचास आयतो का पाठ क्यों न करूँ?

पीने का पानी धूप में रखा था। किसी ने कहा—इसे छाया में क्यों नही रख लेते? दाऊद ने कहा—इतनी सुविधा के लिए भगवान के लिए लगने वाले समय को अपने लिए खर्च करूँ?

—डॉ० भैरूलाल गर्ग

८

भोग और संग्रह की रुचि के त्याग से ही भगवत्प्राप्ति

☐ स्वामी रामसुखदास

मनुष्य में जहाँ संसार की कामना है, वहाँ ही उसमें भगवान् की तरफ चलने की रुचि भी है। यदि भगवान को प्राप्त करने की रुचि जम जाय तो फिर कामना नष्ट होकर भगवत्प्राप्ति मे देरी नही है। यह मानव के विवेक की महिमा है। यह सत्य है कि प्रायः पापियों के ऐसा निश्चय हुआ नही करता, परन्तु ऐसा नही है कि पापी ऐसा निश्चय नही कर सकते। महान् से महान् पापी अपना उद्धार कर सकता है। जब तक मृत्यु काल नही आया है, तब तक इस मनुष्य मे यह शक्ति है कि वह भगवत्प्राप्ति का निश्चय कर सकता है। परन्तु भोगों का, धन का महत्त्व हृदय में रखते हुए परमात्मा की प्राप्ति का निश्चय नही कर सकता।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि किये हुए पाप मनुष्य को भगवान् की ओर जाने में नहीं रोक रहे हैं। इसी तरह पदार्थ भगवान् की ओर जाने मे नहीं रोक सकते। परन्तु वर्तमान मे भोगों का महत्त्व जो है, वह बाधा दे रहा है। भोग उतना नही अटकाते, जितना भोगों का महत्त्व अटकाता है। आपकी रुचि नियत-प्रधान है। पापी ने पाप बहुत किये, परन्तु अब उसकी रुचि नियत पाप करने की नही रही, अब उसने निश्चय कर लिया कि एक परमात्मा की प्राप्ति ही करनी है। इसलिए उसे धर्मात्मा बनते देर नही लगती है। क्योंकि मनुष्य स्वयं परमात्मा का अंश है। परमात्मा की प्राप्ति मे देरी नही है।

यदि भोग और संग्रह की रुचि को रखते हुए परमात्मा की प्राप्ति करना चाहे, तो परमात्मा की प्राप्ति तो दूर रही, उनकी प्राप्ति का एक निश्चय भी नहीं हो सकता। कारण कि जहाँ भोगों की रुचि नही है, वहाँ ही परमात्मा है। रुचि जब तक भोग संग्रह मे है, मान, बड़ाई, आराम मे है, तब तक कोई भी परमात्मा मे नही लग सकता। क्योंकि उसका चित्त भोगों की रुचि द्वारा हरा गया। जो शक्ति थी, वह भोग और ऐश्वर्य मे लग गयी। भोग और संग्रह मे मनुष्य को मिलेगा कुछ नहीं, बल्कि वह परमात्मा की प्राप्ति से वंचित रह जायेगा। धोखा हो जायेगा। धोखा, मान, बड़ाई कितने दिन रहेगी? मान, बड़ाई मिलकर भी क्या निहाल करेगी? भोग कितने दिन भोगेंगे? संग्रह कितने दिन रहेगा? माना, यहाँ खूब धन इकट्ठा किया, मर जाओगे तो धन यहीं रह जायेगा। आयु समाप्त हो जायेगी। परमात्मा की प्राप्ति से वंचित रह जाओगे।

इसलिए भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि परमात्मा की प्राप्ति वास्तव में चाहते हो, तो भोग और संग्रह को महत्त्व मत दो। आज तो ख़र्च के लिए ही रुपयों का महत्त्व नहीं, बल्कि उनकी संख्या को भी महत्त्व दे रहे है। हम लखपति हो जायं। हमारे इतना संग्रह हो जाय। रुपया है, उसको खाने में खर्च नहीं कर सकते, अच्छे काम में खर्च नही कर सकते। एक धुन धन जोड़ने की लगी हुई है। संख्या कम न हो जाय, मूलधन में कम से कम एक लाख रुपया तो इस साल जमा हो जाय, ऐसी रुचि रहती है। लड़कों को उपदेश देते है कि "जोड़ो! नही तो कमाओ उतना खाओ। मूल पूँजी खर्च करते हो, तुम में अकल नही है।" मूल खर्च करते हुए दुःख होता है। मूल में क्या तूली लगाओगे? नही खर्च करोगे तो क्या करोगे?

संग्रह की यह वृत्ति नरकों में ले जाने वाली है। माँ-बाप बूढ़े हो जाते है, वे लड़कों को समझाते है कि 'तुम लोग बेअकल हो। मूलधन खर्च करते हो। इस मूलधन को मत छेड़ो। जितना कमाओ उतना खर्च कर लो। मूल धन मत कम करो।' ऐसे पुरुष परमात्मा की प्राप्ति क्या करेंगे? वे कर ही नही सकते। साधु हो, गृहस्थ हो, पढा-लिखा हो, चाहे मूर्ख हो, चाहे पण्डित हो, भाई हो अथवा बहिन हो, इस प्रकार संग्रह करने की, तथा संग्रह बना रहे, यह रुचि रहेगी, तब तक आप परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में नही चल सकते। आपको ऐसे सग्रह की रुचि नही है, तो चाहे आपके पास लाखों, करोड़ों रुपये है, आपको अटका नहीं सकते। बैंकों में बहुत धन पड़ा है, शहर में बहुत मकान है। वे हमको नही अटकाते। क्यों नही अटकाते? क्योंकि उनमें हमारी ममता नहीं है। उनकी प्राप्ति की इच्छा नही है। हमारी इच्छा हो जायेगी तो हम फँस जायेगे। संसार मे बहुत धन है। हमारा बन्धन कहाँ है? जितने धन में हमने ममता की है, वही तो बाँधनेवाला है। ससार मात्र से हमारी मुक्ति स्वतः है। १०-१२ आदमियों को, जिनको अपना मान रखा है, वही ही बन्धन हैं। लाख दो लाख रुपया अपना मान रखा है, मकान अपना मान रखा है, वे मनुष्य मर जायें, उनको कुछ भी हो जाय, हमारे चित्त पर कुछ असर नही पड़ता। जिन मकानों को अपना नही माना, वे सबके सब धराशायी हो जायं, तो हम पर कोई असर नहीं पड़ता। जिन रुपयों को हमने अपना नही माना, वे चले जायं, लाखों-करोड़ों की उथल-पुथल हो जाय तो हम बँधे हुए नही है।

जब सारे संसार से बन्धन नहीं है, यदि इन थोड़ों को (जिन्हे अपना मान रखा है) भी त्याग कर दो, तो निहाल हो जाओगे। थोड़ी सी मुक्ति बाकी है, ज्यादा बंधन नहीं है। ज्यादा सा बन्धन तो छूटा हुआ है ही। जिनमें आप ममता करते हो, उनमें आप बँध जाते हो। मनुष्यों में ऐसी ही चाल है। वे ज्यादा व्यक्तियों-पदार्थों में ममता करना चाहते हैं। वक्ता भी चाहता है, श्रोता ज्यादा आ जायं। ऐसी इच्छा नही रखेंगे तो फँसेंगे कैसे? फँसने की तैयारी करते रहते

हैं। इसलिए भोग मिल जाय, संग्रह हो जाय। अधिक मिल जाय पर और चाहने से मिलता नही। यदि मिल जाय तो टिकेगा नही और टिकेगा तो आप नहीं टिक सकेंगे। बन्धन जायेगा नही, बन्धन तो आपके छूटने से छूटेगा। इस तरह आप फँसे ही रहोगे। मरने के बाद आप छूट सकोगे नहीं—

"मैं मैं बुरी बलाय है, सको तो निकलो भाग।
कब तक निबहे रामजी, रूई लपेटी आग॥"

रुई में लपेटी आग कितने दिन ठहरेगी? वह जलायेगी ही। जिन पदार्थो मे 'मैं मैं' करते हो, वे कितने दिन ठहरेंगे? आप सम्बन्ध रखोगे, तो जल ही जाओगे। इसलिए प्रत्येक भाई-बहिन के लिए बहुत आवश्यक है कि संसार के भोगो को और उनके संग्रह की इच्छा को भीतर से त्याग दें।

भीतर से पदार्थों की इच्छा छोड़ देने पर पदार्थ प्रारब्धानुसार स्वतः आते है। चाहना से पदार्थों के मिलने में आड़ लगती है। अपनी चाहना का त्याग होने से आपकी आवश्यकता फैलती है। स्वतः लोगों के मन में आपकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रेरणा होती है। हमारे चाहना रखते हुए, हमारी इच्छा हममें सीमित हो जाती हैं। आड लग जाती है। जब कामना रखते हुए हमें धन-मकान मिलता है, हम अपने को सफल मानते है। चाहना का त्याग होने पर वस्तुएँ हमारे काम में आकर सफल होगी। आपके हृदय से पदार्थों-प्राणियों की गुलामी निकल जायेगी।

परमात्म तत्त्व में नित्य निरन्तर स्थिति चाहते हो तो उत्पत्ति-विनाश वाली वस्तुओं का आकर्षण सर्वथा मिटाओ। उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तुओ में फँसे रहोगे, तो अनुत्पन्न तत्त्व नही मिलेगा। सदा साथ में रहता हुआ परमात्मा नही मिलेगा। उससे वंचित रह जाओगे। भोग और संग्रह रखोगे तो परमात्मा से वंचित रहने के सिवाय अन्य कुछ लाभ नही होगा। धन भी नही मिलेगा, यदि मिलेगा तो रहेगा नही। न भोग मिलेगे, यदि मिलेंगे तो रहेगे नही। और न आप रहोगे। केवल आपको जन्म-मरण मे डालने वाला, नरको मे ले जाने वाला बन्धन रहेगा। इसलिये भोग और संग्रह की इच्छा सर्वथा त्याग दो।

आपके पास धन रहने से मेरा विरोध नही है। आप जो उसके गुलाम बनते हो, उससे मेरा विरोध है। न्याययुक्त कमाते हुए, लाख रुपया आ जाय तो मौज, लाख चला जाय तो मौज। वास्तव में धनपति आप तब हो। लाखों-करोडों आ जायं तो वही प्रसन्नता, चले जायं तो भी आपको वही प्रसन्नता। तब तो आप धनपति हो। पर धन आने से हो जाओ प्रसन्न और चले जाने पर रोने लग जाओ, तो आप धनदास हुए, धनपति नही हुए। रुपये जाने से रोना ही रोना आ रहा है। हमारा मालिक धन चला गया, अब कैसे रहे? उससे पूछा

जाय कि क्या चला गया भाई ? अरे, जिसने कमाया था, वह तो मौजूद है। परन्तु बात अकल में आती नहीं। धन को हमने अपना इष्टदेव मान रखा है, उनको झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी का आश्रय लेना पड़ता है। उनके मन में दृढता से यह भाव जम गया है कि झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानी, ठगी, ब्लेक-मार्केट किये बिना पैसा पैदा नही हो सकता। धन को चाहने वाले को झूठ, कपट, ब्लेक आदि के प्रति भक्ति पैदा होगी। जैसे, रामजी का भक्त रामजी को याद करता है, ऐसे ही धन के भक्त को झूठ, कपट, छल, ठगी आदि की भक्ति करनी पड़ती है। कोई कितना कहे उनको यही बात जँची हुई है कि झूठ, कपट, चोरी बिना पैसा पैदा नही हो सकता। ब्रह्माजी की भी ताकत नहीं, जो उन्हें समझा दे। कोई उन्हें ठीक बात समझाये, तो उसको वे मूर्ख समझते है। आज के जमाने में झूठ, कपट, बेईमानी, अन्याय बिना काम कैसे चल सकता है ? यह दृढ धारणा उनके मन में बैठ गयी है। इसलिए यदि परमात्म तत्त्व की प्राप्ति करनी है, तो धनादि पदार्थ के भोग और संग्रह की आशा का कतई त्याग करना ही पड़ेगा।

भोग और संग्रह की रुचि छोड़ते नही और सच्चे हृदय से इस रुचि को छोड़ना चाहते नहीं। इस रुचि को त्यागे बिना परमात्म तत्त्व की बातें समझ में आती नही।



भ्रमर-वृत्ति

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से रस ग्रहण करके अपना जीवन-निर्वाह करता है, पर किसी भी पुष्प का विनाश नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है, उसी प्रकार लोक में जो अपरिग्रही श्रेयार्थी मानव हैं, उन्हे दाता द्वारा दिये जाने वाले विविध आलम्बनों से उतना ही लाभ उठाना चाहिये, जितने से अपना निर्वाह ठीक से हो जाये, उनका शोषण और विनाश न हो।

—दशवैकालिक १/२-३

६

मालकियत : बाहर की, भीतर की

☐ आचार्य रजनीश

अपरिग्रह को समझने के लिए परिग्रह को समझ लेना आवश्यक है। परिग्रह का अर्थ है वस्तुओं पर मालकियत की भावना—पजेसिवनेस। वस्तुओं के प्रति ही नही, हम व्यक्तियों के प्रति भी परिग्रही होते हैं।

परिग्रह हिंसा का ही एक आयाम है। सिर्फ हिंसक व्यक्ति ही परिग्रही होता है। जैसे ही हम किसी व्यक्ति या वस्तु पर मालकियत की घोषणा करते है वैसे ही हम गहरी हिंसा में उतर आते है। विना हिंसक हुए मालिक होना असम्भव है। मालकियत हिंसा है। पति मालिक है पत्नी का। पति शब्द का अर्थ ही मालिक होता है। स्त्रियां पति को स्वामी भी कहती है। स्वामी भी पर्याय है मालिक का। परिग्रह का अर्थ है स्वामित्व की आकाक्षा। पिता बेटे का मालिक वन जाता है, गुरु शिष्य का। जहाँ भी मालकियत है वहाँ परिग्रह है, हिंसा है। विना किसी को गुलाम वनाये मालिक नही हुआ जा सकता। विना परतन्त्रता थोपे स्वामी होना असम्भव है।

मनुष्य के मन मे मालिक वनने की आकाक्षा क्यों है? इसका कारण है कि हम अपने स्वामी नहीं है, हमे अपने ऊपर भी अधिकार नही है। जो व्यक्ति अपना मालिक हो जाता है, उसकी मालकियत की धारणा खो जाती है। चूँकि हम अपने मालिक नही है, इसलिए हम इस अभाव की पूर्ति आजीवन दूसरों के मालिक होकर करना चाहते है। लेकिन कोई सारी पृथ्वी का मालिक हो जाय तो भी यह कमी पूरी नही हो सकती। अपना मालिक होना एक आनन्द है, दूसरे का मालिक होना सदा दुःख है। इसलिए जितनी वड़ी मालकियत होती है, उतना वडा दुःख पैदा होता है। पर याद रहे कि दूसरे का मालिक वनकर अपनी मालकियत नही पाई जा सकती है। असल मे मालकियत दोहरी परतन्त्रता है। जिसके हम स्वामी वनते है वह तो हमारा गुलाम वनता ही है, हमे भी उसका गुलाम वनना पड़ता है। मालिक अपने गुलाम का गुलाम होता है। सम्राट जहाँ अपने साम्राज्य का मालिक होता है, वहाँ वह भय का गुलाम भी होता है, क्योकि जिन्हे हम परतन्त्र करते है वे हमारे प्रति विद्रोह और वगावत शुरू करते है, वे भी हमें परतन्त्र करना चाहते है। मालिक और गुलाम मे इतना ही फर्क होता है कि एक की गुलामी दृश्य होती है और दूसरे की अदृश्य। हम जिसे गुलाम वनाते है वह हमे भी गुलाम वना लेता है। वड़े गुलाम वे है जिन्हे

दूसरों के सम्राट होने का भ्रम पैदा होता है और बड़े गरीब वे है जो बाहर की सम्पत्ति से भीतर की गरीबी मिटाना चाहते है। इसी तरह बड़े परतन्त्र वे ही है जो दूसरों को परतन्त्र करके स्वय स्वतन्त्र होने के खयाल में भटकते हैं। कोई भी आदमी किसी को परतन्त्र करके स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जेलखाने के बाहर खड़ा सन्तरी भी उतना ही कैद है जितना जेलखाने मे बन्द कैदी। एक दीवाल के भीतर बन्धा है, दूसरा दीवाल के बाहर। न दीवाल के भीतर वाला भाग सकता है, न दीवाल के बाहर वाला। मजे की बात तो यह है कि दीवाल के भीतर वाला भागने का उपाय भी करता है, बाहर वाला भागने का उपाय भी नही करता। वह इस खयाल मे होता है कि वह स्वतन्त्र है। जिन्दगी के अनूठे रहस्यों में एक रहस्य यह भी है कि हम जिसे बांधते है उससे ही हमें बंध जाना पड़ता है।

परिग्रह की पहली कोशिश यह होती है कि मुझे यह खयाल भूल जाय कि मै अपना मालिक नही हूँ। जितना ही पता चलता है कि मैं अपना मालिक नहीं हूँ उतना ही बाहर की मालकियत को फैलाता चला जाता हूँ। मैं भीतर मालिक क्यो नही हूँ? जो भीतर है उसे मै जानता ही नहीं, इसलिए उसका मालिक होना असम्भव है। बादशाहत इस बात से शुरू होती है कि जितना हूँ उतना ही पर्याप्त हूँ। कोई कमी नही है जिसे मुझे पूरी करनी पड़े, कोई कमी नही है जिसकी वजह से मै खाली रहूँ। बादशाहत एक भीतरी आप्तता है। सब है, इसलिए कोई कमी नही है। लेकिन सम्राट् के पास कुछ भी नहीं है। हम सब भीतर रिक्त है। इस रिक्तता को हम फर्नीचर से, मकान से, यश और पद से भरने की चेष्टा करते है। धन का ढेर लगा देते है, फिर भी भीतर की रिक्तता ज्यों की त्यों रहती है।

मै कहता हूँ कि परिग्रह का सम्बन्ध वस्तुओं से नहीं है, उसका सम्बन्ध वस्तुओं पर मालकियत कायम करने से है। जिस दिन इसका ज्ञान होता है कि मै अपना मालिक हूँ, उसी दिन भीतर की रिक्तता भर जाती है, अन्यथा नही। यह जो अपनी मालकियत है, वह एक विधायक उपलब्धि है। ऐसी मालकियत आते ही बाहर की पकड नही होती।

असल मे जो पाना है वह है दिशा "बीइग" की, और जो हम पा रहे हैं, वह है दिशा "हैविंग" की। जो हम पा रहे है वे है चीजें और जो हमें पाना है, वह है आत्मा। ये चीजे कभी भी आत्मा नही बन सकती। अनेक जन्मो का अनुभव भी हमें इस बात से रोक नही पाता कि हम वस्तु को आत्मा न बना सकेंगे—"हैविंग" कभी "बीइग" नही बन सकता। कभी नहीं। इसलिए महावीर या बुद्ध या जीसस उन लोगों को पागल कहते हैं जो परिग्रह में पड़े हैं।

सुना है मैंने कि डायोजनिज ने सिकन्दर से एक बार पूछा कि अगर तू पूरी दुनिया पा लेगा तो फिर क्या करेगा? यह सुनकर सिकन्दर उदास हो

गया। उसने कहा—ठीक कहते हैं आप, क्योंकि दूसरी तो कोई दुनिया नही है। अगर मैं एक पा लूँगा तो फिर क्या करूँगा ?

आपने कभी सोचा कि आप जो चाहते हैं, वह आपको मिल जाय तो क्या होगा ? अगर हम कभी इस दुनिया में कल्पवृक्ष बना सकें तो प्रत्येक आदमी को महावीर हो जाना पडेगा और सारी दुनिया अपरिग्रही हो जायगी। जैसे ही कोई चीज आपको तत्काल मिल गई, वैसे ही वह बेकार हो गई। आप फिर पुरानी जगह खड़े हो गये। आप एक भूख है, एक खालीपन, एक रिक्तता, जो हर चीज के बाद फिर आगे आकर खड़ी हो जाती है। मनुष्य की वासनाएँ सर्कुलर है, गोल है, इसलिए आशा उपलब्ध बनती हुई दिखाई पड़ती है, बनती कभी नही। हम अपने को धोखा दिए चले जाते है।

हम सोचते है कि एक रुपया हमें मिल जाय तो हम आनन्दित हो जायेंगे। रुपया हमें मिल जाता है, पर हम आनन्दित नही होते। सोचते है, दूसरा मिल जाय। वह भी मिल जाता है, तीसरा भी मिल जाता है, परन्तु आनन्द नहीं मिलता। हम भूल जाते हैं कि दूसरा रुपया भी पहले रुपये की प्रतिलिपि है, कापी है, तीसरा दूसरे की प्रतिलिपि है, वह भी उसी का चेहरा है। ये मिलते चले जाते है और हम इनमें खोते जाते है। करोड रुपये एकत्र हो गये फिर भी आशा ज्यों की त्यों है। इसलिए कभी-कभी हमे हैरानी होती है कि करोड़पति भी एक रुपये के लिए इतना पागल क्यों होता है ? करोड़पति भी एक रुपये के लिए उतना ही दीवाना होता है जितना वह होता है जिसके पास एक भी नहीं है। आपके पास, वह दौड़ता चला जाता है। और कई बार करोड़पति तो और भी कृपण हो जाता है, क्योकि उसका अनुभव बताता है कि करोड़ रुपये हो गये, फिर भी अभी उपलब्धि नही हुई। अब एक-एक रुपये को जितना जोर से पकड़ा जा सके उतना ही ठीक है, क्योकि जीवन चुक रहा है। वह भूल जाता है कि दुनिया में कोई कभी वहाँ नही पहुँचता जहाँ वह पहुँचना चाहता है। फासला सदा वही रहता है जो शुरू करते वक्त होता है। जन्म के दिन जितना फासला होता है, मृत्यु के दिन उतना ही फासला होता है। सिर्फ एक फर्क पडता है। जन्म के दिन सूरज निकलता है, मृत्यु के दिन सूरज ढलता है और अन्धेरा होता है। जन्म के दिन आशाएँ होती है, मृत्यु के दिन विषाद होता है, हार होती है। जन्म के दिन आकाक्षाएँ होती है, अभीप्साएँ होती है, दौड़ने का बल होता है, मृत्यु के दिन थका मन होता है, हार होती है, हम टूट गये होते है। लेकिन फिर भी ऐसा समझने की भूल न करें कि मरता हुआ आदमी परिग्रही हो जाता हो। मरता हुआ आदमी भी यही सोचता है कि काश, थोड़ा वक्त और होता तो दौड़ लेता और पहुँच जाता।

□ □ □

१० अपरिग्रह का स्वरूप

□ श्री जी० एस० नरवानी

ईश्वर के मार्ग में चलने वाले संस्कारी पुरुष सत्कर्मों के द्वारा नाम जप व चिंतन के द्वारा, गीता के निष्काम कर्मयोग के सिद्धांतों का अध्ययन कर सोच लेते है कि व्यवहार मे यदि हम संतोषी है, लोभ-लालच नही करते, व्यर्थ धन एवं वस्तु संग्रह के पीछे नही दौड़ते, तो हम अपरिग्रह का पालन कर रहे हैं। साधारण मनुष्य की बुद्धि इससे आगे कम सोच पाती है।

पातंजलि योग दर्शन मे ईश्वर की मंजिल तय करने के लिए ५ यम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह तथा ५ नियम शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान बताये गये है। यम-नियम का अर्थ ग्रहण व त्याग के है। ये सभी चरित्र-निर्माण मे सहायक होते है। यदि हम केवल ग्रहण ही करते चले जाएँ, त्याग नही करें तो कष्ट होगा। मनुष्य भोजन करता है, अच्छा लगता है परन्तु दूसरे दिन यदि मल-त्याग न करे, अनुग्रहण की इच्छा नही होगी। जलवायु बराबर लेते है, त्यागते रहते है तभी जीवन आनन्द से है। धन, विद्या, वैभव, पुत्र सब सुन्दर वस्तुएँ है, समय पर इन्हें ग्रहण करना उचित है पर कभी इनका त्याग भी करें अथवा अपना नही समझे तो ही आंतरिक आनन्द मिलेगा। रुपया, पैसा, धन का संग्रह, विद्या, बल सभी आत्मा पर बड़ा बोझा है। यदि इनका विचार त्याग दे फिर भले भौतिक दृष्टि से पास में रहे, भोग करते रहे पर आसक्ति नही हो, लिप्त नही हो तो कोई बोझ नहीं। आनन्द ही आनन्द है। ऐसी त्याग की भावना, दूसरों से अधिक सहायता न लेना, इकट्ठा न करना यही अपरिग्रह है।

ऐसी अपरिग्रह की भावना, त्याग की भावना कैसे आए? सामान्यत प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन मे कुछ संचय करना चाहता है। कोई पैसे, कोई रत्न, कोई विद्या, तो कोई उससे भी आगे आत्म तत्त्व भी खोजते है। यह सब जीवन के लिए है। परन्तु आत्म विद्या पाने पर फिर और कुछ प्राप्त करने की इच्छा नही रहती। जब मनुष्य आगे बढते-बढते सत्य ज्ञान अर्थात् विवेक को पा जाता है तो उसको पता लगता है कि मुझे क्या संग्रह करना है और क्या त्याग? विवेकमय ग्रहण व त्याग ही अपरिग्रह है। उसके उपरांत वह जीवन के भार से हल्का हो जाता है।

संसार की वस्तुएँ ग्रहण न करने तक ही अपरिग्रह सीमित नहीं है, मन के संकल्प भी त्यागने होंगे जिनमें वस्तुओं के ग्रहण करने की वासना है। यह ईश्वर-ध्यान के द्वारा ही संभव है। ईश्वर के प्रकाश से जब विवेक उदय होगा तो स्वत: ग्रहण की वासना से मुक्ति मिलेगी। जैसे ससार को रोजाना देखते-देखते संसार हमारे मन में बस गया है, वैसे ही ईश्वर का ध्यान करते-करते संसार की जगह भगवान् बसता जाएगा। फिर ग्रहण की तरफ ध्यान जाएगा ही नहीं।

परन्तु त्यागी में जो त्याग का अहंकार उदय होता है, वह भी त्यागना होगा, तभी सच्चा अपरिग्रह होगा। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस त्याग के अहंकार के शिकार हो जाते है। यह सूक्ष्म अहंकार त्यागना सहज काम नही। अपनी बड़ाई सुनना और प्रसन्न होना, अपने अंतर्मन मे अपने त्याग की भावना को छुपाए रखना भी एक बोझा है जिसके बिना अध्यात्म की सुन्दर पहाड़ी की चोटी पर चढ़ाई करना मुश्किल है। ऐसे सूक्ष्म त्याग का भी त्याग केवल ईश्वर प्राणिधान, समर्पण और सतों की कृपा से ही सभव है। सच्चे संतों के समक्ष बैठकर, विवेक जागृत कर, मन में ईश्वर को बसाकर, अपना हर कर्म यंत्रवत् हो जाने के बाद ही सच्चे अर्थो मे अपरिग्रह सम्भव है।



काबिल नहीं....!

असार संसार से विरक्त एक इंसान पारसी संत आजर कैवान के पास आया और बोला—"हजरत, मैने कसम खायी है कि फानी दुनिया के सारे ऐशो-इशरत छोड़ दूँगा, इस फदे को तोड़ दूँगा।"

संत ने गंभीर स्वर मे कहा—"तुमने ठीक सोचा है।" वही व्यक्ति कुछ दिन बाद फिर आया और कहने लगा—"मै अभी गुदड़ी और फकीरी पोशाक बनवा रहा हूँ। सारे सामान तैयार होते ही मै फकीर हो जाऊँगा।"

सत जोर से हँस पडे—"भाई, सरोसामान छोड़ने के लिए ही कोई दरवेश होता है और तू उसी को जुटाने के लिए परेशान है। अपनी दुनिया में लौट जा। तू अभी फकीरी के काबिल नही है।"

—कल्पना आंचलिया

११

घर से बेघर : मोक्खस्स सोवाणं

□ डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया

विश्व की तमाम धार्मिक मान्यताएं जन्म-मरण के निरर्थक झंझट-मोचन की चर्चा करती है। भारतीय धार्मिक मान्यताओं द्वारा इस दिशा में पहल हुई है। वैदिक, बौद्ध और जैन प्राचीन भारतीय मान्यताओं में आवागमन के चक्रमण से मुक्त होना जीव की उत्तम परिणति कही गयी है। चार पुरुषार्थो—काम, अर्थ, धर्म तथा मोक्ष में इसे उत्तम माना गया है। मुक्ति प्राप्ति में अनेक व्यवधान उल्लिखित है जिनमें परिग्रह का स्थान शीर्षस्थ है। यहाँ परिग्रह पर सक्षेप मे चर्चा करना हमें मुख्यतः अभिप्रेत है।

परिग्रह का अर्थ है- ग्रहण करना। 'परिगृह्यते इति परिग्रहः' अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। 'परिगृह्यते अनेने ति परिग्रहः' अर्थात् जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। यहाँ बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है। इस प्रकार ग्रहण करने की इच्छा ही परिग्रह है—इच्छा परिग्रह.।

परिग्रह का मूल केन्द्र घर है। घर शब्द का गठन वस्तुतः दो अक्षरों की ध्वनियों के समीकरण से हुआ है। 'घ' ध्वनि और 'र' ध्वनि मिलकर 'घर' शब्द का संगठन करती है। अब विचार करे कि इन ध्वनियों का अर्थ—अभिप्राय क्या है ? ये अभिप्राय सार्थ है। 'घ' ध्वनि का अर्थ है घेरा, घिराव, एक जगह को घेरना अथवा घिरी हुई जगह और 'र' ध्वनि का अभिप्राय है एकत्र करना, संग्रह करना अथवा इकट्ठा करना। इस प्रकार जो सामग्री अथवा पदार्थ बाहर विखरा पडा है, उसे एकत्र कर एक सुनिश्चित घेरे में बांधना। घिरे हुए स्थान का नाम घर है। जो पदार्थ-वस्तु परकीय है, विकीर्ण है, उसे संकीर्ण तथा किसी स्वामित्व के अधीन एकत्र करना वस्तुतः परिग्रह है। इस प्रकार घेरे मे घिरी—घर की सामग्री परिग्रह है, जिस पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व है।

विचार करने योग्य बात है कि परिग्रह का मूलाधार क्या है ? परिग्रह का मेरुदण्ड है—मोह। मोह की अनेकानेक प्रकृतियाँ कही गई है। समग्र विभावों का विवेचन और विनिमय मोहजन्य विभिन्न प्रकृतियो के अधीन होता है। परिग्रह पाप है तो मोहवृत्ति महापाप है। सारे पाप की जड़ मोह है। अन्तरग और वहिरंग नामक दो भेदों में परिग्रह की चर्चा की गई है। अन्तरंग परिग्रह मुख्य है। उसी की प्रेरणा से वहिरंग परिग्रह भी पुष्ट होता है। पदार्थ के परिग्रह से

विचार का परिग्रह अधिक सूक्ष्म और सशक्त होता है। विचारो की सूक्ष्म परिणति का नाम वस्तुतः मन है। मन की महिमा अनन्त है। मन की परिधि पर मोह का मनोराज्य चिरंजीवी होता है। इन्द्रिय-भोग संसार का कारण है। भोग की लालसा अनन्तानुवन्धी वंध का आधार है। पेट भरना व्यवहार—विश्व में सर्वथा सार्थ है परन्तु पेटी भरना सर्वथा अनर्थ। पेटी भरना वस्तुत. परिग्रह है। इससे प्राणी घिरता है। घिराव ही बधन है। वंधन वेदना/कष्ट का कारण है। सुख, शाश्वत सुख के लिए वधन/घिराव से विमुक्त होना होता है। परिग्रह का पूर्ण समापन अनन्त आनन्द का कारण होता है। उत्तम अकिचय धर्म धार्मिक लक्षण के जगाने से परिग्रह परिमाण शनै.शनैः कम होने लगता है।

ठठ्ठा शहर का एक पुराना किस्सा है। वहा का बादशाह अपनी वेगम और एकमात्र रूपवती और गुणवती कन्या को पाकर सुख-शान्ति पूर्वक अपनी प्रजा का पालन करता है। अचानक दुर्दिन आते है। महामत्री बगावत करता है। वादशाह को वदी वनाया जाता है और महामंत्री राज सिहासन पर आरूढ हो जाता है। बादशाह को देश निकाला कर दिया जाता है। वादशाह अपनी वेगम के साथ सलौनी कन्या को लेकर जंगल-जगल भटकता है। जब असाता कर्मो का उदय होता है तव संकट चारो ओर से घिरा करते है। कन्या जब वयस्क हो जाती है तव मा-वाप को उसके विवाह की चिन्ता हो जाना स्वाभाविक है। वादशाह को इस चिन्ता के साथ अतिरिक्त चिन्ता इस वात की और है कि उसे ऐसी हालत मे कन्या के लिए वर कहां से मिल सकता है?

सयोग से एक दिन उसी सघन जगल में एक युवक लकडहारा मिला। देखने मे हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर तथा श्रमी? युवक को देखकर बादशाह का मन भर आया। उसने अपनी वेगम से परामर्श किया और तय हुआ कि राजकुमारी को कुछ क्षणो के लिये उसके साथ रहने की सुविधा जुटानी चाहिए ताकि वेटो अपने जीवन साथी के स्वभाव से परिचित हो सके। वादशाह ने ऐसा ही किया। एक दिन शाम को राजकुमारी उस लकडहारे के साथ उसके घर गई जहा उसने अपनी आँखों से देखा कि एक अत्यन्त साधारण सा घर लेकिन साफ-सुथरा। उसमे एक घड़ा, माटी का कटोरा और एक माटी की हाडी। यही उस घर की शोभा-सामग्री उसने पाई। लकडहारे ने तुरन्त खाना पकाया और मिलकर दोनो ने एक साथ भोजन किया। वडा आनन्द आया उन्हें। राजकुमारी ने कहा कि आप आराम कीजिये। मै अभी वर्तन साफ किए देती हूँ। उसने एक रोटी सुवह के लिए वचाकर रखली। लकडहारे ने रोटी का वचाव देख लिया और विरोध व्यक्त करते हुए उसने कहा कि सुवह के लिए एक रोटी वचाना उपयोगी नही है। कल पुन' परिश्रम करेगे और तव नया भोजन पकाया जाएगा। ताजा भोजन का स्वाद ही कुछ और होता है। एक रोटी रात भर हमे निश्चित सोने नहीं देगी। उसकी रक्षा हमे निरर्थक चिन्तित करेगी। खा डालिए उसे अभी

मिलकर। और उसने उस रोटी को भी मिल-बांट कर खा डाला। राजकुमारी अपने मा-बाप के पास लौटकर आई और वहां के सारे वृत्त सुना डाले। बादशाह को लकड़हारे का अपरिग्रही विचार बहुत अच्छा लगा। उसने विचारा—जिस आदमी मे अपने परिश्रम पर इतना अधिक भरोसा है वह जीवन में कभी दुःखी नही रह सकता। अपनी पुत्री के लिए उसने लकड़हारे को मंगेतर स्वीकार किया।

इस किस्से से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमी कभी परिग्रही नही होता। वह जी भरकर परिश्रम करता है और निर्द्वन्द्व रहकर विश्राम करता है।

जिस चर्या में श्रम के प्रति तलाक दे दिया गया है, विपन्नता वहा अनाहूत आ जाती है। श्रम जिन्दगी मे ताजगी पैदा करता है। श्रमहीन जीवन में उपयोग बल निर्बल हो जाता है। विचार करे कि अपरिग्रह भाव जीवन में उपयोग बल बढ़ाता है, जगाता है। उपयोगहीन जीवन मरन की भांति व्यर्थ है। छोटे-छोटे संकल्पों से हम अपना जीवन परिग्रह परिमाण से संयमित कर उसे उपयोग बल से विभूषित कर सकते है।

एक वृत्त का स्मरण हुआ है। एक नगर के बहुत बड़े श्रेष्ठि हैं। अकूत धन है। पत्नी है, पुत्री है। उसे एक ही कष्ट है—पुत्र नही है। बहुत मनौतियां मनाई गई। देवी-देवताओं की पूजा-उपासनाये की गई। संतों की शरण में जाना हुआ और समय आने पर उसे एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बड़े प्यार-दुलार के साथ उसका पालन-पोषण किया गया। वयस्क पर्यन्त उसे किसी प्रकार का कोई अभाव अनुभव नही कराया गया। ऐसी परिस्थिति मे उसकी शिक्षा भी साधारण स्तर की ही हो सकी। अन्ततोगत्वा सेठजी ने विचार किया कि परिवार का दीपक निठल्ला जीवन जिए इससे बड़ा और कष्ट क्या होगा? उसने अनेक विद्वानों और संतों की शरण ली। एक सीख के अनुसार उसने अपने प्रिय पुत्र में सद्संस्कारों को जगाने हेतु प्रयोग किया।

एक दिन सेठजी ने पुत्र को बुलाकर कड़े शब्दों में कहा कि आप नित्य चार बजे दस रुपये लेकर दुकान पर हाजिर होंगे। आदेश पाकर बालक चिंतित हुआ। उदास देखकर उसकी बहिन ने पूछा कि क्या कारण है तुम्हारी उदासी का? बालक ने सारी घटना कह सुनाई। बहिन ने कहा कि लो दस रुपये और उदासीनता का त्याग कीजिए मेरे प्यारे भाई। नियत समय पर वह दुकान पर पहुँचा। सेठजी ने पूछा—कहिए बरखुरदार दस रुपये लाए है क्या? उसने दस रुपए दिखाते हुए कहा, लाया हूँ। सेठजी ने कहा कि उन्हें अंगीठी मे जला दीजिए। बालक ने तुरन्त रुपये जला दिये। सेठजी ने विचार किया कि कदाचित

वहिन ने यह सहायता की होगी अतः उसने उसे माताजी के यहा पहुँचा दिया।

अव बालक के सामने समस्या आ खडी हुई। माताजी ने लाड़ले को उदासीन देखकर कारण पूछा, जिसे उत्तर देते हुए लाडले ने बताया कि पिताजी के पास दस रुपये लेकर पहुँचना है। माता ने नाहक परेशान होने की बात दुहराई और राजा बेटे को तुरन्त दस रुपये लाकर दे दिये। राजा बेटा निश्चित समय पर दस रुपये लेकर पिताजी के पास हाजिर हुआ। पूर्व की भाति उन्होने पूछा—रुपये लाये हो ? उसने कहा दस रुपये लाया हूँ। इन्हे भी अग्नि में जला दीजिए। उसने ऐसा ही किया। पड़ताल कर उसने माताजी को भी उसकी ननिहाल पहुँचा दिया। इस वार राजा बेटा के सामने वडी समस्या उठ खड़ी हुई। बहुत कुछ विचारने के बाद उसने सोचा कि अव उसे स्टेशन जाकर मजदूरी करना चाहिए। वह पूरे दिन मजदूरी करके कठिनाई पूर्वक केवल दो रुपये पैदा कर पाया। कुछ लेट वह पिताजी के सामने हाजिर हुआ। पिताजी ने सविलम्ब आते हुए राजा बेटा से पूछा, रुपये लाये है ? उसने कहा कि आज बडी मुश्किल से दो रुपये ही ला पाया हूँ। उसने कारण पूछे बिना उन्हें अंगीठी में जलाने का आदेश दिया। उसे सुनकर अव की बार वह जरा गरम हो गया और झल्ला कर बोला कि बड़ी मुश्किल से सारे दिन परिश्रम करने के बाद दो रुपये कमा पाया हूँ और आपने कह दिया कि जला दीजिये। यह सुनकर सेठजी बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा कि आज रुपये का सही मूल्य आंका गया है। हर रोज दस रुपयों को अंगीठी मे जलाने मे कोई कष्ट नही होता था। आज रुपयो के उपयोग का ज्ञान उदय हुआ है। कारण स्पष्ट है कि आज परिश्रम किया गया है रुपयो के अर्जन करने में। श्रम के साथ उपयोग शक्ति का संचार होने लगता है। उन्होंने कहा—मेरे वेटे, मुझे भारी प्रसन्नता है कि अव तुम मे श्रम के सस्कार पैदा होने लगे है।

परिग्रह पदार्थ के उपयोग का वल क्षीण करने लगता है। श्रम के अभाव मे विलासिता और विमूढता के संस्कार जागृत होने लगते है। और ऐसी परिस्थिति मे प्राणी मूर्छित जीवन जीने का अभ्यासी होने लगता है। जागृत जीवन जीने के लिए चर्या मे श्रम के संस्कार जगाने पड़ते है। विचार करे कि श्रमी सदा अपरिग्रही होता है। अपरिग्रही सदा सुखी रहता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय है। कपाय जीवात्मा को प्रायः कसा करते है। कसी आत्मा पराधीन हो जाती है। पराधीन जीवनचर्या सदा परिग्रही होती है। कोई भी प्राणी काम और अर्थ-अर्जन मे पराधीन रह सकता है किन्तु धर्म और मोक्ष नामक पुरुषार्थो को प्राप्त करने के लिए उसे स्वाधीन होना आवश्यक होता है। स्वाधीन हुए विना कोई प्राणी कभी धार्मिक

और मोक्ष पुरुषार्थ को अपने अन्तरंग में उजागर नहीं कर सकता है। अन्तरंग और बहिरंग अर्थात् सभी प्रकार के परिग्रह का परित्याग किये बिना कोई प्राणी कभी आत्मिक पवित्रता प्राप्त नही कर सकता। पवित्रता सदा स्वाधीन होती है। स्वाधीन आत्मा के सारे बंधन निर्बंध हो जाते है। निर्बंध अवस्था ही उसकी मुक्तावस्था होती है। इस प्रकार यह सहज में कहा जा सकता है कि परिग्रह सासारिक परिधि का चक्रमण है जबकि अपरिग्रह मोक्ष केन्द्र तक पहुँचने का सोपान।



बहुमूल्य रत्न

मगधाधिपति अशोक आस-पास के राज्यो को जीतकर अपने भडार को रत्नों से भरता जाता था और मन को दर्द से। राजगृह का एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु पाटलिपुत्र पहुंचा, तो अशोक ने उसे भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजनोपरात अपना विशाल रत्न-भंडार भिक्षु को दिखाते हुए अशोक ने एक वडा रत्न हाथ मे लेकर कहा—'भिक्षुराज ! ऐसा बहुमूल्य व विशाल रत्न भारतवर्ष में दुर्लभ है।' भिक्षु बोला—'राजन् ! रत्न तो बहुमूल्य पत्थर ही है, या अन्य वस्तु ?'

'रत्न पत्थर ही है महाराज !'

भिक्षु बोला—'राजन् ! तुम्हारे ही राज्य मे मैंने इससे भी कीमती रत्न-पत्थर देखे है। विश्वास न हो, तो मेरे साथ चलो, वे जहां हैं मैं दिखा सकता हूँ।'

अशोक भिक्षु के साथ चल पड़ा। नगर के छोर एक कुटिया के पास भिक्षु रुका और उसमें रखी पत्थर की चक्की की ओर संकेत करके बोला—'यह रहा वह बहुमूल्य रत्न-पत्थर।'

'यह तो चक्की है।'

'हां ! इससे इस कुटिया में रहने वाली वृद्धा को रोज भोजन मिलता है। क्या तुम्हारे कोई रत्न-पत्थर किसी को रोटी या रोजी देते है ? ऊपर से उनकी रक्षा के लिए तुम पहरेदारों पर बहुत धन खर्च करते हो। उन्हे पाने के लिए न जाने तुमने कितनो का रक्त बहाया है, और कौन कह सकता है कि भविष्य मे भी कितनो का रक्त बहेगा। ये पत्थर जीवन देते है, तुम्हारे पत्थर मृत्यु।'

कहते है, महल में लौटकर सम्राट अशोक ने उसी दिन संपूर्ण रत्न-भण्डार दान कर दिये।

—डॉ. भैरूंलाल गर्ग

१२

अपरिग्रह : स्वरूप और शर्त

□ डॉ० दयानन्द भार्गव

परिग्रह-वृत्ति के मूल मे एक गहरी भूल है। हम मान रहे है कि हम दुःखी इसलिये है कि हमारे पास सुख-सामग्री कम है जबकि हमारे दुःख का वास्तविक कारण यह है कि हम अपने स्वरूप को विस्मृत किये हुए है। अनन्त सुख का सागर हम में उपस्थित है। हमारी वेदना वस्तुतः यह है कि हम उस सुखसागर के सहज अधिकारी होकर भी उसके संस्पर्श से वंचित है किन्तु प्रतीति मे यह आता है कि हम परिग्रह के अभाव से दुःखी है। आत्मानन्द के अभाव की पूर्ति हम भोगानन्द से करना चाहते है। भोगानन्द आत्मानन्द से गुणात्मक रूप (क्वालिटेटिवली) से भिन्न है। भोगानन्द का परिणाम (क्वान्टीटी) बढ जाने से यह गुणात्मक भेद की खाई नही पट सकती। अतः परिग्रह कितना भी क्यों न बढ़ जाये, हमारी वेदना शान्त नही होती।

परिग्रह के संचय से वेदना शान्त नही होती किन्तु हम उसकी व्याख्या सदा इस प्रकार कर लेते है कि परिग्रह की अल्पता के कारण वेदना शान्त नही हो रही है। अतः हमारा सारा प्रयत्न परिग्रह के परिमाण को बढाने में लगा रहता है। हमारी इस भ्रमात्मक दृष्टि का भी एक कारण है। आपाततः हमें दु.ख का कारण परिस्थिति की प्रतिकूलता प्रतीत होता है। परिग्रह परिस्थिति की प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल देता है। फिर भी सुख नही हो पाता क्योंकि सुख परिस्थिति की अनुकूलता से नहीं, कर्मों की लघुता से उत्पन्न होता है। परिग्रह कर्मो के भार को हल्का नही करता बल्कि बढा देता है। अत. परिग्रह अन्ततोगत्वा दुःख को ही जन्म देता है।

सुख की यात्रा का प्रारम्भ विन्दु सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—स्व तथा पर के स्वरूप का निश्चय। इस निश्चय के होते ही व्यक्ति की दिशा वदल जाती है। जो वाहर सुख ढूँढ रहा था वह आन्तरिक सुख की अभीप्सा करने लगता है। यही अपरिग्रह का प्रारम्भ बिन्दु वन जाता है। दर्शन मोहनीय के टूटने पर चारित्र मोहनीय का टूटना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों अन्तर का मोह क्षीण होता है, वाह्य पदार्थो के प्रति आसक्ति भी क्षीण होने लगती है तथा ज्यो-ज्यो वाह्य पदार्थो का त्याग वढता है, त्यों-त्यो अन्तर का मोह क्षीण होने लगता है। यह मूर्च्छा से जागृति की ओर जाने की प्रक्रिया है।

परिग्रह मूर्च्छा है तो अपरिग्रह जागृति है। जागृति मायाजाल को छिन्न-भिन्न कर देती है। जागरण जैन संस्कृति का मूल मन्त्र है। उत्तेजना का जीवन मूर्च्छा का जीवन है। जागरण का जीवन आत्मरमण का जीवन है। जो आत्मा के प्रति जागरूक है वह मानो सांसारिक वैभव के प्रति सो जाता है। जो सांसारिक वैभव के प्रति जागरूक है वह आत्म वैभव के प्रति सुप्त है। चेतना स्वयं रसमय है, उसे आनन्द के लिये किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नही—जो इस तथ्य को जान लेता है उसके लिये परिग्रह स्वतः ही त्याज्य हो जाता है। ऐसे अपरिग्रह फलित होने पर हिंसा, झूठ, चोरी तथा मैथुन भी स्वयं ही छूट जाते है। अतः परिग्रह ही समस्त पाप का मूल है।

अपरिग्रह की एक शर्त सशक्त होना है। परिग्रह एक सहारा है। सहारा उसे चाहिये जो स्वयं समर्थ नही है। अतः जो परिग्रह की खोज करते है, वे अपनी आन्तरिक निर्बलता को ही अभिव्यक्त करते है। जैसे अहिंसा के लिये बलवान होना आवश्यक है उसी प्रकार अपरिग्रह के लिये भी अपने आप मे ही परिपूर्ण होना आवश्यक है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं मे परिपूर्ण है; उसे बाहरी सहारे की आवश्यकता ही नहीं तथा यदि कोई अज्ञानवश बाहरी सहारा चाहता भी है तो उसे निराशा ही हाथ लगती है। महावीर ने स्वावलम्बन का उपदेश दिया। आलम्बन तो परमात्मा का भी श्रेयस्कर नहीं फिर धन का आलम्बन लेना तो महामूर्खता है। महावीर का सन्देश है—अपनी शक्तियो को पहचानो, तुम्हे किसी बाहरी सहारे की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

अपरिग्रह की दूसरी शर्त श्रमशीलता है। हम परिग्रह का सचय इसलिये करते है कि श्रम से बचना चाहते है। पशु-पक्षी प्रतिदिन के श्रम का फल प्रतिदिन भोगते है। मनुष्य एक बार ही इतना सचय कर लेना चाहता है कि जीवन भर कुछ भी श्रम किये बिना ही सब सुख मिलते रहें। जैन धर्म संग्रह मे नही, श्रम में विश्वास करता है। जैन धर्म का एक पुराना नाम 'श्रमण धर्म' है। जैन साधु का जीवन तो कठोर श्रम तथा स्वावलम्बन का उत्तम निदर्शन है।

अपरिग्रह की तीसरी शर्त अहिंसा है। अहिंसा जैन धर्म का पर्यायवाची बन चुकी है। दूसरे को—चाहे वह पदार्थ जड हो या चेतन—अपने अधीन बनाकर रखने की इच्छा हिंसा है। अतः समस्त परिग्रह हिंसा है। परिग्रह के साथ अहिंसा का कोई तालमेल नही है। वस्तुत. परिग्रह ही समस्त हिंसा का कारण है। अपरिग्रह को अहिंसा की अनिवार्य शर्त मानना जैन धर्म की अपनी विशेषता है। इसी तथ्य को कला के क्षेत्र में इन शब्दों मे कहा जाता है कि त्याग प्रेम की अनिवार्य शर्त है। प्रेम देने मे सुख मिलता है, लेने मे नही। जहाँ लेने में सुख है, वह वासना है, प्रेम नही।

अपरिग्रह की चौथी शर्त कुशलता है। जो अकुशल है वह सदा भयभीत रहता है कि न जाने उसे कब किस संकट का सामना करना पडे। कुशल व्यक्ति

को सदा यह आत्म-विश्वास रहता है कि वह अपनी कार्यकुशलता से जहाँ चाहेगा वहाँ अपनी आवश्यकता के उपकरण जुटा लेगा। उसे भविष्य के लिये संग्रह करने की आवश्यकता अनुभव नही होती। बौद्ध परम्परा में कुशल शब्द प्रसिद्ध है। जैन परम्परा में उसके स्थान पर अप्रमत्त शब्द प्रचलित है। हिन्दू परम्परा में कर्म कुशलता को ही योग कहा गया है। देखा जाये तो किसी भी कार्य की सफलता के पीछे चाहे वह कार्य लौकिक हो चाहे अलौकिक—अप्रमाद एव कर्म-कुशलता ही रहती है।

अप्रमाद अथवा जागरूकता की जैन परम्परा ने एक विशिष्ट व्याख्या की है। प्रत्येक क्रिया के दो पक्ष रहते है—एक द्रव्य, दूसरा भाव। द्रव्य क्रिया का अर्थ है यान्त्रिक रूप में किया गया क्रिया का वाह्य रूप। भाव क्रिया का अर्थ है क्रिया के साथ कर्त्ता के भाव का तादात्म्य। द्रव्य क्रिया मे मन कही, तन कहीं होता है। भाव क्रिया मे शारीरिक क्रिया के साथ पूर्ण मनोयोग रहता है। कुशलता अथवा जागरूकता का अर्थ है हमारी प्रत्येक क्रिया भाव क्रिया हो, द्रव्य क्रिया नही। यही अप्रमाद है। ऊँचे स्तर पर जहाँ भेद-विज्ञान बना है, वहाँ द्रष्टा-साक्षी भाव बनाये रखते हुए क्रिया करना भाव क्रिया है। यह भाव क्रिया ही अपरिग्रह का मूल है। इस भाव क्रिया के कारण ही साधु के उपकरण उसके परिग्रह नही बन पाते। जिसमे यह भाव क्रिया नही है वह लौकिक दृष्टि से भले ही अकिञ्चन भी क्यों न हो किन्तु अपरिग्रही नही है। यदि ऐसा न मानेंगे तो समस्त पशु-पक्षी अपरिग्रह महाव्रती मानने होंगे।



यदि तुम थोड़े ही मे अपना काम अच्छी तरह चलाना चाहते हो तो किसी चीज में पैसा लगाने से पहले स्वयं अपने से दो प्रश्न पूछ लिया करो—

१. क्या मुझे सचमुच इस चीज की जरूरत है ?

२. क्या इसके विना भी मेरा काम चल सकता है ?

—सिडनी स्मिथ

• • •

तन और धन की ममता को छोड़ने की अपेक्षा मन की ममता को छोडना कही अधिक कठिन है। तन का परिग्रह, धन का परिग्रह ये दोनो बाह्य परिग्रह है। महिमा-पूजा की कामना से, नाम के लिए, किसी भी प्रकार की लोकैषणा के लिए तप, जप, दान आदि कोई भी कार्य करना मन का परिग्रह है।

—आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा०

१३

अपरिग्रह : मानसिक स्वास्थ्य एवं सामाजिक सुव्यवस्था की आधारशिला

◇ श्री हरिभाई कोठारी

भगवान महावीर की दृष्टि से तो निःस्पृहता का ही दूसरा नाम है अपरिग्रह। स्पृहा ही मनुष्य को परिग्रह करने के लिये लालायित करती है। "निःस्पृहस्य तृणं जगत्"—निःस्पृही मनुष्य के लिए जगत के सभी पदार्थ तृण के समान है। संत साहित्य में उचित ही कहा गया है कि—

"चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह,
जिनको कछु न चाहिए, वे शाहन के शाह ।"

सम्राट सिकन्दर ने एक बार किसी एक फकीर से कुछ मांगने को कहा। फकीर ने कहा, "मुझे किसी चीज की आवश्यकता ही नही है।" सिकन्दर ने जब अपने आग्रह को बार-बार दोहराया तो अन्त में फकीर ने कहा, "ठीक है, तू अगर मुझे कुछ देना ही चाहता है तो जरा बाजू भर खिसक जा क्योंकि तू बीच में खड़ा रहकर मुझे प्राप्त होने वाली सूर्य किरणों को रोक रहा है।" सिकन्दर यह सुनकर दंग रह गया, उसने उस फकीर के सामने अपने आप को कंगाल महसूस किया।

निःस्पृहता के मूर्तिमंत स्वरूप मरीचि ऋषि का वर्णन करते हुए, महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में लिखा है—

"प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्म रेणुकपिशे धर्माभिषेक क्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विलुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥"

अर्थात् "कल्पवृक्षों के वन में रहकर भी ये लोग वायुसेवन ही करते हैं। जलक्रीड़ा के लिए उपयुक्त जल से ये मुनि धर्माभिषेक क्रिया ही करते है। रत्न जड़ित शिलाओं पर बैठकर ये लोग ध्यान करते है और सुन्दर अप्सराओं के समूह में भी ये संयमी रहते है। अन्य लोग जिन चीजों की प्राप्ति के लिए तप करते है, वे सारी चीजे उपलब्ध होते हुए भी ये मुनि तपश्चर्या कर रहे है।"

"Simple living and high thinking" को अपना आदर्श मानने वाले ये महानुभाव कल्पवृक्ष से कुछ मांगने में भी छोटापन महसूस करते है। कल्प याने इच्छा, इस दृष्टि से इच्छा पूर्ति करने वाले वृक्ष को कल्पवृक्ष कहते है। इच्छा पर ही जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, वे भला कल्पवृक्ष से क्या मागेंगे और क्यों मागेंगे ?

ऐसे अपरिग्रही मानव की बड़ाई करते हुए उम्मर खय्याम ने अपनी एक रुबाई मे कहा है—

"सिर्फ आधी रोटी पर ही जो गुजारे दिन तमाम,
जिसको दो गज से जियादा, हो नही धरती से काम।
इस जगत में जो किसी का दास कि स्वामी न हो,
ऐसे महा नर के जीवन आदर्श को सौ-सौ सलाम ।।"

ज्ञानराणा शिव और भगवान महावीर का दिगम्बर स्वरूप इस बात का द्योतक है कि ज्ञानी को किसी भी बात की आवश्यकता नही रहती। सच्चा ज्ञानी तो अपरिग्रह के चरम शिखर पर विराजमान होता है। विभूति को वैभव समझने की हिम्मत रखने वाला ही परम ज्ञानी कहलाता है।

वैसे भी हमारा जीवन एक यात्रा ही है और यात्रा मे तो सामान जितना कम रहता है सुविधा ज्यादा रहती है।, Travel light यह प्रवासियो को दी जाती सूचना जीवन-प्रवासियो के लिए भी उतनी ही उपयुक्त है।

'अति सर्वत्र वर्जयेत्' 'Excess in everything is bad.' परिग्रह का भी 'अति' हानिकारक सिद्ध होता है। कामना की तृप्ति कभी होती ही नही है। "It is the fundamental nature of craving not to be fully satisfied." राजर्षि मनु ने 'मनुस्मृति' मे इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है—

"न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविसा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।"

अर्थात् "कामनाओ के उपभोग से काम कभी शांत होता नही है, उलटे वह ज्यादा प्रज्वलित होता है जैसे कि आहूति देने से अग्नि ज्यादा प्रज्वलित होती है।"

टॉल्सटॉय ने इस बात को पुष्ट करते हुए एक बड़ी अच्छी कहानी लिखी है। एक आदमी को जमीन की बड़ी लालसा थी। वह लोभी अधिक से अधिक जमीन जुटाने मे लगा हुआ था। एक बार उसे एक फरिश्ता मिल गया।

फरिश्ते ने उससे पूछा, 'तुम्हें क्या चाहिये ?' उसने कहा, 'मुझे जितनी दे सको उतनी जमीन चाहिए।'

फरिश्ते ने कहा—'ठीक है ! अब सूर्य उदय हो रहा है, तुम दौड़ना शुरू करो। सूर्यास्त तक वापस लौट आना। जितनी जमीन पर तुम दौड़कर आओगे, वह सारी जमीन तुम्हारी हो जायेगी।' लोभवश उस आदमी ने तो जान की बाजी लगाकर दौड़ना शुरु कर दिया। अधिक से अधिक जमीन प्राप्त करने की लालसा में वह बहुत लम्वा निकल गया। सूर्यास्त के समय जब वह वापस लौटा तो फरिश्ता जहां खड़ा था, उससे एक दो फर्लांग दूर ही गिर पड़ा। उसे खून की उल्टी हुई और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। ढेर सारी जमीन को माप कर आया हुआ वह मनुष्य दो गज जमीन को प्यारा हो गया। टॉलस्टॉय ने कहानी को शीर्षक दिया है— "How much land does a man need ?"

(परिग्रह की तृष्णा कभी खत्म ही नहीं होती। इसी तृष्णा के आधार पर तो मनुष्य धनी या कंगाल कहलाता है। राजर्षि भर्तृहरि ने लिखा है—

"वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्याः।
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥"

(अपरिग्रही मुनि राजा से कहता है) "हे राजन् ! हम वल्कल से संतुष्ट है और आप लक्ष्मी से तृप्त हैं। इस दृष्टि से देखने पर हममें कोई भेद नही है क्योंकि दोनों का संतोष समान है। दरिद्र तो वही है जिसकी तृष्णा अधिक है। मन के संतुष्ट होने पर न कोई दरिद्री है, न कोई धनी।"

परिग्रह का एक अर्थ है, देह रक्षा के लिए जितना आवश्यक है उससे अधिक का संग्रह करना। इस विषय में आद्य शंकराचार्य ने लिखा है—

क्षुद् व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्,
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम्।"

अर्थात् "क्षुधा को व्याधि समझकर प्रतिदिन भिक्षा रूपी अन्न का औषध लेकर उसकी चिकित्सा करो। स्वादिष्ट अन्न की याचना मत करो और विधिवशात् जो प्राप्त हो उसमें संतोष मानो।" औषधि की तरह अन्न का सेवन भी जरूरी मात्रा में ही करना चाहिये।

'भगवद् गीता' में भी कहा है कि 'योगी पुरुष को 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' याने सर्व प्रकार के भोग पदार्थो का त्याग करके ही रहना चाहिए। आगे बढ़कर गीताकार ने कहा है कि योगी को 'यदृच्छालाभसतुष्टो' याने भगवदिच्छा से, विना मांगे जो कुछ मिले, उसी में संतोष मानना चाहिये। अपरिग्रही मनुष्य जब अयाचक व्रत का पालन करता है तव उसकी कडी कसौटी होती है और उससे पार उतरने पर ही वह महिमावान बनता है।

परिग्रह के मूल मे विश्वास का अभाव है। अनिश्चित भावी की फिकर मनुष्य को परिग्रह करने के लिए प्रेरित करती है। 'मेरे लिए जो चीज, जब भी आवश्यक होगी तव वह मुझे प्राप्त हो ही जायेगी' ऐसा दृढ विश्वास मनुष्य को अपरिग्रह व्रत का पालन करने की शक्ति प्रदान करता है। 'फिकर की फाकी करे, उसका नाम फकीर।'

अकवर बादशाह ने एक वार किसी एक फकीर से पूछा, 'क्यो फकीर जी ! तुम्हारी रात कैसे गुजरी ?' फकीर ने हसकर जवाव दिया, 'जहांपनाह ! कुछ तुम्हारे जैसी और कुछ तुमसे भी अच्छी गुजरी।' बादशाह ने पूछा, 'वो कैसे ?' फकीर ने कहा, 'जो रात नीद मे गुजरी वो तुम जैसी ही गुजरी और जो जागृति मे वीती वह तुमसे अच्छी वीती, क्योंकि जागृति में तुम भोग में रमण थे और मैं योग में संलग्न था।'

भीतरी अनासक्ति ही मानव को सच्चा अपरिग्रही बनाती है। परिग्रह की लालसा मानव के सहज जीवन विकास मे रुकावट पैदा करती है। बाह्य साधनों को जुटाने मे व्यस्त मनुष्य अपने आंतरिक सत्व को खो बैठता है। बाह्याडवर के नाद मे पकड़कर वह अपने आत्म धन को नष्ट कर देता है। "The more you have, the less you are and the less you have, the more you are"

मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी अपरिग्रह का पालन अत्यावश्यक है। भारतीय अर्थशास्त्र मे लिखा है,

"अकृत्वा परसंताप, अगत्वा खलमदिरम्।
अक्लेशयित्वा चात्मान, यदल्पमपि तद्बहुः॥"

"दूसरे को संताप पहुँचाये विना, दुष्ट के द्वार पर गए विना और अपने आत्मा को क्लेश पहुँचाये विना जो थोडा भी प्राप्त होता है, उसे वहुत समझो।"

अर्थोपार्जन करना कोई गुनाह नही है किन्तु उसकी मर्यादा को समझना चाहिए। अर्थ का विनियोग भी सही ढंग से होना चाहिए। इस बारे मे लिखा है कि,

पर पदार्थों के प्रति आसक्ति न हो—यही भगवान् महावीर के अपरिग्रह सिद्धान्त का मूल लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को जीवन में आत्मसात् करने पर शान्ति, समता एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। दुःख अपना झोली-झंडा समेट कर भाग जाता है। निराशा, असंतोष एवं नीरसता के बादल छँट जाते है। सदैव प्रेम, दया एवं करुणा की अजस्रधारा प्रवाहित होने लगती है। बन्धन का अंत एवं मुक्ति का उदय होता है। पराधीनता की बेड़ियाँ टूट जाती है। 'ईशावास्योपनिषद्' मे भी आसक्ति को छोड़ने हेतु प्रेरित करते हुए कहा है—

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृद्धः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

अर्थात् इस ससार के पदार्थों का त्याग भाव से भोग करो तथा किसी के धन के प्रति आसक्त मत होओ। त्याग भाव से भोग करने का अर्थ है—आसक्ति-त्याग अथवा अपरिग्रह। त्यागभाव के कारण भोग्य पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित नही होता फलस्वरूप परिग्रह नही होता। यही भाव 'भगवद्गीता' में भी है। श्रीकृष्ण फल की कामना से रहित होकर कार्य करने की प्रेरणा देते है। फल की कामना ही आसक्ति को जन्म देती है और उससे रहित होने पर जो कार्य किया जाता है वह बाँधता अथवा जकड़ता नही है। प्राणी तनावग्रस्त नही होता। वह परिग्रह से परे रहता है।

'कठोपनिषद्' में एक कथा आती है जिसमें यम से नचिकेता आत्मा की अमरता के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है और जानना चाहता है कि आत्मा क्या है। यम नचिकेता की परीक्षा लेने हेतु उत्तर को टालते हुए धन-सम्पत्ति, भौतिक सुख-समृद्धि एवं ऐश्वर्य का प्रलोभन देता है। वह कहता है—हे नचिकेता! तुम सौ-सौ वर्षो तक जीने वाले पुत्र एवं पौत्रों को मांग लो। गाय, भेड़, हाथी, स्वर्ण, घोड़े और विशाल भू-मण्डल के साम्राज्य को मांग लो तथा इन सबको भोगने के लिए सैकड़ों वर्षो तक जीवित रहो।[1] किन्तु नचिकेता इनकी यथार्थता को जानता है और कहता है—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः', अर्थात् मनुष्य कभी भी धनादि द्वारा तृप्त नही किया जा सकता। वह कहता मुझे मात्र आत्मा की अमरता के रहस्य को जानना है। ये सब धनादि तो [illegible] हैं।

हम धन की अभिवृद्धि मे लगे रहते हैं किन्तु तृप्ति दूर भागती नजर है। धनाकांक्षा का कही अंत नही है। यौवन से वृद्धावस्था तक पहुँचने

---

१. पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
...यतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥
(कठोपनिषद्–१-१-२३)

गया। संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य कवि कालिदास ने अपनी प्रसिद्ध कृति "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में 'परिग्रह' शब्द का प्रयोग 'स्त्री' के अर्थ में ही किया है।[1] धीरे-धीरे आसक्ति के विस्तार के साथ-साथ परिग्रह के अर्थ का भी विस्तार होता गया। गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं को परिग्रह कहा जाने लगा। तदनन्तर भूमि, भवन एवं अन्य भोग्य-पदार्थों को भी परिग्रह के परिसर मे समाविष्ट किया गया। आज वैज्ञानिक अनुसंधान के परिणामस्वरूप भोग्य-पदार्थों की अगणित वृद्धि हुई है। विविध प्रकार की सुख-सुविधाओं का विस्तार हुआ है। घड़ी, रेडियो, टेलीविजन, स्कूटर, कार, टेलीफोन, कूलर, रेफ्रीजिरेटर एवं एयरकंडीशनिंग तो साधारण सुविधाएँ है, जो प्रत्येक परिवार के लिए आवश्यक बन गई है। अन्य और भी पदार्थों का संग्रह करने की मनोवृत्ति मनुष्य में जन्म लेती जा रही है, किन्तु पदार्थ अनन्त हैं, उनका कोई पार नहीं तथापि वस्तुओं का संग्रह-रूप परिग्रह सीमित होता है। जिन पदार्थों के प्रति आसक्ति है वे ही परिग्रह की परिभाषा मे प्रवेश कर पाते हैं, अन्य पदार्थ नही। 'तत्त्वार्थ' सूत्र मे इस आसक्ति को मूर्च्छा शब्द से अभिव्यक्त करते हुए कहा है—'मूर्च्छा-परिग्रहः' अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है।

एक समय ऐसा आया जब परिग्रह शब्द के अर्थ का अत्यधिक ह्रास हो गया और कहा जाने लगा—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना ही परिग्रह है। यह परिभाषा निस्सदेह सदेहोत्पादक है। आवश्यकता को परि-भाषित करना दुस्तर सागर को तैरने से कम नही है। प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता के मानदण्ड भिन्न-भिन्न हो सकते है और होते हैं यही कारण है कि अमेरिका में जो पदार्थ व्यक्ति की आवश्यकता के रूप मे गिने जाते हैं वे ही भारत में विलासिता (Luxury) के रूप में गिने जाते हैं। सारे अर्थशास्त्री मिलाकर भी आवश्यकता के विषय में एकमत नही हो सकते है तो फिर उस पर आधारित परिग्रह की परिभाषा को कैसे निश्चित किया जाए।

'न परिग्रहः इति अपरिग्रहः।' अपरिग्रह शब्द मे नञ् समास है। न अर्थात् 'अ' का संस्कृत भाषा मे छह अर्थों में प्रयोग होता है—सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध। इन अर्थों मे से यहाँ पर अभाव अर्थ में प्रयोग हुआ है अतः अभाव अर्थ में अपरिग्रह का अर्थ होगा—परिग्रह का न होना। परिग्रह का सर्वथा अभाव ही अपरिग्रह है।

महावीर बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार से परिग्रह-मुक्त थे। उनके साथ शरीर था किन्तु उनका परिग्रह नहीं था क्योंकि शरीर में उनकी आसक्ति नहीं थी।

---

१ परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्—३-१७)

पर पदार्थों के प्रति आसक्ति न हो—यही भगवान् महावीर के अपरिग्रह सिद्धान्त का मूल लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को जीवन में आत्मसात् करने पर शान्ति, समता एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। दुःख अपना झोली-झंडा समेट कर भाग जाता है। निराशा, असंतोष एवं नीरसता के बादल छँट जाते है। सदैव प्रेम, दया एवं करुणा की अजस्रधारा प्रवाहित होने लगती है। बन्धन का अंत एवं मुक्ति का उदय होता है। पराधीनता की बेड़ियाँ टूट जाती है। 'ईशावास्योपनिषद्' में भी आसक्ति को छोड़ने हेतु प्रेरित करते हुए कहा है—

"ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृद्धः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

अर्थात् इस संसार के पदार्थों का त्याग भाव से भोग करो तथा किसी के धन के प्रति आसक्त मत होओ। त्याग भाव से भोग करने का अर्थ है—आसक्ति-त्याग अथवा अपरिग्रह। त्यागभाव के कारण भोग्य पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित नही होता फलस्वरूप परिग्रह नही होता। यही भाव 'भगवद्गीता' में भी है। श्रीकृष्ण फल की कामना से रहित होकर कार्य करने की प्रेरणा देते है। फल की कामना ही आसक्ति को जन्म देती है और उससे रहित होने पर जो कार्य किया जाता है वह बाँधता अथवा जकड़ता नही है। प्राणी तनावग्रस्त नहीं होता। वह परिग्रह से परे रहता है।

'कठोपनिषद्' में एक कथा आती है जिसमें यम से नचिकेता आत्मा की अमरता के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है और जानना चाहता है कि आत्मा क्या है। यम नचिकेता की परीक्षा लेने हेतु उत्तर को टालते हुए धन-सम्पत्ति, भौतिक सुख-समृद्धि एवं ऐश्वर्य का प्रलोभन देता है। वह कहता है—हे नचिकेता! तुम सौ-सौ वर्षो तक जीने वाले पुत्र एवं पौत्रों को मांग लो। गाय, भेड़, हाथी, स्वर्ण, घोड़े और विशाल भू-मण्डल के साम्राज्य को मांग लो तथा इन सबको भोगने के लिए सैंकडों वर्षों तक जीवित रहो।[1] किन्तु नचिकेता इनकी यथार्थता को जानता है और कहता है—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः', अर्थात् मनुष्य कभी भी धनादि द्वारा तृप्त नही किया जा सकता। वह कहता है मुझे मात्र आत्मा की अमरता के रहस्य को जानना है। ये सब धनादि तो विनश्वर है।

हम धन की अभिवृद्धि मे लगे रहते है किन्तु तृप्ति दूर भागती नजर आती है। धनाकांक्षा का कही अंत नही है। यौवन से वृद्धावस्था तक पहुँचने

१ शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून् पशून् हस्तिहिरणयमश्वान्।
भूमेर्महदायतन वृणीष्व स्वय च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।
(कठोपनिषद्–१-१-२३)

पर भी धन की लालसा अर्थात् तृष्णा तरुण रहती है। तृष्णा की आग का शमन करने के लिए ही परिग्रह-परिमाण एव उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रतों की प्रेरणा दी गयी है। ये दोनों व्रत साधन है—अपरिग्रह एव अनासक्ति तक पहुँचने के लिए। क्षेत्र-वस्तु, हिरण्य-स्वर्ण, दोपद-चौपद, धन-धान्य, कुविय-धातु आदि का परिमाण एवं कर्मादान की आजीविका का त्याग करने से तृष्णा एवं परिग्रह पर नियन्त्रण प्रारम्भ होता है। परिग्रह के इस बाह्य नियन्त्रण के पश्चात् आंतरिक नियन्त्रण भी सम्भव है। आंतरिक नियन्त्रण ही परिग्रह पर सच्चा नियन्त्रण है और वही परिग्रह जनित दुःख को समाप्त कर सकता है। 'दशवैकालिक' सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में कहा है—

"जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥

अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर संयोग (आसक्ति) को जो मनुष्य त्याग देता है वह मुण्डित होकर अणगार बनता है। वही अणगार दुःख से मुक्त होता है।

संक्षेप में यदि कहा जाए तो पर पदार्थो से मानसिक सम्बन्ध जोड लेना ही उनका परिग्रह है पदार्थ, मनुष्य से, उसकी आत्मा से बाहर रहते है किन्तु मनुष्य उनमें अपनी आसक्ति स्थापित कर, दुःखी होता रहता है, उनमें ही अपनी आत्मा को समझने लगता है। यह भ्रम (मिथ्यात्व) है। और यह भ्रम अविवेकपूर्ण है। विवेक की बात तो यह है कि पर-पदार्थो से मानसिक सम्बन्ध केवल माना हुआ होता है। प्राणी चाहे तो उनमें सम्बन्ध न माने और सम्बन्ध न मानते ही वह अपरिग्रही हो जाता है। अपरिग्रही होने के पश्चात् दुःख से मुक्ति मिल जाती है।



अपरिग्रह

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी मनुष्य के पास व्यक्तिगत कोई वस्तु नही है, कारण कि जो शरीर प्राप्त है वह भी समष्टि भौतिक पदार्थो से निर्मित है। उस मिले हुए शरीर के सदुपयोग द्वारा आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। कारण कि शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से ही वस्तुएँ उत्पन्न होती है। यदि उनका संग्रह तथा उनसे ममता न की जाय और उनका दुरुपयोग भी न किया जाय तो मगलमय विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं। अतः दरिद्रता का अंत करने के लिए मिली हुई वस्तुओ का सदुपयोग अनिवार्य है।

१५

अपरिग्रह शाश्वत सुख पाने का द्वार है

☐ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

इच्छाओं के अधीन रहकर कोई भी सुखी नहीं होता। 'अति सम्पदा अति आपदा' की उक्ति कितनी सार्थक है। आज का व्यक्ति सम्पदा के बढाने में अन्धा हो रहा है। भौतिक सुख में अपना सुख समझ रहा है और उसी ओर भाग रहा है। वह अपने आगे पड़ौसी की भी नही सोचता। विचार भी आएगा तो खोटा। धन हथिया लो पड़ौसी का। प्रतिष्ठा भंग कर दो उसकी। बहका दो उसकी बहू-बेटी को। माहौल दूषित हो गया है, सर्वथा विष से लबालब। रिश्ते टूट रहे है, सम्बन्ध छूट रहे हैं, लोग दुःखी हो रहे हैं। अपरिग्रह भाव की ओर किसी का ध्यान ही नही जाता। असल में हम बहरे जो हो गए है।

जरूरत से ज्यादा चीजें क्यों इकट्ठी की जा रही हैं? यह समझ के दायरे से बाहर की बात है। चीजें हैं थोड़ी और इच्छाएँ है घनेरी। एक व्यक्ति ही चाहता है सारे लोक की सम्पदा। कैसे पूर पड़े? सरकार नियंत्रण और नियमन की गुत्थी सुलझाना चाहती है। परन्तु विषमता और कठिनाई बढती जाती हैं। मुझे लगता है जब तक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन नहीं होगा तब तक गुत्थी सुलझ पाना सम्भव नहीं दीखता।

व्यक्ति का धन की ओर झुकाव हो गया है। धन ही उसका रक्षा कवच जो बन गया है। धन बुरा नही है, बुरी है उसकी आसक्ति। व्यामोह ही उसका परिग्रह है। परिग्रह है वस्तु के प्रति ममत्व। धन अभ्युदय का उपादान कारण हो सकता है' अध्यात्म का कदापि नहीं। व्यक्ति बाहर से स्वस्थ और जागरूक बनने का अभिनय कर रहा है परन्तु उसका अन्तर नाना रोगों से सड़ रहा है। भोगासक्त व्यक्ति संसार मे भ्रमण करता है और भोगों से विरक्त व्यक्ति निर्बन्ध होता है। इसमें जीवन का सौन्दर्य प्रच्छन्न है। परिग्रह से आसक्ति, आसक्ति से हिसा और हिसा से है दुःख-जन्म-मरण की परम्परा का चक्र। बड़ा हुआ परिग्रह-नदी का वेग क्या-क्या क्लेश नही करता? प्राज्ञ पुरुष के लिए भी परिग्रह नाश का कारण कहा गया है। अपरिग्रह का सच्चा अर्थ है देहभाव नही सा होना; क्योंकि देह ही मुख्य परिग्रह है। अपरिग्रह की भावना स्थिर हो जाने से पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है। मूर्च्छा रहित पुरुषों के लिए तीनों लोकों का ऐश्वर्य भी अपरिग्रह है। अपरिग्रह अभ्युदय है। निर्मोह अवस्था है। केवल आत्मदर्शन है। वस्तुतः अपरिग्रह शाश्वत सुख पाने का द्वार है।

वैराग्य के विना त्याग विडम्बना मात्र है। अणु मात्र परिग्रह के रखने से मोहकर्म की ग्रंथि दृढ होती है और इससे तृष्णा की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शांति के लिए समस्त लोक की सम्पत्ति से भी पूरा नही पड़ता। इच्छा परिग्रह है। राग, लोभ और मोह जव मन में उगते है तव वाह्य परिग्रह ग्रहण करने की वुद्धि होती है। वाह्य त्याग के विना अन्तरंग त्याग अशक्य है। आभ्यन्तर त्याग में सर्व वाह्य त्याग अन्तर्भूत हैं। जो अन्तरग परिग्रह अर्थात् रागादि से युक्त है उसके वाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है। वाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री व्यक्ति तो स्वभाव से ही होते है किन्तु अन्तरग परिग्रह को छोडने मे कोई भी समर्थ नही होता। आकिंचन्य भावना से अपरिग्रह मुखर होता है।

परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारक है। जो लोभ कपाय को कम करके, सन्तोप रूपी रसायन से संतुष्ट होता हुआ सवको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णा का घात करता है और अपनी आवश्यकता को जानकर धन-धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरह का परिमाण करता है वह अपरिग्रही वन जाता है। विश्वविजेता सिकन्दर को कौन नही जानता? जव वह वीमार पड़ा और मौत के आगोश में पहुँचने को था तव उस समय उसके पास प्रमुख सेनापति, मंत्री व सैकडों सरदार और उमराव खड थे। वैद्यों और हकीमो की कतारें लगी थी। किन्तु जव उसने देखा कि ये सभी लोग और धन के भण्डार मुझे मौत से नही वचा सकते तव उसके दुःख और विस्मय का पारावार न रहा। मन गहरे अवसाद से भर गया। लोगों को संसार की सही स्थिति का ज्ञान कराने हेतु उसने प्रधान सेनापति को आदेश दिया कि शवयात्रा के समय मेरे दोनों हाथ कफन से वाहर रखे जाएँ जिससे सवको यह जानकारी हो सके कि विशाल वैभव न मुझे मृत्यु से वचा सका और न मै एक तार भी साथ ले जा रहा हूँ। मैं खाली हाथ ही आया था और खाली हाथ ही जा रहा हूँ। सोचिए, सिकन्दर की व्यथा में अपरिग्रह की कथा निहित नही है क्या?

चक्रवर्ती का सुख राग भाव को वढाने वाला तथा तृष्णा को वढाने वाला होता है। अतएव परिग्रह का त्याग करने पर राग-द्वेष रहित साधक को जो सुख मिलता है, चक्रवर्ती का सुख उसके अनन्त भाग की वरावरी नही कर सकता। समस्त परिग्रहो से जो रहित हो और इन्द्रियों को संवर रूप करने वाला हो ऐसा स्थिर चित्त संयमी साधक विभु वर्द्धमान की कही हुई ध्यान धुरी को धारण कर सकता है। अतीत उपभोग है, वह अतीत के कारण ही परिग्रह भाव को धारण नही करता। भविष्य का उपभोग यदि वान्छा मे आता है तो वह परिग्रह भाव को धारण करता है और वर्तमान का उपभोग रागवुद्धि से हो रहा है तो वह भी परिग्रह भाव की सीमा का स्पर्श करता है। प्रमाद परिग्रह है। उसके अभाव मे निजगुणों में मूर्च्छा का भी अभाव होता है। निरपेक्ष भाव से किया गया त्याग ही अपरिग्रह है।

इच्छा आकाश के समान अनन्त है। इच्छा की पूर्ति पर आकुलता मिटती है और सुख झलक उठता है। हमें इच्छा पिशाच को पछाड़ना होगा और करना होगा जीवनयापन के लिए सच्चाई से आजीविका अर्जन। लोभ और इच्छा का शिकार न होकर सत्पुरुषार्थ करना पड़ेगा। पुरुषार्थ वह है जिसमें अपनी आकुलता घटे और दूसरों की आकुलता न बढ़े। अपना-पराया सबका भला हो। सुख बाहर नहीं भीतर जो है। इसके लिए संग्रहवृत्ति से दूर होना होगा। विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल बधन नही। विचारों और कामनाओं के अन्त से सुख-सागर लहराएगा। अपरिग्रह आकाश में परिग्रह के बादल नही छाएँगे। सकल्प के सूरज से परिग्रह की कालिमा मिट जाएगी और अपरिग्रह की अरुणिमा आत्मा के आंगन मे सर्वत्र बिखरी/छिटकी पड़ी होगी।



दान का अपरिग्रह

श्री भूदेव मुखोपाध्याय ने अपनी एक लाख साठ हजार रुपये की सम्पत्ति दान करके अपने पिता श्री विश्वनाथ तर्कभूषण की स्मृति में 'विश्वनाथ फंड' स्थापित किया था। इस फड से देश के सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणों को विना माँगे प्रतिवर्ष पचास रुपये की सहायता मनिआर्डर से उनके घर भेजी जाती थी। पंडितों को न तो सहायता पाने के लिये प्रार्थना करने की आवश्यकता थी और न फंड के कार्यालय में आने की। इस फंड के प्रथम वर्ष की वृत्तियों का विवरण 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' में देने के लिये एक कर्मचारी ने सूची बनायी। उसमें लिखा था—"इस वर्ष में जिन-जिन अध्यापको एवं विद्वानों को 'विश्वनाथ-वृत्ति' दी गयी, उनकी नामावली।" श्री भूदेव बाबू ने वह सूची देखी तो अप्रसन्न होकर बोले—"तुमने यह क्या लिखा ? इसे इस प्रकार लिखा—इस वर्ष जिन-जिन अध्यापको और विद्वानों ने 'विश्वनाथ वृत्ति' स्वीकार करने की कृपा की, उनकी नामावली।"

ऐसे थे प्रशसा एवं दान के अपरिग्रही भूदेव बाबू।

—श्याममनोहर व्यास

१६

अपरिग्रह साधना के प्रेरक सूत्र

□ श्री जशकरण डागा

(१) पर में कर्त्ता बुद्धि न रख दृष्टा बनने का अभ्यास करे। इससे कर्म-बंध भी नही होते। जैसाकि 'समयसार' में कहा है—

"कर्म करे सो ही करतारा, जो जाने जो जाननहारा।
कर्त्ता सो जाने नही सोई, जाने सो कर्त्ता नही होई॥"

(२) आवश्यकता से अधिक संग्रह न करें।

(३) अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओ को उत्तरोत्तर कम करें।

(४) जो सामग्री मिली है उसका स्वय के लिए कम से कम उपयोग करें तथा अन्य जीवों के कल्याण के लिए उसका अधिक से अधिक उपयोग एवं वितरण करे।

(५) वस्तुओं को उनके तथ्य में देखे, आशाओ में नही। उन्हे कभी भी साध्य न समझना, साधन समझना।

(६) वस्तु को आत्मा से अधिक महत्त्व न दे। यदि वस्तु के लिए जीवन होगा तो वहाँ मूर्च्छा बढेगी और जहाँ मूर्च्छा बढेगी वहाँ परिग्रह निश्चित बढेगा। स्वयं की मालकियत कभी वस्तुओं के मायाजाल में न खो जाए, इसके लिए सचेत रहना।

(७) प्राप्त सामग्री का सदुपयोगार्थ विसर्जन करना सीखे। मात्र धन की पकड़ करने वाला धनी नही, वह तो धन का गुलाम होता है। धन का विसर्जन सच्ची मालकियत का लक्षण है। महान् तत्त्ववेत्ता रस्किन ने कहा है कि मनुष्य धनी तब होता है जब वह धन को दान कर पाता है, नहीं तो वह गरीब ही होता है। इस प्रसंग में टुन्ड्रा निवासी एस्किमो की उदार वृत्ति उल्लेखनीय है। जब कभी कोई उनकी किसी वस्तु को अच्छी कहता है तो वे तत्काल उस वस्तु को प्रशंसक को सस्नेह भेंट कर देते है। चाहे फिर उन्हे परेशानी उठानी पड़े। उनकी मान्यता है कि यह उनकी संस्कृति है और ऐसा करने में उन्हे विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है तथा जो प्रशसक की, वस्तु के प्रति लालसा थी, वह भी उसे मिल जाने से शांत हो जाती है।

(८) ब्रह्म भावना का अभ्यास करें। भावना चार प्रकार की होती है। प्रथम-दानवी–जिसमें दूसरे की वस्तु भी अपनी बनाली जाती है। दूसरी मानवी–जिसमें दूसरे की वस्तु को अपनी नहीं बनाई जाती पर अपनी वस्तु को अपनी मान दूसरे को नही देना। तीसरी दैवी भावना होती है जिसमें अपनी वस्तु भी दूसरे के लिए दे दी जाती है। चौथी ब्रह्म भावना सर्वोत्तम है। इसमें वस्तु न मेरी है न किसी अन्य की है। मेरा तो सिर्फ मेरा ज्ञानदर्शन है, ऐसा उत्तम चितन होता है जिससे वस्तु के प्रति रही मूर्च्छा सर्वथा समाप्त हो जाती है। चारों भावनाओं के चार उदाहरण प्रस्तुत हैं। दानवी भावना के कौरव, मानवी भावना के पाण्डव, दैवी भावना के मर्यादा पुरुषोत्तम राम और ब्रह्म भावना के भगवान् महावीर आदर्श उदाहरण है। ब्रह्म भावना परिग्रह के लिए ब्रह्म अस्त्र समान है।

(९) तीन मनोरथ का चिन्तन करे। श्रावक की जीवनचर्या का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसमे कुछ भी करना नही पड़ता। मात्र नित्य चितवन करना होता है और भाव सहित चितवन से महान कर्मो की सहज निर्जरा होती है व इसके प्रभाव से अपरिग्रह की साधना को विशेष बल एवं गति मिलती है। तीन मनोरथ इस प्रकार है।

(i) वह शुभ दिन मेरे परम कल्याण का होगा जब मै नव प्रकार के बाह्य एवं चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्त होऊँगा।

(ii) वह शुभ दिन मेरे परम कल्याण का होगा जब मै ६ काया का आरम्भ त्याग कर द्रव्य से मस्तक व भाव से मन को मुंडित कर पंच महाव्रत एवं पाँच समिति, तीन गुप्ति का शुद्ध आराधक निर्ग्रंथ साधु बनूंगा।

(iii) वह शुभ दिन मेरे परम कल्याण का होगा जब मै आलोयणा निन्दा करके, अठारह पाप तथा चारो आहार का त्याग करके संलेखना संथारा सहित समाधि मरण को प्राप्त करूँगा।

(१०) अनासक्त होने हेतु इस सूत्र को सदा ध्यान में रखें—आता है जो आने दे, जाता है जो जाने दे, और होता है जो होने दे।

अपरिग्रह साधना के लाभ

(१) **सुख, शान्ति व धर्म की सिद्धि**—'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है 'सो ही उज्जुय भूयस्स, धम्मो सुद्दस्स चिट्ठइ' धर्म वही टिकता है जहाँ सरलता होती है। सरलता भाव परिग्रह के त्याग से आती है। परिग्रह ज्यों-ज्यों कम होता है, प्राणी को सुख, शान्ति व धर्म की त्यों-त्यों उपलब्धि एवं उसकी अभिवृद्धि

होती है। द्रव्य एवं भाव परिग्रह में सबका मूल लोभ परिग्रह है। लोभ वृत्ति ज्यों-ज्यों साधना के द्वारा कम होती है, आरम्भ-परिग्रह स्वभावतः कम होकर छूटते जाते हैं। इनके कम होने पर सुख, शान्ति व धर्म की उपलब्धि जीवन में बढ़ती जाती है।

(२) **स्व-पर कल्याण का हेतु**—अपरिग्रह की साधना में स्व-पर व समग्र विश्व का हित सन्निहित है। जैन धर्म अपरिग्रह प्रधान होने से ही इसे आचार्य समन्त भद्र ने 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है। किन्तु यह विशेषता तभी सार्थक है, जब जैन धर्मानुयायी अपरिग्रह को कथनी के साथ जीवन मे लाते है।

(३) **मुक्ति का द्वार**—परिग्रह नरक और अपरिग्रह मुक्ति का द्वार है। 'ठाणाग सूत्र' के ठाणा ४ में नरक के चार कारणो मे एक कारण परिग्रह को भी बताया है। जबकि 'कषाय मुक्ति किल एव मुक्ति' कह-कहकर कषाय जो आन्तरिक परिग्रह है, के त्याग से मुक्ति की प्राप्ति होना बताया है। इसके विपरीत परिग्रही कभी मुक्ति का अधिकारी नही हो सकता।

(४) **सद्‌गुणों की सहज उपलब्धि**—अपरिग्रह साधना से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और सभी गुण सहज मे उपलब्ध हो जाते है। कारण अपरिग्रह साधना से आसक्ति छूट जाती है और आसक्ति छूट जाने से मोक्ष मार्ग में गति करने में सहायीभूत सभी आत्मिक गुण स्वतः प्रगट होने लगते है।

(५) **सच्ची स्वाधीनता की प्राप्ति**—परिग्रह वडा वंधन है। ससार मे जीव को क़ैद कर रखने वाला परिग्रह ही है। उर्दू कवि असगर ने परिग्रह को फंदे में फंसना वताते हुए कहा है—

"फदे में फंसना चाहे तो जा दाम की तरफ।
आराम अगर चाहे तो आ राम की तरफ।।"

अपरिग्रह साधना से ही इस महाफंदे से मुक्त हुआ जा सकता है और मुक्त होने पर जो सच्ची स्वाधीनता की अनुभूति होतो है, इसके सुख के आगे संसार का सभी सुख तुच्छ और नगण्य है।

(६) **सर्व दुःखों से छुटकारा**—'सूत्रकृतांग सूत्र' मे कहा है—जो मनुष्य सजीव या निर्जीव या थोडी या अधिक वस्तु को परिग्रह बुद्धि से रखता है या पर को रखने की आज्ञा देता है, वह दु.ख से छुटकारा नही पाता। इसके विपरीत अपरिग्रह साधना से, मूर्च्छा भाव न रहने से सजीव या निर्जीव, थोडी या अधिक वस्तु का संयोग या वियोग दु.ख उत्पन्न नही कर सकता। क्योंकि सुख-दुःख वस्तु में नहीं, मूर्च्छा-अमूर्च्छा भाव से सम्बन्धित होते है। वस्तुत. सुख पर-पदार्थों मे है भी नहीं। यदि पर-पदार्थों में सुख होता तो एक पदार्थ एक समय सुख का

और दूसरे समय वही दुःख का कारण क्यों बन जाता है ? इस पर एक उदाहरण प्रस्तुत है ।

एक बार एक योगी के पास चार व्यक्ति पहुँचे । उनकी सेवा से प्रसन्न हो योगी ने पूछा—तुम्हे क्या चाहिए ? एक ने कहा—मुझे धन चाहिए ! दूसरे ने कहा—मुझे सुन्दर स्त्री चाहिए ! तीसरे ने कहा—मुझे पुत्र चाहिए ! चौथे ने कहा—मुझे यश चाहिए ! योगी ने चारों को तथास्तु कह कर आश्वस्त किया । योगी कुछ वर्षो बाद पुनः उसी नगर में आया । चारों व्यक्ति योगी की सेवा में पुनः पहुँचे । योगी ने पूछा—आप लोग अब तो सुखी है ? पहिला बोला—आपकी कृपा से धन तो बहुत मिल गया पर उसकी रक्षा की चिन्ता में रात-दिन दुःखी हूँ । नीद नही आती । दूसरे ने कहा—सुन्दर स्त्री तो मिल गई पर उसके संसर्ग से ऐसा रोग लगा कि जिन्दा रहना दूभर हो गया । तीसरे ने कहा—पुत्र तो हो गया, पर आज्ञाकारी नही और उसके दुराचारी होने से दुःखी हूँ । चौथे ने कहा—यश तो बहुत मिल गया पर ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा से बहुत परेशान हूँ । योगी ने समझाया—सुख पर पदार्थो में नही । उनसे कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता । सच्चा सुख आत्मा में है जो सन्तोष धारण करने से मिलता है । योगी अकिचन होकर भी बड़े सुखी होते है, क्यों ? कहा है—

"तीन टुक कोपीन के, बिन भाजी बिन लूण ।
जो मन में सन्तोष है, इन्द्र बिचारा कूण ?"

(७) **सबको अभय और निर्भीकता मिलती है**—परिग्रह समस्त चिताओं की जड़ और अशरणभूत है । प्रमादी पुरुष धन संग्रह से इस लोक या परलोक में (त्राण) रक्षण नही पाता । धन को 'सूत्रकृताग सूत्र' में मास के टुकड़े की उपमा दी है । जैसे मांस को स्थल पर सूअर, कुत्ते, बिल्ली आदि का, जल में मगरमच्छ, घडियाल आदि का और नभ मे गिद्ध, चील, बाज आदि पक्षियो का भय बना रहता है और सर्वत्र असुरक्षित रहने से चिन्ता पैदा करता है, वैसे ही परिग्रह सर्वत्र भय, असुरक्षा और चिन्ता का कारण है । परिग्रही को सुरक्षा की पूरी व्यवस्था कोट, किले, अंग रक्षक आदि होने पर भी चैन नही मिलता है । जबकि अपरिग्रही जंगल में अकेला होने पर भी निश्चित और निर्भय रहता है । कवि की भाषा में उसे—

"न च चोर भयं, न च राज भयं, न च लोक भयं न च काल भयं ।
इह लोक सुखं, परलोक हितं, श्रमणत्व इदं परमत्व सुखम् ।।"

(८) **सन्तोष रूपी कल्पवृक्ष की प्राप्ति**—जैसे अग्नि मे घृत डालने से वह तृप्त नहीं होती वैसे ही ज्यों-ज्यो धन का लाभ होता है, परिग्रह रूपी दानव की भूख-प्यास और वढती है । शास्त्रकार कहते है—"जहा लाहो, तहा लोहो,

लाहो लोहो पवड्ढइ ।" अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों लोभ वढता जाता है । वस्तुतः तृष्णा अमर वेल है जो विना सन्तोप के वढती ही जाती है । अपरिग्रह की साधना से सन्तोष रूपी कल्पवृक्ष पैदा होता है जिसकी प्राप्ति पर कोई इच्छा शेप नहीं रहती है ।

(६) **प्राणी मात्र से मैत्रीभाव होता है**—ससार में वैर विरोध का मूल राग-द्वेष है जो आभ्यन्तर परिग्रह है । अपरिग्रह साधना से रागद्वेष का क्षय होता है जिससे प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव स्थापित होता है । मैत्री भाव से अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है और दूसरे प्राणी भी जो सम्पर्क में आते हैं उन्हें भी आनन्द एवं आत्मीयता की अनुभूति होती है । शत्रु भी मित्र हो जाते है । वास्तव में कोई किसी का शत्रु नही है । सभी आत्माएँ परमात्म स्वरूप है, किन्तु हमारी आन्तरिक द्वेष वृत्ति ही दुश्मनी पैदा करती है । कहा है—

"हमारे अन्दर के दुश्मन ही दुश्मनी वढाते हैं ।
वाहर के व्यक्ति तो निमित्त वन जाते है ।।"

अपरिग्रह साधना से ज्यों-ज्यो रागद्वेष क्षय होते है त्यो-त्यो 'मित्ति मे सव्व भुएसु वैरं मज्जं न केणइ' की प्रशस्त भावना जीवन मे चरितार्थ होकर जीवन को अलौकिक आत्मिक आनन्द से प्रफुल्लित कर देती है ।

आज के भौतिक विज्ञान प्रधान युग मे व्यक्ति की आकांक्षाएँ और आवश्यकताएँ असीम वढती जा रही है । फलतः 'पैसा' उसके लिए परमेश्वर हो गया है । उसका लक्ष्य एक मात्र अधिक से अधिक अर्थ उपार्जन का हो गया है । वह मात्र पैसे का पुजारी रह गया है ।

भौतिकवाद की वढती दौड़ ने मात्र श्रावक वर्ग को ही प्रभावित नही किया है, वरन् श्रमणों पर भी इसका अत्यधिक प्रभाव हुआ है । उदाहरण के लिए वहुमूल्य वस्त्रों, उपकरणों का संग्रह, वातानुकूलित वंगलों मे आवास करना, भोजन में अंताहारी पताहारी आहार की गवेपणा की प्रथा का लुप्त हो जाना तथा राजपिण्ड जैसे वादाम पिश्ते आदि से निर्मित सरस व गरिष्ठ आहार अकारण ग्रहण करना और 'एग भत्त' की जगह सुवह से शाम तक गोचरी लाना व भोगना आदि-आदि श्रमणाचार के प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ श्रमणो मे भी अपरिग्रह व्रत में शिथिलता आने का संकेत है ।

श्रावकाचार तो परिग्रह के प्रदूपण से इतना प्रभावित हुआ है कि आज उनके अधिकांशत धार्मिक अनुष्ठान भी सदोप होते है । वाहर से सभी द्रव्य क्रियाएं निर्दोप करते हैं किन्तु अन्तर भावों मे सांसारिक स्वार्थ सम्वन्धी चिन्तन की प्रधानता रहती है । श्रीमद् देवचन्दजी महाराज ने इस तथ्य को वडे स्पष्ट शब्दो मे विरहमान भगवान् की प्रार्थना करते हुए इस प्रकार कहा है—

"अवगुण ढांकन काज करूँ जिनमत क्रिया,
दृष्टि रागनो पोल तेह समवित गणु।
स्याद्वादनी रीत न देखु निजपणु,
बिरहमान भगवान सुणो मुझ विनती।
जगतारक जगन्नाथ अहो त्रिभुवन पति।।"

श्रावक सामाजिक, पौषध, संवर, दया आदि अनुष्ठानों में बाह्य परिग्रह का त्याग तो सरलता से कर देता है, साधु जैसा भेष भी अपना लेता है किन्तु अन्तर का भाव परिग्रह उसे धर्म साधना में स्थिर नहीं होने देता। कवि कहता है—

"परिग्रह बाहर नहीं अन्दर है, इसी से यह बवण्डर है।
जिसकी इसके प्रति उदासी है, वह गृहस्थ होकर भी संन्यासी है।"



त्याग की महिमा

कटक से कुछ दूर एक गाँव में बापू का भाषण हो रहा था। भाषण समाप्ति के पश्चात् बापू ने हरिजन-फंड के लिए चंदा मांगा। तभी भीड़ को चीरता हुआ एक लड़का मंच के पास आया और उसने एक लम्बा ताजा काशी-फल सामने रख दिया। गांधीजी ने उसे स्वीकार करते हुए पूछा—"कहाँ से लाये ?"

"मेरे छप्पर पर इसकी वेल है बापू।"

"इसे मुझे दे रहे हो फिर सब्जी किसकी बनाओगे ?"

"माँ ने कहा है कि इसे महात्माजी को दे आना। आज हम लोग बिना साग के काम चला लेंगे।"

गांधीजी की आँखें भर उठीं। हृदय गद्‌गद् हो उठा। फिर सभा को सम्बोधित करते हुए बोले—"बन्धुओ, हमारा देश हजारों वर्षों से विदेशी आक्रमणों का सामना करते हुए भी टिका हुआ है। उसका कारण यह त्याग की शक्ति ही है। खुद न खाकर दूसरो को दे देने की भावना से ही दुनिया में मानवता टिकी हुई है।"

—कल्पना आंचलिया

१७

अपरिग्रह–सन्देश

☐ डॉ० शान्ता भानावत

प्रभु महावीर ने सतत साधना और चिन्तन द्वारा मानव जाति के समक्ष सत्य, अहिसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, ब्रह्मचर्य जैसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर लोक-कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त किया।

भगवान् महावीर के चिन्तन में जितना महत्त्व अहिसा को मिला, उतना ही अपरिग्रह को भी। उन्होने जहाँ-जहाँ हिंसा का निषेध किया, वहाँ-वहाँ परिग्रह का भी। उन्होंने बताया कि परिग्रह एक वृत्ति है। यह प्राणी की अन्तरंग चेतना की एक अशुद्ध स्थिति है। अत. जब चेतना बाह्य वस्तुओ मे आसक्ति, मूर्च्छा तथा ममत्व भाव का आरोप करती है तभी परिग्रह वृत्ति आती है। इस वृत्ति से सचय की प्रवृत्ति बढ़ती है। उचित-अनुचित का विवेक किये बिना व्यक्ति इच्छाओ के वशीभूत होकर वस्तुओ को जकड लेना, पकड़ लेना, जमा करना चाहता है। उनका मर्यादाहीन, गलत व असामाजिक रूप से उपभोग करता है। इस प्रकार की संग्रह वृत्ति से व्यक्ति दु खी बनता है। संग्रह से सघर्ष की प्रवृत्ति बढती है।

आज का व्यक्ति येन-केन प्रकारेण धन इकट्ठा करना चाहता है। अधिक कमाने के लिए जमाखोरी, मुनाफाखोरी, चोर बाजारी, धोखा-धड़ी, मिलावट, हत्या आदि राष्ट्र विरोधी अनैतिक कार्य करने मे भी नही हिचकिचाता। उसकी धन के प्रति तृष्णा इतनी बढ गई है कि वह अपनी पाँच-दस पीढियो के लिये धन इकट्ठा करना चाहता है। परिणाम यह हो रहा है कि समाज में घोर विषमता पैदा हो गई है। एक ओर बड़ी-बडी हवेलियाँ है जिनमें प्रचुर भोग-विलास की सामग्री भरी पडी है, दूसरी ओर ऐसा वर्ग भी है जिसके पास पेट भरने को रोटी नही, तन ढकने को वस्त्र नही। इस सामाजिक विषमता से वर्ग-सघर्ष बढता है। आज इसीलिये सर्वत्र भय और अशाति का वातावरण बना हुआ है। महावीर ने इस प्रकार की विषम स्थिति को देखा था। उनका हृदय बार-बार करुणा से ओतप्रोत हो उठता था। इस विषमता से मुक्ति दिलाने के लिये ही उन्होने अपरिग्रह का सदेश दिया।

आज विश्व मे चारों ओर जो अशाति के बादल मंडरा रहे है और मनुष्य मनुष्य के बीच वैर-विरोध बढ रहा है, यदि उसके कारणों पर गम्भीरतापूर्वक

विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उसके मूल में मानव की अनन्त इच्छाएँ है। इन इच्छाओं का अन्त कहाँ ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जायें तो भी उसकी इच्छा और प्राप्त करने की रहेगी। प्रभु महावीर के शब्दों में—

"सुवण्ण रूवस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंख्या ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छाहु अगाससमा अणंतया ।।"

यदि कैलाश पर्वत जितने बड़े सोने-चाँदी के अणगिनत ढेर हों, तो भी लोभी मन उनसे संतुष्ट नही होता। इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त होती हैं।

इच्छाओं का यह अतिरेक ही व्यक्ति को अप्रामाणिक और भ्रष्ट बनाता है। ससार में जितने भी पाप होते है, उनके मूल में यही इच्छा वृत्ति है। इसी से अधिकार लिप्सा और ममत्व बुद्धि का जन्म होता है। प्रभु महावीर ने वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति इस ममत्व बुद्धि को ही परिग्रह बतलाया है—मुच्छा परिग्गहवुत्तो।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना होगा कि इच्छा और आवश्यकता मे अन्तर है। आवश्यकता है शरीर की और इच्छा है मन की। शरीर को बनाये रखने के लिए आवश्यकता है पौष्टिक आहार की, ग्रीष्म-शीत से बचने के लिए योग्य वस्त्र तथा हवा-पानी से युक्त आवास की। आवश्यकता की पूर्ति करनी पड़ती है। यह परिग्रह नही है। परिमाण करने का विषय है इच्छाएँ जो अबाध छोड़ने पर कभी तृप्त नहीं होती। भारत की वर्तमान स्थिति को देखा जाये तो सारा दृश्य अमर्यादित इच्छाओं की कुत्सा को प्रतिबिम्बित करता है। जिसके पास धन, सत्ता, अधिकार अधिक है, वह अपने आपको बड़ा समझ कर दूसरों के प्रति घृणा की भावना रखता है। अभावग्रस्त लोग अपने से अधिक समृद्ध व्यक्ति को देखकर ईर्ष्यावश जलते रहते है। लोगो के मन मे द्वेष, घृणा, कलह, विरोध, संघर्ष, भेद-बुद्धि व अशांति की ज्वाला सुलग रही है।

शांतिपूर्ण, चिन्ता मुक्त जीवन जीने के लिये प्रभु महावीर ने मानव जाति को अपरिग्रह का सिद्धान्त बताया है। जिसका अर्थ है जीवन में निस्पृहता आये, वस्तुओं पर से आसक्ति घटे, आवश्यकताओ से अधिक वस्तुओं का सग्रह न हो, इसके लिए इच्छाओं का नियमन आवश्यक है। इच्छाएँ सीमित होंगी तो चिन्ता और अशाति भी कम होगी। इस दृष्टि से गृहस्थ के लिए प्रभु महावीर ने इच्छा परिमाण व्रत का उपदेश दिया। सद्गृहस्थ यह निश्चय करता है कि मै इतने पदार्थो से अधिक की इच्छा नही करूँगा। इच्छा परिमाण एक प्रकार से स्वामित्व-विसर्जन की प्रक्रिया है। महावीर के समक्ष जव वैशाली का आनन्द श्रेष्ठी इच्छा परिमाण व्रत का संकल्प लेने उपस्थित हुआ, तो महावीर ने कहा— तुम अपनी आवश्यकताओं को सीमित करो। अपार साधन-सामग्री तुम्हारे पास है, उसका पूर्ण रूप मे नहीं तो, उचित सीमा में विसर्जन करो। एक सीमा से

अधिक धन, वस्त्र, बर्तन आदि पर अपना अधिकार मत रखो, आवश्यकता से अधिक स्थान, मकान, भूमि पर अपना स्वामित्व मत रखो। इसी प्रकार पशु, नौकर-चाकर आदि को भी अपने सीमाहीन अधिकार से मुक्त करो।

स्वामित्व विसर्जन के लिए प्रभु महावीर की यह सात्विक प्रेरणा थी, जो समाज में सम्पत्ति के आधार पर फैली अनर्गल विषमताओ का प्रतिकार करने मे सफल सिद्ध हुई। मनुष्य जव आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति व वस्तु के संग्रह पर से अपना अधिकार हटा लेता है तो वह समाज और राष्ट्र के लिए उन्मुक्त हो जाती है जिससे समाजवादी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

श्रमण भगवान् महावीर के परिग्रह और अपरिग्रह के दृष्टिकोण को वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने अपने जीवन में प्रायोगिक रूप दिया।

उन्होंने कहा—जिस चीज की हमें जरूरत नही है, उसे जिसके अधिकार मे वह है, उसके पास से उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। अनावश्यक एक भी वस्तु न लेना चाहिए। मन से हमने किसी की वस्तु प्राप्त करने की इच्छा की या उस पर झूठी नजर डाली तो वह चोरी है। गांधीजी के विचार में सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नही है, बल्कि उसे घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाएँगे, त्यो-त्यों सच्चा सुख और सच्चा सतोष बढता है—सेवा शक्ति बढती है। गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त इसी बात पर बल देता है कि तुम अपने धन के मालिक नही ट्रस्टी हो, संरक्षक हो। जो धन तुम्हारे पास है, वह समाज का है। समाज के कल्याण में इसका उपयोग होना चाहिए।

इस दृष्टि से विचार करने पर भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त व्यक्ति को ममत्व बुद्धि से हटाकर, समाज सेवा और समता भाव की ओर ले जाता है। उन्होने सम्प्रदायवाद, सकीर्ण विचार, अहकार, लोभवृत्ति, क्षोभ, मायाचार आदि जीवन की कमजोरियो को भी परिग्रह कहा है। जव व्यक्ति वाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के परिग्रहों से दूर हटता है तभी वह सच्चा इन्सान वनता है। प्रभु महावीर का अपरिग्रह संदेश मानवीय संवेदना जागृत कर प्राणी मात्र के प्रति समता भाव स्थापित करने पर वल देता है।

सक्षेप मे, भगवान् महावीर के अपरिग्रह-संदेश की तीन मुख्य बातें है।

१. तुम अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह मत करो।
२. अपनी आवश्यकताओ को भी कम करो।
३. जो साधन-सामग्री तुम्हारे पास है, उसका स्वयं के उपभोग के लिए कम-से-कम उपयोग करो तथा जनकल्याण के लिए उसका स्वेच्छापूर्वक अधिक-से-अधिक वितरण करो। □

१८

अपरिग्रह-भाव

□ प्रो० अरुण जोशी

'नीतिशतक' में एक पद्य में भर्तृहरि ने परिग्रह को तुच्छ कहा है । अनुपयुक्त वस्तुओं का संग्रह ही परिग्रह है । कई व्यक्ति इसी वृत्ति से अनेक वस्तुओ का संग्रह करने में कार्यरत होते है । ऐसी संगृहीत वस्तुएँ कालक्रम से कीट आदि से नष्ट होती हैं या चोर की नजर मे भी आ जाती है । महात्मा ईसा ने अतएव कहा है कि यदि वस्तुओ का संग्रह करने की इच्छा हो तो उनका संग्रह परलोक मे करें जिससे कोई नुकसान न हो सके ।

विवेकयुक्त मानव परिग्रह नही करते है । क्योंकि वे समझते है कि परिग्रह क्षमता का शत्रु है, अतृप्ति का मित्र है, मोह का आराम स्थान है, पाप की खान है, आपत्ति का स्थान है, व्याकुलता का निधान है, शोक का हेतु है, और क्लेष का क्रीड़ागण है । सगृहीत वस्तु को अच्छी तरह सम्भालने की चिन्ता हमको दु.ख देती है । संग्रह वृत्ति का यह अमंगल परिणाम है । संग्रह करने से मन वहा आसक्त रहता है । मन की एकाग्रता नष्ट होती है । अतः परिग्रह का त्याग करके अपरिग्रह का स्वीकार करना चाहिए । किन्तु ईसा ने कहा है कि परलोक मे सग्रह करना चाहिये । वहाँ जिसका सग्रह हम कर सकते है वे हैं— सदाचार, प्रामाणिकता, जनकल्याण आदि । ईसा की आज्ञा का पालन करने से जगत की अशाति रूप परिग्रह का नाश होगा ।

अपरिग्रह का सम्बन्ध अस्तेय के साथ भी है । सत्य शोधक अहिसक व्यक्ति कभी परिग्रह नही करेगा । आवश्यक वस्तुओ के लिए हम चिन्ता करते है किन्तु भक्तगण ऐसी चिन्ता कभी नही करते है ।

धनाढ्य के घर पर अनावश्यक वस्तुओ का सग्रह होता है । वे नष्ट होती जाती है किन्तु गरीब लोग इन वस्तुओ के अभाव से भूखे मरते है । यदि प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक वस्तु का ही सग्रह करे तो किसी को अभाव का सामना करना नही पडेगा ।

परिग्रह को पाप का मूल माना जाता है, किन्तु समाज मे परिग्रह करने की प्रक्रिया देखी जाती है । मानव जिन्दगी का ध्येय धन प्राप्त करने का है, ऐसा किसी ने नही कहा है, किन्तु धन निकम्मा है ऐसा कहने मे दम्भ होता है ।

क्योकि मानव के लिए और जनसमाज के कल्याण के लिए धन उपयोगी अवश्य है। 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते' ऐसा कथन भी सत्य नहीं और 'सर्वे दुर्गुणाः काचनमाश्रयन्ते' ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं।

परिग्रह की विषमता कम करने के लिए क्या उपाय करना चाहिए? अपनी मर्यादा बांध कर जो अधिक धन बचता है उसका उपयोग धर्म कार्य के लिये करना चाहिये। यदि इस तरह का व्रत लेना मुश्किल हो तो दान देना सरल मार्ग है। परिग्रह के पाप का प्रायश्चित दान देने से कम अवश्य होता है।

आत्यन्तिक अपरिग्रह तो कोई अवधूत ही कर सकता है। सामान्यजन को प्रतिदिन परिग्रह वृत्ति की परीक्षा करनी चाहिये और परिग्रह को कम करना चाहिये। गाधीजी ने भी कहा है कि परिग्रह कम होने से सुख, सन्तोष और सेवा करने की भावना में वृद्धि होती है।

वस्तु के वारे में अपरिग्रह आवश्यक है, इसी तरह विचार का अपरिग्रह भी आवश्यक है। मगज (मस्तिष्क) में निरर्थक ज्ञान भरने की कोई आवश्यकता नही है। जो विचार हमको ईश्वराभिमुख नहीं वनाता है वह परिग्रह की कोटि मे ही आता है। अतः अपरिग्रह का हमारे जीवन मे वहुत लाभकारी स्थान है।

अपरिग्रही दम्पती

राँका और वाँका पति-पत्नी थे। वे ईश्वर के बड़े भक्त थे। सादगी से अपना जीवन व्यतीत करते थे। वे सर्वथा निःस्पृह थे। एक वार भगवान् ने उनकी परीक्षा लेने की ठानी।

एक दिन वे लकड़ी लाने के लिये जंगल को जा रहे थे। पति आगे-आगे चल रहा था और पत्नी पीछे-पीछे आ रही थी। मार्ग मे किसी वस्तु पर राँका को ठोकर लगी। उसने देखा—सोने की मोहरों से भरी थैली खुली पड़ी है। वह उसे देख कर जल्दी-जल्दी धूल डाल कर उसे ढकने लगा। इतने में वाँका आ पहुँची। उसने पति से पूछा—"क्या कर रहे हो?" राँका ने पहले तो नही वताया, पर विशेप आग्रह करने पर कहा—"सोने की मोहरे थी। मैंने समझा, इन पर कही तुम्हारा मन न चल जाए, इसलिए इन्हे धूल डालकर ढक रहा था।"

वाँका ने हस कर कहा—"वाह, धूल डालने से क्या लाभ है? सोने और धूल मे भेद ही क्या है, जो आप इन मोहरो को ढक रहे हैं।"

पति से भी पत्नी अधिक निस्पृही लगी।

ऐसा था अपरिग्रह दाम्पत्य जीवन राँका-वाँका का।

—श्याम मनोहर व्यास

१९

वांछा, ममता और तृष्णा

☐ श्री रमेश मुनि शास्त्री

आत्मा शाश्वत सुख की अनुभूति कर्म-मुक्त होने के बाद ही [illegible] है। 'मुक्ति' का वाच्य अर्थ है—छुटकारा। मोक्ष भी मुक्त दशा को [illegible] है। मिथ्यात्व आत्मा का सबसे बड़ा एवं प्रगाढ़ बन्धन है। [illegible] छुटकारा पाना ही मुक्तावस्था का प्रारम्भ है। अष्टविध कर्मों में [illegible] कर्मों का राजा है। मोहनीय कर्म की जो अट्ठावीस प्रकृतियाँ हैं [illegible] मिथ्यात्व प्रकृति भी है।

ऊपर की ओर उठना, यह आत्मा का स्वभाव है, [illegible] स्व-स्वभाव में स्थित होती है, तब वह ऊपर की ओर [illegible] दृष्टि से भी होता है। जैसे—सातवी नरक से ऊपर [illegible] आ जाना। आत्मा इस प्रकार—क्षेत्र और गति [illegible] की ओर चढ़ती है। "गुणस्थान" की दृष्टि से [illegible] जाती है। आत्मा 'मिथ्यात्व' नामक प्रथम [illegible] नामक चतुर्थ गुणस्थान में आती है। चौथे [illegible] वह भव्य आत्मा उत्तरोत्तर ऊंची चढ़ती [illegible] ऊपर की ओर तो अवश्य चढती है, [illegible] वही की वही रहती है। मात्र [illegible] आता है। आत्मा उन्नत अवस्था में [illegible] हो जाती है। पाप उस उन्नत-[illegible] गिरा देता है।

हमें अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, उसे खींच लेती है। दूरस्थ वस्तु की सहसा रूप से स्मृति आते ही हम सब कुछ छोड़कर उसकी उपलब्धि के लिये प्रलम्ब यात्रा के लिये कटिवद्ध हो जाते है। इसी आसक्ति या आकर्षण को बन्धन कहा जाता है। कभी-कभी तो यह बन्धन इतना अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है कि वह हमें गहरी चिन्ताओ की प्रचण्ड ज्वालाओं से जला डालता है। हम अहर्निश अशान्त रहने लगते है। जो वस्तु हमे प्राणों से भी प्यारी है, कोई उस पर अपना आधिपत्य न जमा ले, उसे नष्ट न कर दे, विकृत न कर दे, वह वस्तु मूल्यवान् रत्न हो, भव्य भवन हो, पुत्र हो, मित्र हो, कोई भी हो और कुछ भी हो। जो वस्तु हमारे पास नही है, हमारे अधिकार मे भी नही है, और वह वस्तु हमारे से सम्बन्धित नही है। किन्तु दूसरों की है, दूसरो के अधिकार में है, उस वस्तु की उपलब्धि के लिये लालायित रहना, अहर्निश उसी के चिन्तन मे डूबे रहना, आदि-आदि 'वाछा' कहलाती है। वाछा का बन्धन भी एक बडा बन्धन है। निष्कर्ष यह है कि वस्तु के असद्भाव में उसकी आकांक्षा-इच्छा करना 'वांछा' है और सद्भाव में उसके प्रति आसक्ति रखना 'ममत्व' है।

जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति है, वह इस प्रकार वांछा का परिग्रह भी नही रखता है। वह यही विचार करता है कि जो वस्तु मेरी नही है, उसको प्राप्त करने हेतु अभिलाषा क्यो करूँ ? परिग्रह के पाप को देखते हुए मुझे अपनी वस्तु का भी त्याग करना पड़ेगा। फिर भला अन्य की वस्तु को चाहना, मेरे लिये कथमपि उचित नही है। ममता और वांछा इन दोनों के प्रगाढ़ बन्धन से छुटकारा पाकर अपने आत्म-स्वरूप मे रमण करना ही मेरा कर्तव्य है।

परिग्रह का विपरीतार्थक शब्द है—अपरिग्रह ! मानव-जीवन की सफलता और विफलता क्रमशः अपरिग्रह और परिग्रह इन दोनो को भली-भांति समझने में संन्निहित है। एक में जीवन का कल्याण हैं, निर्माण है, और उत्थान है तो दूसरे में जीवन का पतन है, विनाश है। जो व्यक्ति विवेकशील है, वह जीवन के उत्थान की दिशा की ओर प्रवृत्त होता है, अग्रसर होता है और विवेकहीन है, वह जीवन के पतन की ओर वढता है। परिग्रह पतन का मार्ग है, इसीलिये कहा गया है कि विराट विश्व के समस्त प्राणियों के लिये परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नही, वन्धन नही।[1] जो आत्माएँ परिग्रह-संग्रह वृत्ति मे व्यस्त है, वे संसार में अपने प्रति वैर की ही अभिवृद्धि करती है।[2] जीवन की समस्त

१—नत्थि एरिसो पासो पडिदधो अत्थि,
सव्व जीवाण सव्वलोए

—प्रश्न व्याकरण सूत्र १/५

२—परिग्गह निविट्ठाणं वेर तेसि पवड्ढई।

—सूत्रकृताग १/६/३

२०

अपरिग्रह की अवधारणा

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

परिग्रह का अर्थ है "परि ग्रहणं परिग्रह" अर्थात् चारों ओर से ग्रहण करना परिग्रह है। ग्रहण उसे ही किया जाता है जो सुखद प्रतीत हो। यह नियम है कि जिसे जो वस्तु सुखद लगती है वह उसका भोग करना चाहता है। सुख भोगने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है, अतः भोगी व्यक्ति भोग्य पदार्थों का संग्रह करता है, संग्रह परिग्रह ही है। प्राणी सुखद वस्तु को अपनाना चाहता है, यह अपनापन, मेरापन का भाव अर्थात् ममता ही परिग्रह का मूल है, बीज है। जैसे बिना बीज के वृक्ष नही होता, वृक्ष में बीज विद्यमान रहता है, उसी प्रकार बिना ममता के परिग्रह नही होता। अत: जहाँ परिग्रह है वहाँ ममता है, जहाँ ममता है वहाँ परिग्रह है। भूमि-भवन, धन-धान्य, सोना-चांदी, मुद्रा, पशु, खेत आदि द्रव्य, द्रव्य परिग्रह है। वृक्ष की तरह द्रव्य बाहर प्रकट होता है अतः उसे बाह्य परिग्रह भी कहते है और बीज के समान भाव भीतर अतर में विद्यमान रहता है अतः उसे आभ्यन्तर परिग्रह कहते है। बाह्य परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह का द्योतक है। प्रकटीकरण है, व्यक्त रूप है। अतः जहाँ बाह्य परिग्रह है वहाँ आभ्यन्तर परिग्रह है। जैनागमों में बाह्य परिग्रह में खेत, वस्तु, धन-धान्य, धातुएँ, द्विपद-चौपद, पशु-दास, दासी कहे गये है। पशु के साथ दास-दासी इसलिए कहे गए है कि आगम काल में पशु के समान ही दास-दासी भी खरीदे-बेचे जाते थे। राजकुमारी चंदनबाला, राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा आदि के उदाहरण इसके साक्षी है। आभ्यन्तर परिग्रह मे मिथ्यात्व, कषाय-नोकषाय, राग-द्वेष कहे गये है। संक्षेप में कहे तो मोहनीय कर्म के जितने भी भेद-प्रभेद है, वे आभ्यन्तर परिग्रह है। जहाँ मोह है – मूर्च्छाभाव है— वहीं परिग्रह है।

आभ्यन्तर परिग्रह अर्थात् मूर्च्छाभाव, मोह न हो तो बाह्य परिग्रह हो ही नही सकता। कोई भी वस्तु परिग्रह तब ही कही जाती है जब उसके साथ अधिकार की, स्वामित्व की भावना जुड़ी हो। अधिकार की भावना की कसौटी है उस वस्तु को दूसरा कोई ले जाना चाहे तो उसे रोकना। जैसे हम किसी की दुकान मे बैठे है या बाजार में जा रहे है। हमारे चारो ओर वस्तुओं का ढेर लगा है तो यह वस्तुओ का ढेर परिग्रह नही है। कारण कि उसके जाने, सोने, नष्ट होने से या न होने से हमें सुख-दुःख नहीं होता अर्थात् मोह नही है। अतः

अपरिग्रह—गाथा

मूल

लाभुत्ति न मज्जिज्जा,
अलाभुत्ति न सोइज्जा ।
वहुंपि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।।

—आचारांग १/२/५

अनुवाद

धन पाकर तुम गर्व करो मत,
नहीं मिले, तो शोक न भारी ।
अधिक मिले, तो संचय मत कर,
परिग्रह-वृत्ति नहीं सुखकारी ।

—बशीर अहमद 'मयूख'

□ □ □

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ती अमयं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्ठिये नरे,
वेराणुवद्धा नरयं उवेन्ति ।।

—उत्तराध्ययन ४/२

जो जन अमृत समझकर धन का,
पाप कर्म से संचय करते ।
छल-चोरी-मिथ्या-भाषण से,
अपनी सिर्फ तिजोरी भरते ।
उनके पास उन्ही की बेड़ी,
वन, समाज से वैर बढ़ाते ।
धन रह जाता, पर वे जीवन,
में ही नारकीय गति पाते ।।

□ □ □

वित्तेण ताणं ण लभे पमत्ते,
इममि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ।।

—उत्तराध्ययन ४/५

पाप-कर्म से धन-संचय कर,
नर दु:खों से त्राण न पाता ।
किसी लोक में भी पहुँचे,
पर उसका पाप उसी को खाता ।
जैसे दीपक बुझ जाने पर,
भवन अंधेरे में खोता है ।
वैसे नर विवेक को खोकर,
नेत्र सहित अन्धा होता है ।

—डॉ. हरिराम आचार्य

□ □ □

२०

अपरिग्रह की अवधारणा

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

परिग्रह का अर्थ है "परि ग्रहणं परिग्रह" अर्थात् चारो ओर से ग्रहण करना परिग्रह है। ग्रहण उसे ही किया जाता है जो सुखद प्रतीत हो। यह नियम है कि जिसे जो वस्तु सुखद लगती है वह उसका भोग करना चाहता है। सुख भोगने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है, अतः भोगी व्यक्ति भोग्य पदार्थो का संग्रह करता है, संग्रह परिग्रह ही है। प्राणी सुखद वस्तु को अपनाना चाहता है, यह अपनापन, मेरापन का भाव अर्थात् ममता ही परिग्रह का मूल है, बीज है। जैसे बिना बीज के वृक्ष नही होता, वृक्ष मे बीज विद्यमान रहता है, उसी प्रकार बिना ममता के परिग्रह नही होता। अतः जहाँ परिग्रह है वहाँ ममता है, जहाँ ममता है वहाँ परिग्रह है। भूमि-भवन, धन-धान्य, सोना-चांदी, मुद्रा, पशु, खेत आदि द्रव्य, द्रव्य परिग्रह है। वृक्ष की तरह द्रव्य बाहर प्रकट होता है अतः उसे बाह्य परिग्रह भी कहते है और बीज के समान भाव भीतर अतर में विद्यमान रहता है अतः उसे आभ्यन्तर परिग्रह कहते है। बाह्य परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह का द्योतक है। प्रकटीकरण है, व्यक्त रूप है। अतः जहाँ बाह्य परिग्रह है वहाँ आभ्यन्तर परिग्रह है। जैनागमों में बाह्य परिग्रह में खेत, वस्तु, धन-धान्य, धातुएँ, द्विपद-चौपद, पशु-दास, दासी कहे गये है। पशु के साथ दास-दासी इसलिए कहे गए है कि आगम काल में पशु के समान ही दास-दासी भी खरीदे-बेचे जाते थे। राजकुमारी चंदनबाला, राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा आदि के उदाहरण इसके साक्षी है। आभ्यन्तर परिग्रह में मिथ्यात्व, कषाय-नोकषाय, राग-द्वेष कहे गये हैं। संक्षेप में कहें तो मोहनीय कर्म के जितने भी भेद-प्रभेद है, वे आभ्यन्तर परिग्रह है। जहाँ मोह है – मूर्च्छाभाव है— वही परिग्रह है।

आभ्यन्तर परिग्रह अर्थात् मूर्च्छाभाव, मोह न हो तो बाह्य परिग्रह हो ही नही सकता। कोई भी वस्तु परिग्रह तब ही कही जाती है जब उसके साथ अधिकार की, स्वामित्व की भावना जुड़ी हो। अधिकार की भावना की कसौटी है उस वस्तु को दूसरा कोई ले जाना चाहे तो उसे रोकना। जैसे हम किसी की दुकान में बैठे है या बाजार में जा रहे है। हमारे चारो ओर वस्तुओं का ढेर लगा है तो यह वस्तुओं का ढेर परिग्रह नहीं है। कारण कि उसके जाने, सोने, नष्ट होने से या न होने से हमें सुख-दु.ख नही होता अर्थात् मोह नही है। अतः

अपरिग्रह-गाथा

मूल

लाभुत्ति न मज्जिज्जा,
अलाभुत्ति न सोइज्जा ।
वहुंपि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।।

—आचारांग १/२/५

अनुवाद

धन पाकर तुम गर्व करो मत,
नही मिले, तो शोक न भारी ।
अधिक मिले, तो संचय मत कर,
परिग्रह-वृत्ति नहीं सुखकारी ।

—बशीर अहमद 'मयूख



जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ती अमयं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिये नरे,
वेराणुवद्धा नरय उवेन्ति ।।

—उत्तराध्ययन ४/२

जो जन अमृत समझकर धन का,
पाप कर्म से संचय करते ।
छल-चोरी-मिथ्या-भाषण से,
अपनी सिर्फ तिजोरी भरते ।
उनके पास उन्ही की बेड़ी,
वन, समाज से वैर बढाते ।
धन रह जाता, पर वे जीवन,
में ही नारकीय गति पाते ।।



वित्तेण ताणं ण लभे पमत्ते,
इमंमि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ।।

—उत्तराध्ययन ४/५

पाप-कर्म से धन-संचय कर,
नर दु:खों से त्राण न पाता ।
किसी लोक मे भी पहुँचे,
पर उसका पाप उसी को खाता ।
जैसे दीपक बुझ जाने पर,
भवन अंधेरे में खोता है ।
वैसे नर विवेक को खोकर,
नेत्र सहित अन्धा होता है ।

—डॉ. हरिराम आचार्य



२० अपरिग्रह की अवधारणा

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

परिग्रह का अर्थ है "परि ग्रहणं परिग्रह" अर्थात् चारों ओर से ग्रहण करना परिग्रह है। ग्रहण उसे ही किया जाता है जो सुखद प्रतीत हो। यह नियम है कि जिसे जो वस्तु सुखद लगती है वह उसका भोग करना चाहता है। सुख भोगने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है, अतः भोगी व्यक्ति भोग्य पदार्थों का संग्रह करता है, संग्रह परिग्रह ही है। प्राणी सुखद वस्तु को अपनाना चाहता है, यह अपनापन, मेरापन का भाव अर्थात् ममता ही परिग्रह का मूल है, बीज है। जैसे बिना बीज के वृक्ष नही होता, वृक्ष मे बीज विद्यमान रहता है, उसी प्रकार बिना ममता के परिग्रह नही होता। अतः जहाँ परिग्रह है वहाँ ममता है, जहाँ ममता है वहाँ परिग्रह है। भूमि-भवन, धन-धान्य, सोना-चांदी, मुद्रा, पशु, खेत आदि द्रव्य, द्रव्य परिग्रह है। वृक्ष की तरह द्रव्य बाहर प्रकट होता है अतः उसे बाह्य परिग्रह भी कहते है और बीज के समान भाव भीतर अंतर में विद्यमान रहता है अतः उसे आभ्यन्तर परिग्रह कहते है। बाह्य परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह का द्योतक है। प्रकटीकरण है, व्यक्त रूप है। अतः जहाँ बाह्य परिग्रह है वहाँ आभ्यन्तर परिग्रह है। जैनागमो में बाह्य परिग्रह में खेत, वस्तु, धन-धान्य, धातुएँ, द्विपद-चौपद, पशु-दास, दासी कहे गये है। पशु के साथ दास-दासी इसलिए कहे गए है कि आगम काल में पशु के समान ही दास-दासी भी खरीदे-बेचे जाते थे। राजकुमारी चंदनबाला, राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा आदि के उदाहरण इसके साक्षी है। आभ्यन्तर परिग्रह में मिथ्यात्व, कषाय-नोकषाय, राग-द्वेष कहे गये है। संक्षेप मे कहे तो मोहनीय कर्म के जितने भी भेद-प्रभेद है, वे आभ्यन्तर परिग्रह है। जहाँ मोह है – मूर्च्छाभाव है— वहीं परिग्रह है।

आभ्यन्तर परिग्रह अर्थात् मूर्च्छाभाव, मोह न हो तो बाह्य परिग्रह हो ही नही सकता। कोई भी वस्तु परिग्रह तब ही कही जाती है जब उसके साथ अधिकार की, स्वामित्व की भावना जुड़ी हो। अधिकार की भावना की कसौटी है उस वस्तु को दूसरा कोई ले जाना चाहे तो उसे रोकना। जैसे हम किसी की दुकान मे बैठे है या बाजार मे जा रहे है। हमारे चारो ओर वस्तुओ का ढेर लगा है तो यह वस्तुओ का ढेर परिग्रह नहीं है। कारण कि उसके जाने, सोने, नष्ट होने से या न होने से हमें सुख-दुःख नही होता अर्थात् मोह नही है। अतः

वह हजारों-लाखों वस्तुओं का ढेर भी हमारे लिए परिग्रह नहीं है, परन्तु हम जिस सुई को अपनी मानते है और वह खो जावे या उसे कोई ले जाये और हमें अखरे तो वह परिग्रह है। सुख राग का और दुःख द्वेष का द्योतक है। अतः जहाँ राग-द्वेप है वहाँ ही परिग्रह है। जिस वस्तु के न रहने पर दुःख होता है अर्थात् जिस वस्तु को हम अपने पास बनाये रखना चाहते है, दूसरा ले जाना चाहे या ले जावे तो हम रोकते है, दु.खी होते है, वह परिग्रह है।

बाह्य परिग्रह हो और आभ्यन्तर परिग्रह न हो यह कभी भी सम्भव नहीं है। यदि यह सम्भव होता तो तीर्थकर जैसे ज्ञानी घर बार का त्याग कर संयम ग्रहण न करते। कोई भी व्यक्ति बिना आसक्ति के भोग्य वस्तुओं का संग्रह कर नही सकता, रख नही सकता, कारण कि उस वस्तु की आवश्यकता लाखों व्यक्तियों को है और वे उसे लेने के लिए लालायित हैं। यदि उन्हे न रोका जाये तो अभी ले जाये। आवश्यकता अनुभव करने वाले उन लोगों को न ले जाने देना, उस वस्तु के प्रति राग होने का ही द्योतक है। जिसे जिस वस्तु का भोग नही करना है, वह उस वस्तु का न तो सग्रह करेगा और न किसी को उन वस्तुओं के ले जाने से रोकेगा। अतः संग्रह परिग्रह का ही दूसरा रूप है। संग्रह, परिग्रह, आग्रह समानार्थक ही है। वस्तु के सग्रह के समान अपनी बात या विचार मनवाने का आग्रह भी परिग्रह है। आग्रह में भी आसक्ति, ममत्वभाव समाहित रहता ही है।

परिग्रह अर्थात् भोग्य पदार्थ का सम्बन्ध भोग से है। भोग पाप है अतः परिग्रह भी पाप है। अठारह पापो मे परिग्रह पाँचवा पाप है। और इस पाप का वर्णन करते हुए भगवान् ने खेत-वस्तु, धन-धान्य आदि का परिग्रह के रूप में नामोल्लेख स्पष्ट रूप से किया और इन वस्तुओ को स्वयं ने त्यागा और दूसरों को भी त्यागने का उपदेश दिया। यह नही कहा कि वस्तुएँ तो भले ही रहें, इनकी आसक्ति त्याग दो। अतः यह कहना कि वस्तुएँ भले ही बनी रहें, उनकी आसक्ति त्याग दो—भगवान् की आज्ञा का उल्लघन है, परिग्रह का प्रकारान्तर से समर्थन है, धोखा है। कारण कि यह कभी सम्भव ही नही है कि कोई आसक्ति त्याग दे फिर भी भोग्य वस्तुओं का स्वामी बना रहे। स्वामित्व परिग्रह का ही द्योतक है। वस्तुओ के सग्रह या धन को प्रभु ने परिग्रह रूप पाप कहा है। कही पुण्य या धर्म नही कहा है। अतः पाप को पाप मानने में ही भला है। 'ठाणांग' मे नौ प्रकार का पुण्य कहा है। उसमें देने को ही पुण्य कहा है। वस्तु संग्रह करने को नही है। देना, लेना (संग्रह करना) से विपरीत है।

पुण्य है प्राप्त वस्तुओं का भोग न कर-दूसरो की सेवा में उनका सदुपयोग करना। दूसरे शब्दों मे कहे तो उस वस्तु के भोग से बचना व दान के रूप मे उसका त्याग करना पुण्य है। सेवा में महत्त्व वस्तु का नही, वस्तु के त्याग का

है। कोई व्यक्ति वस्तुएँ अल्प मात्रा में दे या अधिक मात्रा में दे, अल्प मूल्य की दे या अधिक मूल्य की दे, उसमें महत्त्व उसकी करुणा या त्याग भावना का है। किसी के दबाव से, बिना भावना के दिया गया दान, दान नहीं दंड है।

उदाहरण के लिए एक करोड़पति व्यक्ति ने एक हजार का दान दिया और एक व्यक्ति जिसे चार रोटी की भूख है और उसके पास दो रोटी है, उसमें से भी दूसरे भूखे व्यक्ति को एक रोटी दे दी तो यह अधिक उच्च स्तर का दान है। कारण कि करोड़पति ने तो अपनी सम्पत्ति का दस हजारवां भाग अर्थात् १.०१०० प्रतिशत का त्याग किया और दूसरे व्यक्ति ने पचास प्रतिशत त्याग किया। अथवा किसी ने सैकड़ो व्यक्तियों को मिष्ठान्न खिलाया, परन्तु खीझते हुए, खिलाया और दूसरे ने रूखी-सूखी रोटी प्रेम से खिलाई तो खाने वाले को मिठाई तो जहर लगेगी और रोटी प्यारी लगेगी। तुलसीदासजी ने कहा भी है—

"आव नही, आदर नही, नहीं नैनन में नेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह।।"

सम्पूर्ण परिग्रह की जड़ है मिथ्यात्व अर्थात् जो वस्तु जैसी नही है उसको वैसी मानना अथवा विवेक विरोधी मान्यता। विषय भोग जो दुःख युक्त है, उन्हे सुखद मानना, पर से सुख चाहना, धन-धान्य आदि पर वस्तु के भोग की दासता को, पराधीनता को स्वाधीनता मानना, मिथ्यात्व है। यह नियम है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु से सुख भोग करने लगता है वह वस्तु उसे सत्य और प्रिय लगने लगती है। सत्य लगने से वह यह भूल जाता है कि वस्तु नाशवान है और प्रिय लगने से उसके प्रति ममता हो जाती है। जिस वस्तु से ममता हो जाती है उस वस्तु को वह प्राप्त करना चाहता है, प्राप्त वस्तु को रखना चाहता है, रक्षा करना चाहता है, उसका सग्रह करना चाहता है। इस प्रकार विषय में सुख है, इस भ्रान्त और मिथ्या मान्यता से ममताभाव, अपनत्व भाव उत्पन्न होता है, जो कामना और मूर्च्छा के रूप में प्रकट होता है। जो वस्तु अप्राप्य है उसकी चाह होना, उसके न मिलने पर दुःखी और मिलने पर हर्ष होना इच्छा, तृष्णा, कामना है। और जो वस्तु प्राप्त है उसकी रक्षा के लिए चिन्तित होना, उसकी हानि की आशंका से भय होना, उसे अपना जीवन मानना, उसका वियोग होने पर दुःखी रहना मूर्च्छा है।

कामना की पूर्ति के लिए उद्यम करना आरम्भ है और कामना पूर्ति से प्राप्त वस्तुओ के प्रति आसक्ति ही परिग्रह है। यह आरम्भ-परिग्रह ही समस्त दु.खो की जड़ है। नारकीय स्थिति पैदा करने वाला है। इसीलिए इसे नरक का कारण वताया है और आगम मे आरम्भ-परिग्रह के त्याग के लिए प्रतिदिन

भावना करने को श्रावक का प्रथम मनोरथ बताया है। परिग्रह का त्याग ही मुक्ति है। कहा भी है—

"कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तित।
तेषा सर्वात्मा नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ।।"

अर्थात् मनीषिगण कहते है कि हृदय मे कामनाओं की वासना ही संसार अर्थात् जन्म-मरण है। समस्त कामनाओं का नाश ही मोक्ष है। आशय यह हुआ कि ममता या परिग्रह का पूर्ण त्याग ही मुक्ति है।

अब जानना यह है कि इच्छा उत्पन्न क्यों होती है? कहना होगा कि 'सुख कामना पूर्ति मे है' इस मान्यता से कामना उत्पन्न होती है। पूर्व जीवन के संस्कार के कारण जैसे-जैसे अवस्था बढती जाती है वैसे-वैसे जगत् के पदार्थो का अधिक परिचय होता जाता है। जिन-जिन पदार्थो का परिचय होता जाता है उन-उन पदार्थो से सुख पाने की इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार अवस्था के बढने के साथ-साथ ही कामना की वृद्धि होती जाती है। कामना की वृद्धि के साथ-साथ ही जिन पदार्थो से कामना की पूर्ति होती है उन पदार्थो के संग्रह की इच्छा प्रबल होती जाती है। उस इच्छा की पूर्ति पदार्थो के संग्रह से की जाती है।

प्राचीन काल में जब विज्ञान का विकास नही हुआ था तब वस्तुओं की संख्याएँ सीमित थी। व्यक्ति सीमित वस्तुओ से परिचित था इसलिए उसकी संग्रह या परिग्रह वृत्ति भी सीमित थी परन्तु जैसे ही वैज्ञानिक युग आया; विज्ञान के आविष्कारों के द्वारा वस्तुओं की सख्या बढती गई वैसे ही उन पदार्थो की प्राप्ति और संग्रह की लालसा भी बढती गई। परन्तु वस्तुओं की संख्या वर्तमान में इतनी अधिक बढ गई कि इन सब वस्तुओ का क्रय करना जन साधारण के लिए सम्भव नही । इच्छा का उत्पन्न हो जाना परन्तु उसकी पूर्ति के न होने मे अभाव का अनुभव होता है। वस्तु के नही होने से अभाव अनुभव नही होता है। जैसे कोई व्यक्ति शराब नही पीता तो उसे शराब की इच्छा नहीं होती और इच्छा न होने के कारण उसके पास शराब न होने पर भी शराब का अभाव नही अनुभव होता। अभाव का अनुभव तभी होता है जब इच्छा उत्पन्न हो और उसकी पूर्ति न हो।

आज जन-साधारण रेडियो, टेलीविजन, विडियो, सिनेमा, साइकिल, स्कूटर, कार, बस आदि साधनों एव अनेक प्रकार की खान-पान की चीजों का भोग करता है जो पुराने जमाने में अशोक-अकबर जैसे बड़े-बड़े सम्राटों को भी प्राप्त नही थीं। इतनी भोग की सामग्री होते हुए भी आज का मानव पहले

से अधिक अभाव से ग्रसित है। इसका कारण है भोग्य वस्तुओं से उसका परिचय। आगे भी जैसे-जैसे विज्ञान का विकास होता जायेगा, विज्ञान के द्वारा अगणित प्रकार की भोग्य वस्तुएँ उपलब्ध होती जायेगी, वैसे-वैसे इच्छाओ की वृद्धि होती जायेगी, और उनको क्रय करने मे असमर्थता से कामना पूर्ति न होने के कारण अभाव की वृद्धि होती जायेगी। अभाव का होना ही दुःख है। अत. दुःख की वृद्धि होती जायेगी। इस प्रकार विज्ञान के द्वारा प्रदत्त सामग्री मानव के लिए दु.ख का कारण बनती जायेगी। कारण कि प्राप्त वस्तु से जो सुख मिलता है, वह तो क्षण मात्र से अधिक रहता नही है और अप्राप्त की कामना प्राप्त होती जाती है जिसका अंत नही है, इसीलिए कहा जाता है—"इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।"

अर्थात् इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है। और जितनी इच्छाएँ है उतना ही अभाव है। इसीलिए अभाव भी अनन्त है। अभाव का होना ही दुःख है। इसलिए दु.ख भी अनन्त है।

जैसे परिग्रह दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर, वैसे ही मनुष्य के पास दो प्रकार की सम्पत्ति होती है—स्थूल और सूक्ष्म अथवा भौतिक और आध्यात्मिक। बाह्य वस्तुओं का सग्रह भौतिक सम्पत्ति है और हृदय की शुद्धता आतरिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति है। क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, विनम्रता, कोमलता, उदारता, धैर्य, संयम आदि सद्गुण आध्यात्मिक सम्पत्ति है। जैसे स्थूल या भौतिक सम्पत्ति घटती-बढती रहती है उसी प्रकार आध्यात्मिक सम्पत्ति भी घटती-बढती रहती है। जैसे भौतिक सम्पत्ति के अपव्यय से, अभाव से, कमी होने से मनुष्य कठिनाई में पड़ता है वैसे ही आध्यात्मिक सम्पत्ति-हृदय की शुद्धता के अभाव से, सद्गुणो की कमी से, मनुष्य दुःखी होता है। विकास की दृष्टि से विचार किया जाय तो आध्यात्मिक सम्पत्ति ही महत्त्व की वस्तु है। धन या भौतिक सम्पत्ति के परिग्रह से जो सुख मिलता है वह सुख स्थायी हो, ऐसा नही होता। वह सुख क्षणिक होता है। भोग्य वस्तु के रहते हुए भी उस सुख में प्रतिक्षण क्षीणता आती ही है और अत में वह नीरसता में बदलता ही है। परन्तु हृदय की पवित्रता से, सद्गुणों रूप आध्यात्मिक सम्पत्ति से जो सुख मिलता है, वह स्थायी होता है, उसमें क्षीणता नही आती, उसका अंत नीरसता में नही होता। यह नई कामना को जन्म नही देता, अतः अभाव एवं अशांति रहित होता है। इसकी प्राप्ति मे अपने से भिन्न किसी वस्तु, व्यक्ति की अपेक्षा नही होती है अतः स्वाधीन होता है। जबकि भोग का सुख पूर्णतः भोग्य पदार्थ पर निर्भर होता है। पराधीन होता है। भौतिक या भोग के सुख को Pleasure और आध्यात्मिक सद्गुण के सुख को Happiness कह सकते है। भौतिक सुख के पहले व अत मे दु.ख होता ही है। भौतिक सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। यही नही, भौतिक सुख भोगते समय भी पराधीनता,

उत्तेजना, आकुलता, अशांति रूप दुःख साथ लगा रहता ही है। अतः भौतिक सुख दुःख ही है।

मानव जितने भी प्रयत्न करता है, वे सब सुखी होने के लिए करता है। साधारणतः होता यह है कि सुखी होने के इन प्रयत्नों में हम उचित-अनुचित प्रवृत्ति का, कामों का, कर्तव्य का ध्यान नही रखकर धन-सग्रह करने के पीछे पडे रहते है और यह भूल जाते है कि सच्चा व स्थायी सुख हृदय की पवित्रता रूप सद्गुणों से मिल सकता है, भौतिक वस्तु से नही। यही कारण है कि आज धनी भी दुःखी है और निर्धन भी दुःखी है।

जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता जाता है उसे भोग मे दुःख और त्याग मे सुख अनुभव होता जाता है। अतः वह भोग छोड़ता जाता है, त्याग करता जाता है। भोग का पूर्ण त्यागी अर्थात् सयमी ही पूर्ण सुखी होता है। संयम ही सुख का हेतु है। अतः मानव जाति के सुख व विकास के लिए भोग की अपेक्षा त्याग, स्वार्थपरता की अपेक्षा सेवा भाव, सकीर्णता की अपेक्षा विशालता-विभुता ही आवश्यक है।

परिग्रह-त्याग का स्वरूप

जैन दर्शन मे परिग्रह-भोग व भोग्य पदार्थ के त्याग को चारित्र कहा है। यह नियम है कि सम्यक् चारित्र, सम्यक् दर्शन के विना नही हो सकता। साधना के क्षेत्र मे अर्थात् सच्चे सुख की प्राप्ति मे सम्यक् चारित्र का ही महत्त्व है, मिथ्या चारित्र का नही! जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ ही मिथ्या चारित्र है। मिथ्यात्व है विषय भोग जो संसार भ्रमण का मार्ग है उसे मोक्ष का मार्ग समझना। आशय यह है कि भोग को सुख मानना व इसे दुःख से मुक्ति पाने का उपाय समझना मिथ्यात्व है। भोग विना भोग्य पदार्थों के सम्भव नही है, अत. भोग और भोग्य पदार्थ (परिग्रह) मे अटूट सम्बन्ध है। अतः परिग्रह में सुख मानना, परिग्रह को भला, हितकारी, कल्याणकारी, समझना मिथ्यात्व है। परिग्रह को दुःखद समझना, दुःखद होने से त्याज्य समझना, त्याग में ही अपना भला, हित व कल्याण समझना सम्यक्त्व है। त्याग मे ही मुक्ति है। परिग्रह ही वन्धन है कारण कि परिग्रह भोग का द्योतक है। जहाँ भोग है वहाँ वन्धन है। भोग की इच्छा व भोग ही विकार है। रोग है। मलेरिया, ज्वर, कैंसर आदि शारीरिक रोग, वाह्य रोग हैं। जैसे ज्वर है शरीर के तापमान का बढना और उसका कारण है मच्छर का विष आदि। ज्वर में तापमान की वृद्धि होना ज्वर का वाह्य लक्षण है और मच्छरों के काटने का विष आंतरिक कारण है, वास्तविक कारण है। ज्वर का तापमान आंतरिक विष का द्योतक है। इसी प्रकार भोग रूपी रोग का धन-धान्य का सग्रह रूप परिग्रह वाह्य लक्षण है और

मिथ्यात्व, कषाय, नो कषाय रूप आभ्यन्तर परिग्रह आतरिक कारण है। सम्यक्त्वी पुरुष भोग को रोग मानता है अत: वह बाह्य व आभ्यन्तर इन दोनों परिग्रहों को त्याज्य मानता है। जैसे कोई भी शारीरिक रोगी–ज्वर ग्रस्त व्यक्ति रोग के ज्वर को बढाना नही चाहता, घटाना चाहता है इसी प्रकार ज्ञानी जो परिग्रह को रोग-विकार-दोष समझता है वह उसे घटाने में ही अपना कल्याण मानता है। अत: वह प्रथम तो परिग्रह का पूर्ण त्याग कर संयमी बनना चाहता है परन्तु किसी कमजोरी से पूर्ण त्याग नही कर सकता है तो कम-से-कम अभी जितना परिग्रह है उसे बढाना तो नहीं चाहता—इसीलिए परिग्रह परिमाण व्रत धारण करता है। और परिमाण को सतत घटाने का प्रयास करता है बढाने का नही। यही परिग्रह परिमाण व्रत का स्वरूप है। परन्तु जो परिग्रह परिमाण को ग्रहण करते समय वर्तमान परिग्रह से अधिक परिग्रह रखना चाहता है तो यह मानसिक तनाव को सीमित रखने वाला होने से अच्छी बात तो है परन्तु सच्चे त्याग की कमी का द्योतक है। सम्यक्त्वी मनुष्य तो विद्यमान परिग्रह रूपी रोग को घटाने का ही प्रयत्न करता है, बढाने का नही। कारण कि कौन ऐसा रोगी होगा जो रोग बढाने का प्रयत्न करना चाहेगा ? कोई भी नही। अत: जो परिग्रह बढाने को आवश्यक, सुखद व अच्छा समझता है तो कहना होगा कि उसने परिग्रह को दु:खद, त्याज्य समझा ही नही और जिसने परिग्रह को त्याज्य न समझा वह सम्यक्त्वी नही है। सम्यक्त्व रहित परिग्रह की कमी का साधना के क्षेत्र में महत्त्व नही है। कारण कि ऐसा परिग्रह का अभाव तो भिखारी, पशु व वृक्ष के भी देखा जाता है परन्तु उनको अपरिग्रही नही कहा जाता, कारण उनका अपरिग्रही होना अपरिग्रहाभास है। जिसका साधना से या आत्म-कल्याण से कोई सम्बन्ध नही है। आशय यह है कि जीवन मे महत्त्व विवेकपूर्वक परिग्रह त्याग का है, परिग्रह के अभाव का नही। अभाव और त्याग में बहुत अंतर है। जहाँ अभाव है, वहाँ अशाति है, दु:ख है, जहाँ त्याग है, वहाँ शांति है, अक्षय सुख है।

निर्धनता और अपरिग्रह में अन्तर

वस्तुओ के संग्रह या असंग्रह से निर्धनता व अपरिग्रह का सम्बन्ध नही है। वस्तुओं का संग्रह तो वृक्ष, पशु-पक्षियों के भी नही है परन्तु इसके कारण उन्हे न तो निर्धन ही कहा जा सकता है और न अपरिग्रही ही। निर्धन तो इसलिए नही कहा जा सकता है कि उन्हें धन की चाह नही है। चाह न होने से अभाव का अनुभव नही है। अभाव का अनुभव होना ही निर्धनता है, दरिद्रता है। तथा इन्हे अपरिग्रही इसलिए नही कहा जा सकता कि इन्होने विवेक से परिग्रह मे पराधीनता का अनुभव कर त्याग नही किया है। इसी प्रकार साधु व केवलज्ञानी के प्रात काल मे सायंकाल के भोजन का प्रबन्ध न होने जैसी निर्धनता की गरीबी की स्थिति होने पर भी उन्हे निर्धन, दरिद्री या भिखमगा

नही कहा जाता है यद्यपि वे भीख (भिक्षा) से ही जीवनयापन करते है कारण कि इन्हे भोजन के मिलने न मिलने का हर्ष शोक, सुख-दु ख, भय-प्रलोभन नही है। इन्हें दरिद्री न कहकर असीम पुण्यशाली कहा जाता है कारण कि साधु के परिग्रह का त्याग होने से अभाव या पराधीनता का दु.ख नही है। यदि अभाव होता तो अभाव का दु.ख होता। और केवली को तो लाभान्तराय का पूर्ण क्षय होने से अनन्त लाभ, अनन्त ऐश्वर्य—सम्पन्न कहा गया है। वस्तुतः दरिद्री वह है जहाँ दरिद्रता है। दरिद्रता वहाँ है जहाँ कामना या चाह है। चाह या कामना मे ही कमी का अनुभव होता है। जिसके कमी है वही कमीना है, वही दरिद्र है। अपरिग्रही वह है जहाँ कामना-चाह का त्याग है अर्थात् जो सग्रह या परिग्रह में सुख का अनुभव नही करता।

वाह्य रूप से दरिद्रता और अपरिग्रह इन दोनों मे सग्रह का अभाव है। अतः वाह्य दृष्टि से दोनों एक लगते है परन्तु आभ्यन्तर रूप से व परिणाम मे महान् अन्तर है। दरिद्र के पास वस्तु या धन होने पर भी उसके दिल में वस्तु या धन का मूल्य, धन का महत्त्व, धन की अभिलाषा, धन की रुचि रहती है। वह वस्तुओ का भोगी होता है जवकि अपरिग्रही चारों ओर वस्तुओ से घिरा होने पर भी, उनसे जल-कमलवत अलिप्त रहता है। उसकी दृष्टि मे वस्तु का मूल्य, महत्त्व, अभिलाषा, रुचि आदि कुछ नही होता है। दरिद्र भोगी होता है, अपरिग्रही योगी। दरिद्रता की देन है द्वन्द्वता और अपरिग्रह की देन है निर्द्वन्द्वता, निश्चिन्तता। दरिद्रता अभाव की द्योतक है, अपरिग्रहता पूर्णता की। दरिद्रता पराधीन वनाती है और अपरिग्रह स्वाधीन। दरिद्रता—कमी, अभाव किसी को भी अभीष्ट नही है फिर भी कुछ न कुछ कमी प्रत्येक परिस्थिति मे वनी रहती है। और न चाहते हुए भी आ जाती है। कोई भी व्यक्ति उस कमी को दूर करने मे समर्थ व स्वाधीन नही है, परन्तु अपरिग्रही होने मे सव समर्थ और स्वाधीन है। यद्यपि दरिद्रता और अपरिग्रह दोनों ही में वस्तुओं का अभाव है परन्तु अन्तर यह है कि दरिद्रता मे वस्तु न होने पर भी वस्तु से सम्वन्ध वना रहता है जैसे दरिद्री सड़क पर वसेरा डाले होने पर भी मकान के स्वप्न देखता रहता है, मकान से सम्वन्ध वनाये रखता है और अपरिग्रह मे वस्तु तो वनी रहती है पर उससे सम्वन्ध नही रहता है अर्थात् साधु भव्य भवन मे ठहरने पर भी उस भवन से सम्वन्ध नही जोडता है। वस्तुत· वस्तु का सम्वन्ध ही वन्धन है, दुःख है, कारण कि इससे ही विषय-कषाय आदि दोषो की तथा अभाव, पराधीनता, सघर्ष आदि दु.खो की उत्पत्ति होती है। दरिद्रता मे वस्तु का अभाव होता है और अपरिग्रह मे वस्तु के सम्वन्ध का अभाव या नाश होता है। वस्तु न हो या न रहे और उसका सम्वन्ध वना रहे और वस्तु रहे पर उसका सम्वन्ध न रहे, इन दोनो के परिणाम मे वडा अन्तर है। सम्वन्ध वना रहे और वस्तु न रहे तो उसकी आसक्ति व्यक्ति को अशांति, पराधीनता, अभाव

आदि दु:खों से आक्रांत कर देती है तथा सम्बन्ध नहीं रहा और वस्तु बनी रही तो वह व्यक्ति को कुछ भी हानि नही पहुँचा सकती। कोई कैसा भी उच्च कोटि का साधक हो शरीर, भूमि, पर्यावरण आदि वस्तु तो वहाँ बनी ही रहेगी। इस दृष्टि से किसी वस्तु का होना या न होना साधना में हेतु नही है। प्रत्युत वस्तुओं का सम्बन्ध विच्छेद होना अपरिग्रह है। यही अपरिग्रह पराधीनता के दु ख से मुक्ति देकर स्वाधीन अक्षय अखंड सुख देने वाला है, ऐश्वर्य-सम्पन्नता प्रदान करने वाला है।

समस्त वस्तुओ से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर वर्तमान में ही साधक वीतराग होकर चिर शान्ति, पूर्ण मुक्ति (स्वाधीनता) अक्षय-अव्याबाध-अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है।

(वर्तमान काल में अधिकांश लोगों का ऐसा विचार है कि धन या श्रीमताई से सुख होता है फलतः प्रत्येक व्यक्ति जिस किसी भी उपाय से श्रीमंत बनने के लिए प्रयत्नशील है परन्तु 'श्रीमत लोग सुखी होते ही है' उनकी यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः सुख किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की उपलब्धि पर निर्भर नही है प्रत्युत उस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति का हम कैसा उपयोग करते है अथवा उसका हमारे मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर निर्भर है। स्वादिष्ट मिष्ठान्न उपलब्ध हो जाने पर भी भोजन का आनन्द मिल जाय, यह आवश्यक नही है। स्वादिष्ट भोजन होने पर भी भूख न हो, आमाशय में पाचन-शक्ति न हो, मधुमेह जैसा रोग हो, तो भोजन का आनन्द नही मिल सकता, सुख का अनुभव नही हो सकता। ऐसे कितने ही श्रीमंत देखने मे आते है कि जिन्हें सब प्रकार स्वादिष्ट भोजन उपलब्ध है फिर भी लूखी रोटी ही खानी पड़ती है। दूसरी ओर ऐसे भी श्रमिक देखे जाते है जो उपलब्ध भोजन का आनन्द लेते है। मधुर सगीत हो परन्तु कान बहरे हों, सुन्दर चित्र या प्राकृतिक दृश्य हो पर नयन दृष्टिहीन हों तो सगीत के माधुर्य का और चित्र-दृश्य के सौदर्य का आनन्द नही आ सकता।)

जिस प्रकार श्रवण कान का और दर्शन नयन का विषय है, इसी प्रकार सच्चा सुख हृदय का विषय है। पवित्र हृदय के बिना मनुष्य सच्चे सुख का अनुभव नही कर सकता। सच्चे सुख के अभाव के कारण ही मनुष्य सुख की खोज में रात-दिन गोता खाता रहता है, चक्कर काटता रहता है, एक वस्तु या परिस्थिति को छोड़कर दूसरी वस्तु या परिस्थिति की ओर दौड़ता रहता है। मन की चंचलता का यही कारण है।

जब व्यक्ति इस रहस्य को समझ लेता है कि सुख की उपलब्धि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति पर निर्भर न होकर हृदय की पवित्रता, शुद्धता पर निर्भर

है तब उसका ध्यान वस्तु, परिस्थिति आदि परिग्रह से हटकर अर्थात् वाह्य से हटकर अत.करण की ओर जाता है। फिर वह हृदय की शुद्धि के लिए तत्पर होता है।

परिग्रह की वृद्धि और हृदय की शुद्धि इन दोनों का साथ सम्भव नही है। जहाँ परिग्रह है वहाँ परमात्मा नही, जहाँ काम है वहाँ राम नही, जहाँ राम है, वहाँ काम नही, यह सत्य है। अत: स्वर्ग के सुख का, अपवर्ग के आनन्द प्राप्ति का उपाय परिग्रह रहित होना ही है। स्वर्ग या देवलोक मे भी जो देवता जितना उच्च स्तर का है उतनी ही उसके इन्द्रिय भोग की सामग्री कम है, वह कम भोगी है। इससे सिद्ध होता है कि सयम में ही स्वर्ग का व अपवर्ग का सुख निहित है। हृदय की अपवित्रता या असयम ही नारकीय दु.ख का कारण है। परिग्रह भोग वृत्ति या असंयम का ही द्योतक है। इसीलिए जैनागम में महा परिग्रह को नरक का कारण बताया है जो उचित ही है। कोई परिग्रह धारी भी रहे और मुक्ति तथा स्वर्ग के श्रेष्ठ सुख भी पाना चाहे यह कदापि सम्भव नही है।

परिग्रह की पूर्ति असम्भव

हम आकाश को देखते है तो ऐसा लगता है कि चारो ओर कुछ ही दूरी पर आकाश और धरती मिले हुये है। इसे क्षितिज कहते है। विपय सुख इसी क्षितिज के समान हैं। जिस प्रकार क्षितिज मे धरती और आकाश मिले हुए दिखाई देते है और ऐसा लगता है कि कुछ दूर चलने से क्षितिज के स्थान पर पहुँच कर धरती और आकाश के मिलन को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है परन्तु जैसे ही व्यक्ति क्षितिज पर पहुँचने की आशा से उस ओर चलता है तो जितना वह आगे बढता जाता है क्षितिज भी उतना ही आगे बढता जाता है। और कोई भी व्यक्ति निरतर एक जीवन की तो क्या कहें अनन्त जीवन तक चलकर भी क्षितिज पर नही पहुँच सकता। उसकी और क्षितिज की दूरी ज्यों की त्यो वनी रहती है। उसमें रच मात्र भी कमी नही होती। सच तो यह है कि क्षितिज प्रतीत ही होता है। वास्तव मे उसका स्वतत्र अस्तित्व होता ही नही है। उसका अस्तित्व धोखा है। यदि क्षितिज का अस्तित्व है तो उस जगह पर भी है जहाँ पर स्वय क्षितिज देखने वाला वह व्यक्ति खडा है। आशय यह है कि यदि क्षितिज है तो सव जगह है अथवा कही नही है।

इसी प्रकार विपय-सुख की पूर्णता की प्राप्ति के लिए वस्तुओं का सग्रह या परिग्रह का सचय कर कृतार्थ हो जाने की आशा करना अपने आपको धोखा देना है। जैसे-जैसे विषय सुख का भोगी व्यक्ति पूर्ण सुखी होने के लिए सुख की कमी को दूर करने के लिए परिग्रह की एक सीमा का लक्ष्य निर्धारण करता है और उस सीमा या लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वस्तुओ का सग्रह करता जाता

है वैसे ही वैसे वह लक्ष्य या सीमा आगे बढ़ते जाते है और लक्ष्य व उसके बीच की दूरी में रंच मात्र भी कमी नही होती। वह दूरी ज्यों की त्यों बनी रहती है। सुख की पूर्णता के लिए एक जन्म तो क्या, अनन्त जन्म तक भी कोई कितना ही सग्रह करे; परिग्रह बढावे, पूर्ण सुख की उपलब्धि कभी हो नही सकती। कारण कि उस स्थिति की प्रतीति ही होती है, वास्तव में उसकी स्वतंत्र सत्ता व स्थिति नही है क्योकि सत्ता, स्थिति या परिस्थिति कोई भी कैसी भी क्यों न हो, उसमें कमी बनी ही रहती है। वह कमी कभी पूर्ण हो ही नही सकती। इस दृष्टि से संग्रह या परिग्रहजनित सभी स्थितियाँ या परिस्थितियाँ एक ही समान है। उनमें कोई अन्तर नही है। उनमें जो अन्तर दिखाई देता है वह वैसा ही है जैसा कि एक बटे दो में और एक लाख बटे दो लाख में है। कारण कि कोई भी कितनी ही परिग्रह की वृद्धि करे, किसी भी परिस्थिति का निर्माण करे, उसमे नीरसता, पराधीनता, अभाव, जड़ता; आयेगी ही। यह उसकी देन होगी ही। इस प्राकृतिक विधान को कोई मिटा नही सकता।

आकाश का अंत पाने के लिए क्षितिज तक पहुँचने तक कोई कितना भी प्रयत्न करे, नही पहुँच सकता अर्थात् आकाश का अंत नहीं पा सकता। आकाश अनन्त है। इसी प्रकार परिग्रह की प्राप्ति से कामनाओं की पूर्ण पूर्ति कर उसका अन्त करना कभी भी सम्भव नही है। जो असम्भव है उसे सम्भव करने का प्रयास भूल है, धोखा है, अपने समय, शक्ति व श्रम को व्यर्थ खोना है।

मूल्यांकन दृष्टि का अन्तर

(‘पर’ का ग्रहण ही परिग्रह है। ‘पर’ वह है जो सदा साथ न रहे, जिसका वियोग हो जावे। जो अनित्य है ‘पर’ है। उसको अपना मानना भूल है, धोखा है, मिथ्यात्व है। ‘पर’ के आधार पर अपना मूल्यांकन करना भूल है। इस दृष्टि मे धन, बल, विद्या, वस्तुएँ आदि की न्यूनाधिकता के आधार पर अपने व दूसरे के महत्त्व का मूल्यांकन करना, उससे हीन-महान् समझना, छोटा-बड़ा मानना ‘पर’ से मूल्याकन करना है। धन की कमी से अपने को हीन व छोटा मानना, धन की अधिकता से अपने को बडा मानना अपना मूल्य खोना है। फिर धन धन का ही हुआ अपना नही, जड़ का ही हुआ चेतन का नहीं। जड़ को मूल्यवान मानना, चेतन को मूल्यहीन मानना, धन को जीवन मानना है जो घोर मिथ्यात्व है। जीवन चेतन का लक्षण है। अतः धन को जीवन मानना जड़ या अजीव मे जीवन बुद्धि होना है, अजीव को जीव मानना है जो मिथ्यात्व है। सम्यक्त्वी वह है जो ज्ञान-दर्शन आदि चेतना के गुण के विकास के आधार पर चेतना के विकास का मूल्यांकन करता है।

परिग्रही और अपरिग्रही मे मूल्य की दृष्टि का ही अन्तर है। परिग्रही वस्तुओ से, अपरिग्रही त्याग से अपना मूल्याकन करता है। परिग्रही धन मे, जड से, पर से, विनाशी वस्तुओं की वृद्धि से अपना मूल्यांकन करता है। अपरिग्रही ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणो की वृद्धि से अपना मूल्याकन करता है। मूल्य के इस परिवर्तन मे ही जीवन की सार्थकता है।

जो भीतर से रीता है, वह उस रिक्तता को दूर करने के लिए बाहर से अपने को भरने की कोशिश करता है। परन्तु बाहर की वस्तुएँ स्थूल है। वे भीतर के सूक्ष्म स्तर के क्षेत्र मे प्रवेश कर नही सकती। इसीलिए वह जितना-जितना अपने को बाहरी वस्तुओ के संग्रह से भरने की कोशिश करता है, उतना-उतना बहिर्मुखी होता जाता है। जो जितना बहिर्मुखी है वह भीतर से उतना ही दूर है अर्थात् उसके भीतर मे रिक्तता ज्यो की त्यो बनी रहती है। ये वस्तुएँ उस रिक्तता पर आवरण-आवेष्टन का काम करती है। इस कारण परिग्रही व्यक्ति पर उस रिक्तता का प्रभाव भी नही पडता अर्थात् वह बाहर मे इतना उलझा रहता है कि भीतरी रिक्तता का, नीरसता का वह अनुभव ही नही कर पाता है और वह रीता का रीता रहता हुआ शरीर छोड देता है। बाहर से धनाढ्य कहला कर भी भीतर से दरिद्र-अभावग्रस्त रहता हुआ वह अपना पूरा जीवन खो देता है। जो जीवन रिक्तता को सदा के लिए विदा कर देने के लिए मिला था वह जीवन या अवसर चूक जाता है। यह अपने ही द्वारा अपना घोर विनाश करता है।

तात्पर्य यह है कि परिग्रह के भोग से परलोक में, नरक मे दु:ख मिलता है, परिग्रह के त्याग से परलोक मे स्वर्ग मे सुख मिलता है, कोई ऐसा माने या न माने इसमे कोई अन्तर नही पड़ता। कारण कि वर्तमान जीवन में परिग्रह के कारण पराधीनता, नीरसता, अभाव, तनाव, जड़ता, दबाव, द्वन्द्व, सघर्ष आदि दु.ख प्रत्यक्ष भोगने पडते है और परिग्रह-त्याग से स्वाधीनता, मुक्ति, शाति, शक्ति, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, सुख साक्षात् प्रकट होते है। अत: सम्पूर्ण दु:खो से मुक्ति और सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए हम सबको परिग्रह का त्याग करना ही होगा। यदि हम अपनी कमजोरी से परिग्रह का पूर्ण त्याग न कर सके तो दु:ख-वृद्धि से ही मुक्त होने के लिए हमे परिग्रह-परिमाण-व्रत-धारण करना ही चाहिए।

□ □ □

२१

अपरिग्रह : स्व की अनुभूति

□ डॉ. भीकमचन्द प्रजापति

मानव जीवन की बड़ी महिमा है, कारण कि केवल इसी जीवन में व्यक्ति चिंता, दुःख, भय, निराशा, अभाव, तनाव आदि से सदा-सदा के लिए मुक्त होकर शांति, मुक्ति, भक्ति से अभिन्न होकर यह अनुभव कर सकता है कि उसने पाने योग्य सब कुछ पा लिया है, जानने योग्य सब कुछ जान लिया है और करने योग्य सब कुछ कर लिया है।

जीवन का एक क्रम है—जन्मना—प्रति क्षण बदलना और अंत मे मर जाना। व्यक्ति का जन्म होता है, एक अवस्था तक शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास होता है और इसके बाद इन शक्तियों का ह्रास आरंभ हो जाता है और शरीर की अंतिम गति है—मृत्यु। इस प्राकृतिक क्रम को बदलने में मानव सर्वथा पराधीन है। कोई, किसी भी उपाय से इस क्रम में परिवर्तन करने में समर्थ नही है।

वही मानव धन्य है, उसी का मानव जीवन सफल है जो प्राकृतिक शक्तियो के रहते-रहते, शरीर के नाश होने के पहले-पहले दुःख, चिता, भय आदि से सर्वाश में मुक्त होकर अखण्ड आनन्द से अभिन्न हो जाय। ऐसा अनुभव करले कि मै शरीर नही हूँ, शरीर मेरा नही है, शरीर मुझे मिला है, और मृत्यु के समय यह अनुभूति करके असीम आनन्द से भर जाय कि मै नहीं मर रहा हूँ, शरीर मर रहा है। मै तो अमर आत्मा हूँ, सत, चित्, आनन्द हू, अविनाशी हूँ, उदारता, स्वाधीनतां और प्रेम ही मेरा स्वरूप है। इस चितन के साथ शरीर सानंद प्रकृति को भेट करदे और स्वयं निजानंद में लीन हो जाय।

मानव मात्र ऐसा कर सकता है। आज कर सकता है, अभी कर सकता है, इसी क्षण कर सकता है। इसके लिये किसी भी विशेष बल, बुद्धि, शक्ति, योग्यता, प्रयास, अभ्यास, परिश्रम, पराश्रय, अप्राप्त सामग्री आदि की किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है। जो जिस परिस्थिति में जहां जैसे है, वह उसी परिस्थिति मे वही वैसे ही ऐसी स्थिति को प्राप्त कर सकता है। मानव मात्र इसका जन्मजात अधिकारी है, चाहे वह किसी भी देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, मत, मतान्तर, विचारधारा, पथ अदि का क्यों न हो।

इसकी प्राप्ति का आधारभूत उपाय है—अपरिग्रह । सच्चे और वास्तविक अपरिग्रही बनें । भयभीत मत होइये, चौंकिये नही, आश्चर्य मत कीजिये । मानव मात्र सच्चा अपरिग्रही बन सकता है । इसमे किंचित् मात्र भी बाधा नहीं है । सब कुछ रखते हुए भी आप अपरिग्रही बन सकते है और सब का त्याग करके भी आप परिग्रही रह सकते है । आइये, विचार करें कि अपरिग्रह का वास्तविक आशय क्या है ?

स्थूल अर्थ मे अपरिग्रह का तात्पर्य होता है—सग्रह न करना, कल का प्रबन्ध आज न करना । विचार कीजिये, क्या हम घर-परिवार में रहने वाले; व्यवसाय, नौकरी करने वाले; वर्तमान परिस्थितियो में ऐसे अपरिग्रही बन सकते है ? कदापि नही । ऐसा करने पर हमारा सुख, सम्मान पूर्वक समाज मे रहना कठिन हो सकता है । इसलिये घरबारी व्यक्ति अपरिग्रह की साधना को कल्पना मात्र मानकर छोड देता है । पर बात ऐसी नही है ।

अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ है—"अपने लिये 'पर' की आवश्यकता न रहना ।" 'पर' की जरूरत, 'पर' की चाह न रहना । 'पर' मे ममता, लगाव, प्रियता, सुख की आशा, खिचाव, आकर्षण का न रहना ही वास्तव मे अपरिग्रह है । जिसको 'पर' की जितनी ज्यादा जरूरत अनुभव होती है—ऐसा महसूस होता है कि 'पर' के बिना मेरा काम कैसे चलेगा, वह उतना ही बड़ा परिग्रही है, चाहे उसने स्वरूपतः सबका त्याग कर दिया हो । जिसको अपने लिये 'पर' की किंचित् भी आवश्यकता नही रहती, वही वास्तव मे सच्चा अपरिग्रही है, चाहे स्वरूपतः उसने वस्तुओ व व्यक्तियो का त्याग किया है अथवा नही । 'पर' का त्याग, अर्थात् 'पर' मे ममता व 'पर' की कामना का त्याग ही सच्चा अपरिग्रह है और इसी का नाम है "जीवन-मुक्ति", "परम स्वाधीनता" शरीर के रहते-रहते जो अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय से मुक्त हो जाता है, वही 'जीवनमुक्त' है । 'जीवनमुक्त' ही वास्तव में कर्तव्यपरायण, सच्चा सेवक, सुधारक, नेता बनकर परिवार, समाज, देश, ससार व प्राणी मात्र के लिये उपयोगी बन सकता है ।

'पर' कौन है ? जो जन्मदाता है' बदलता है और अंत मे मर जाता है, उसी का नाम 'पर' है । 'पर' की सूची (List) में हम क्रम से निम्न को शामिल कर सकते है—सबसे पहले अपना शरीर, फिर अपना परिवार, अपनी संपत्ति, समाज, संसार, सम्पूर्ण सजीव प्राणी, जड जगत आदि । सावधान, यदि मुझे मेरे लिये मिले हुए शरीर की भी जरूरत अनुभव होती है कि अभी शरीर रहना चाहिये, मैं अभी मरु नही, तो मै परिग्रही हूँ, पराधीन हूँ, बधा हूँ । यदि मै पराधीन हूँ तो सदैव दु ख, चिंता, भय आदि से पीड़ित व ग्रसित ही रहूँगा, चाहे मेरी बाह्य स्थिति कैसी-भी क्यो न हो, चाहे मै कितना ही बलवान, धनवान, गुणवान, कुलवान, विद्वान्, पडित, सम्मानित क्यो न हूं । कहा है—

"पराधीन सपनेहुँ सुख नांही"

'पर' के त्याग का तात्पर्य 'पर' को स्वरूप से छोड़ना नही है (कहीं भी जायेंगे तो शरीर तो साथ ही रहेगा, तो कैसे छोड़ पायेंगे), 'पर' से संघर्ष करना भी नहीं है, 'पर' से ईर्ष्या-द्वेष करना भी नहीं है, 'पर' को कहीं छोड़ना व फेंकना भी नहीं है। 'पर' के त्याग का तात्पर्य 'पर' को नष्ट करना भी नही है (व्यक्ति 'पर' का न तो निर्माण कर सकता है और न उसे नष्ट ही कर सकता है)। 'पर' के त्याग का सच्चा व वास्तविक तात्पर्य यह है कि—

(i) 'पर' मेरा नही है।

(ii) 'पर' से मुझे कुछ नही चाहिये—न अभी चाहिये, न कभी चाहिये।

वास्तव में गंभीर चितन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'पर' मेरा नही है क्योकि इसे मैंने नही बनाया, यह मेरे नियंत्रण में भी नही रहता, इसका मालिक मैं नही हूँ। चाहे कोई भी हो, पर मैं नही हूँ। 'पर' से मुझे कुछ नही चाहिये। 'पर' की आवश्यकता केवल शरीर को है, 'पर' की पहुंच व सीमा केवल शरीर तक है। 'शरीर' स्वय 'पर' है। मैं शरीर नही हूँ, शरीर मुझे मिला है। मै इसे यथासभव संभाल कर रखूंगा, इसकी सेवा करूंगा। अन्य जो भी 'पर' (शरीर व सम्मान) मुझे मिला है—उनकी भी मैं सेवा करूंगा, उनका सदुपयोग करूंगा। बस, यही मेरा दायित्व है 'पर' के प्रति। 'पर' के प्रति अपने दायित्व को सावधानी पूर्वक पूरा करने से 'पर' से सम्बन्ध (ममता व कामना) टूट जाता है, 'स्व' की अनुभूति हो जाती है, मानव वास्तविक रूप में अपरिग्रही बन कर शाति व मुक्ति को पा लेता है।

'पर' मेरा नहीं है, 'पर' से मुझे कुछ नही चाहिये, जीवन के इस सत्य को ईमानदारी से स्वीकार करना ही अपरिग्रही बनना है। वास्तव में मुझे जो कुछ भी चाहिये, वह इस मिले हुए शरीर को चाहिये। विचार कीजिये, शरीर को अलग करके क्या आपको रोटी, कपड़ा, मकान, सुख, सुविधा, पति, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी, मान-सम्मान आदि चाहिये ? ये सब शरीर को चाहिये, मुझे नही। जैसे ही मानव इस सत्य को स्वीकार करता है, वैसे ही वह अपरिग्रही बन जाता है। फिर चाहे वह हिमालय में रहे अथवा महल में, व्यवसाय करे अथवा नौकरी, संन्यासी वेष मे रहे अथवा गृहस्थी वेष में आदि आदि। इन बाह्य चीजों से कोई विशेष अंतर नही पड़ता।

सत्य की स्वीकृति में मानव मात्र सर्वथा स्वाधीन है, क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार की क्रिया, अभ्यास, बल, बुद्धि, योग्यता, परिश्रम आदि की आवश्यकता नहीं होती है। स्वीकृति मे समय भी नहीं लगता। दूसरे से मकान खरीदते ही खरीदार तुरन्त स्वीकार कर लेता है कि अब यह मकान मेरा है, विक्रेता यह

मान लेता है कि यह मकान मेरा नही है। सत्तर-पचहत्तर वर्षो से उस मकान में रहने वाला वह विक्रेता यह नही कह सकता है कि विक्रय के वाद कई माह तक उसे यह अभ्यास करना होगा कि मैं मकान को अपना न मानू । तुरन्त ही मान लेता है कि मेरा नही है। शादी होते ही पति स्त्री को अपनी पत्नी और पत्नी पुरुष को अपना पति स्वीकार कर लेती है और यह सम्बन्ध जीवन पर्यन्त चलता है। स्पष्ट है कि स्वीकृति या मान्यता, समय, श्रम व अभ्यास साध्य नहीं है। इसीलिये हम सव अपरिग्रही वन सकते है।

'पर' मे ममता व 'पर' की कामना का त्याग करके मानव अपरिग्रही वन गया, इसकी कसौटी क्या है ? कही धोखा न हो जाय। वात सूक्ष्म है-मार्ग दुर्गम है। इसलिये हमें सावधान व सजग रहना होगा। जव व्यक्ति सच्चे रूप मे अपरिग्रही वन जाता है, तव 'पर' से उसका सम्वन्ध टूट जाता है। फिर उसके जीवन में दु:ख, चिंता, भय, पीड़ा, निराशा, अभाव, तनाव आदि का लेशमात्र अंश भी नहीं रहता। वह सर्वाश मे वुराई रहित हो जाता है। उसके जीवन मे न दीनता रहती है, न अभिमान। वह शाति पूर्वक सव के प्रति स्वयं, समाज, देश, विश्व, जड़ जगत आदि, सवके प्रति अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन करता है। उसका कर्तव्य पालन सेवा वन जाता है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति लोक-हितार्थ होकर पूजा वन जाती है। प्रवृत्ति के अत मे उसे सहज निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। निवृत्ति काल में वह निजानद मे मस्त रहता है और प्रवृत्ति काल मे सेवा का आनन्द लेता है। यही वास्तव मे सच्चा जीवन है।

अपरिग्रह की साधना व्यक्ति के कल्याण व सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

एक सत की अनुभूत वाणी में अपरिग्रह के भावों की झलक यो मिलती है—

१. जिसे कुछ भी चाहिये, वह सेवा व प्रेम कर ही नही सकता।

२. जिसे कुछ भी चाहिये, उसे कुछ मिलता है और कुछ नही मिलता है।

३. जिसे कुछ नही चाहिये, उसे सव कुछ मिलता है।

□ □ □

२२

अपरिग्रह : ममत्व-विसर्जन की कला

□ डॉ. नेमीचन्द जैन

जैन शास्त्रों में परिग्रह को बहुत गहराई में (इन-डेप्थ) परिभाषित किया गया है। मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है (मूर्च्छा परिग्रह—तत्त्वार्थसूत्र, ७/१७)। मूर्च्छा क्या है ? मूर्च्छा निःसंज्ञ/बेहोश होने की सज्ञा है; किन्तु यहां मूर्च्छा का अर्थ और अधिक गहरा गया है। मूर्च्छा यहां होश में बेहोशी की सज्ञा है। हम जान रहे है कि 'यह ऐसा, वह वैसा है' फिर भी नही जान रहे है कि 'यह ऐसा और वह वैसा है'। जब प्राणी मे 'सम्बन्ध-तत्त्व' अत्यन्त सूक्ष्म होकर पैठ जाता है, तब वह मूर्च्छा की शक्ल ग्रहण कर लेता है।

मूर्च्छा कोई स्थूल वस्तु नही है। वह एक गहन/महीन अनुभूति है। इन्द्रिय विषयों के प्रति जब हमारे मन में गहरे कही राग-द्वेष जमते-जागते है, तब वे ही मूर्च्छा में रूपान्तरित हो जाते है। हम जब वस्तु को अपना/इतना अपना मानने लगते है कि उसकी अपनी स्वतंत्रता आच्छादित/अपहृत होने लगती है (वैसा होना सम्भव नही है, मात्र आभास हो सकता है; क्योंकि यह असम्भव ही है कि कोई वस्तु अन्य किसी वस्तु की निजता को ढंके या उसका अपहरण करे); तब हम उसे जो मम नहीं मम मानने लगते है। यह ममत्व क्रमशः इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि हम उस वस्तु को लेकर अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं और उससे अपने इष्ट-अनिष्ट/मंगल-अमंगल को जोड लेते है। उसके संयोग में सुख और वियोग में दुःख मानने लगते है।

भाषा की दृष्टि से जब हम 'परिग्रह' शब्द की व्याख्या करते है तब हमे कई नये तथ्य हाथ लगते हैं। 'परिग्रह' शब्द 'ग्रह' धातु मे 'परि' उपसर्ग तथा 'अप्' प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ है 'पकड़, गिरफ्त, लिप्तता, अरेस्ट (अंग्रेजी)'। जब हम किसी वस्तु की मजबूत गिरफ्त मे होते है, उसकी अनुरक्ति के नाग-पाश मे होते है, तब वह स्थिति मूर्च्छा की स्थिति है। परिग्रह में वस्तु हमें नही पकडती हम वस्तु को पकडते है। वस्तु की पकड़ सम्बन्ध-तत्त्व के कारण इतनी सूक्ष्म और चुम्बकीय होती है कि उससे तुरन्त बच पाना सम्भव नही होता।

अंग्रेजी में एक शब्द है 'अटेचमेंट', जिसके मायने है आसक्त होना, अनुरक्त होना, लिप्त होना, फॅसना। परिग्रह का सरोकार इस अटेचमेंट से ही है। हम

भ्रमवश यह मानने लगते है अपनी निजता को बिसार कर कि अमुक वस्तु मेरी है। यदि वह नही होगी तो हम नही होंगे; कुछ गजब हो जाएगा कदाचित् प्रलय उसके वियोग में। परिग्रह वस्तुतः वस्तु में स्वय को गहरे डाल देने का नाम है इतने गहरे कि पृथक् करना कठिन प्रतीत होने लगे। उत्पीड़ित, असल में, वे ही लोग होते है जो 'अटेच्ड' या लिप्त होते है; जो 'डिटेच्ड' या अनासक्त होते हैं उनके दुःखी होने का कोई सवाल ही नही है।

इस दृष्टि से हम एक छोटा-सा उदाहरण लेते है। मान लीजिये कोई एक्सीडेंट होता है। आप उसकी खबर किसी अखबार में पढ़ते है। तुरन्त पता लगाते है कि हताहतो में आपका कोई सम्बन्धी तो नहीं है। जब आपको पता लगता है कि उनमे ऐसा कोई व्यक्ति नही था तो आप राहत की सांस लेते है और बड़े तटस्थ चित्त से अपने काम मे लग जाते है; किन्तु जैसे ही कोई सूचित करता है कि आपने जो कुछ जाना वह गलत था वस्तुतः आपकी बहिन उसमे गम्भीर रूप से घायल हुई है तब आप सिर से पैर तक कांप उठते है और भाग-दौड़ शुरू कर देते है। प्रश्न सम्बन्ध का है; स्थितियो से निःसंग होने पर आपके मन में कोई विकल्प उठेगा ही नही। अपरिग्रह इसी सम्बन्ध-तत्त्व से जूझने की प्रक्रिया हैं।

दूसरा दृष्टान्त लीजिये। आपकी एक कलम है, जिसे आप लगातार काम मे ले रहे है। एक तरह से वह आपकी जीवन सगिनी बन गयी है। अचानक वह गुम जाती है। आप छटपटाने लगते है और कहने लगते है कि यदि वह नही मिलेगी तो आपका सारा लेखन अस्त-व्यस्त हो जाएगा। आप उस कलम से 'अटेच्ड' है। आपने कलम से स्वय को बॉध लिया है इतना गहरे कि अब आप उसके वियोग को सह नही पा रहे है। यह मूर्च्छा है। वस्तुतः परिग्रह एक अनुभूति है—अंधे मोह की प्रगाढ़ अनुभूति। जो हमारा अपना नहीं है, जिसके निमित्त मृत्यु के क्षणो मे शून्य हो जाना होगा उसे ही जब हम अपना/बहुत अपना/अत्यन्त अभिन्न मानने लगते है तब एक आध्यात्मिक सकट का सूत्रपात होता है। यह सकट मूलतः मानसिक ही होता है; किन्तु उपलक्षणो में कायिक दीख पड़ता है। असम्भव ही है यह कि तन पर मन का असर न पडे। वह तो होगा ही। मन तन को और तन मन को परस्पर प्रभावित करते ही है। यह सनातन चक्र है।

जरूरी नही है कि परिग्रह कोई स्थूल वस्तु ही हो। वह अमूर्त भी हो सकता है। यहां अमूर्त से तात्पर्य भाववाचकता से है। इसे तब हम अंतरंग परिग्रह कहते हैं। परिग्रह जो आंखो के सामने खडा है बाह्य है और जो भीतर टागे पसारे है वह अतरंग है।

बाह्य परिग्रह में धन-दौलत, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, रथ-बग्घी, खेत-

खलिहान, बाग-बगीचे, महल-मकान, दोस्त-यार आदि आते है; जिन्हें हम इतना अपना मानने लगते है कि उनके समृद्ध होने में अपना सुख मानते हैं और विपन्न होने में दुःख। ये तमाम बाह्य परिग्रह हैं अर्थात् ये ऐसे चुम्बक है जो हमारी निजता को बाहर की ओर खींचते है और ऐसा कोई मौका नही देते कि हम सोच पायें कि 'हम क्या है' और 'ये क्या है'; अर्थात् जो वस्तु-स्वरूप पर काला पर्दा डाले रहता है वह परिग्रह है।

वस्तु का स्वरूप क्या है ? वह कैसी है ? उसकी निजता क्या है ? क्या वह जैसा हम मान रहे है वैसी है या उसका अपना भी कोई अस्तित्व-व्यक्तित्व है ? ये सारे ऐसे सवाल हैं जो परिग्रह के निरूपण से जुड़े हुए है। इन्हे जाने बिना हम परिग्रह के स्वरूप को ठीक-ठीक समझ नही पायेंगे; और जब हम किसी वस्तु को उसकी निजता में समझ नही पायेगे तब हम उसमें मूर्च्छित हो जाएँगे। मूर्च्छा का सब से बड़ा कारण मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व मूर्च्छा के निवारण का, उसे बाहर निकाल फैंकने का सर्वोत्तम उपाय है।

अज्ञान या भ्रांति के कारण ही बहुत-सी विपदाएँ खड़ी होती है, इसलिए परिग्रह की तीव्रता को कम करने के लिए सबमें पहला कदम है सम्यक्बोध अर्थात् वास्तविकता की तलाश और प्रतीति। हम ढूँढें कि हमारा निज-का क्या है और ऐसा क्या है ? जो हमारा निज-का नही है ? बहुत ईमानदारी से इस बात पर विचार करें कि ऐसी कौन-सी वस्तुएँ है, जो हमारी है और ऐसी कौन-सी वस्तुएँ है जो हमारी नहीं है ?

एक कसौटी है। हम जानते है कि मृत्यु अटल है। संसार का कोई ऐसा प्राणी नहीं है, कोई ऐसी वस्तु नही है, जो अमर हो। मरण अनिवार्य है। मूल बदले, न बदले; किन्तु मूल की तात्कालिक अभिव्यक्ति मे हेरफेर अवश्य होने वाला है। मृत्यु यदि है तो वह कैसी है ? क्या स्वरूप है उसका ? मरणशील क्या है और अ-मरणशील क्या है ? ऐसा क्या, है जो मृत्यु के बाद भी साथ जाएगा ? और ऐसा क्या है जो मौत के बाद यही छूट जाएगा ? क्या यह सब जो सम्पदा/सम्बन्धो के रूप मे दिखाई पड़ रहा है; साथ जाएगा/साथ गया है/साथ जा सकता है ? वह क्या है जो देहान्त के क्षणों मे सब कुछ शून्य/व्यर्थ कर देता है ? ऐसा क्यों है कि जिन्हे/जिसे हम निपट अपना मान रहे होते है, उसे हमे एकबारगी छोड़ देना होता है ? जिस देह को देह से सम्बन्धितो को, उसके रंग-रूप को हम लगभग अमरणशील मान रहे थे, वह सब जहा-का-तहां/ज्यों-का-त्यों क्यों पडा रह जाता है—साथ क्यो नहीं जाता ? 'क्यों नही जाता ?' इसके विश्लेषण में निरूपण गर्भित है मूर्च्छा का जिसका अपर नाम है परिग्रह। निष्कर्ष यों बनता है कि हम वस्तुओं के मालिक बने किन्तु अलिप्त। माने कि ये है, किन्तु मेरी नही है। यह मान लेना कि इनके होने, न होने से मेरे सुख-

दुःख जुडे है, निपट्ट मृगमरीचिका है। असल में मृत्यु के स्वरूप को ठीक से समझकर ही हम मूर्च्छा के स्वरूप को समझ सकते है।

ऊपर हम वाह्य परिग्रह की वात कर आये है; किन्तु अभी तक हमने अंतरग परिग्रह पर विचार नही किया है। अतरंग मूर्च्छा वाह्य मूर्च्छा की तुलना मे अधिक सूक्ष्म और घातक होती है। क्रोध, मान, माया और लोभ अंतरंग परिग्रह है। हम क्रोध करते है, क्यो करते है? हम मान करते है, क्यो करते है? हम माया वटोरते है, क्यो वटोरते है? हम 'एक' के सग्रह के वाद 'अनेक' की ओर क्यों दौड़ते है; क्यों करना चाहते है ज्यादा-से-ज्यादा सचय? हमारे भीतर जो आग धधक रही है और जिसकी आँच से हम लगातार जल-झुलस रहे है किन्तु सोच रहे है कि उससे हमारा कुछ भी नही विगड़ रहा है; क्या यह ऐसा सम्भव है? नही है। ये जो क्रोध, मान, माया और लोभ की असख्य ज्वालामुखियाँ हमारे भीतर पल-प्रतिपल लावा उगल रही है, वे ही मूर्च्छाएँ है जो हमे निरन्तर डसती हैं और हमें चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति से वचित रखती है। इन ज्वालामुखियो का शमन ही परिग्रह का परिहार है।

क्रोध क्या है? जव हम किसी वस्तु को पाने मे निष्फल हो जाते है और वह किसी अन्य को प्राप्त हो जाती है तो हमारे मन मे एक डाह/एक झुंझलाहट/एक झल्लाहट पैदा होती है। क्रोध ऐसी झल्लाहटो के समूह का एक उदार शीर्षक है। क्रोध इष्ट-अनिष्ट/चाहे-अनचाहे के संयोग-वियोग की तीव्रताओ के मुताविक किस्म-किस्म का होता है। उसका एक भेद नही है, नाना है। क्रोध आता ही तव है जव हम सम्यक्त्व से विचलित होते है। क्रोध, मान, माया, लोभ-जनित भ्रान्तियो मे से उत्पन्न होता है। जव हम खुद को 'जैसे हैं' उससे अधिक मानकर दूसरों को छोटा या हीन मानने लगते है और हर जगह अपने 'मैं' को आरोपित करते है, तव उसमे से अँगडाई लेता है अहंकार। अहंकार एक मिथ्या मनोदशा है। वह मूलत. अज्ञानजनित है। तमाम कपाये अज्ञानजनित है। जव हम सम्यग्वोध के द्वारा वस्तुओं को उनके परमार्थ मे जानने लगते है, तव परिग्रह अपना विस्तर-वोरिया वांधने लगता हैं। मनोविकार आभ्यन्तरिक परिग्रह हैं तथा उनसे सम्वन्धित वाह्य वस्तुएँ और अवस्थाएँ वाह्य परिग्रह है। समझें कि वस्तुओं में अधा और प्रगाढ ममत्व मूर्च्छा है।

इस मूर्च्छा से मोर्चा लेना आसान नही है। इसे क्रमश. कतरना होता है। यह इतनी स्निग्ध होती है कि इस पर से हमारी पकड सहसा फिसल जाती हैं। चित्त की अँगुलियाँ इसे गिरफ्त मे लेते-लेते अचानक रिपस जाती है। इसे हम मानसिक काई कह सकते है, जिस पर मन-के-पाँव हरचन्द कोशिश पर भी टिक नही पाते। यह उस खल्वाट पुरुष की भाति है, जिसकी खोपड़ी पर हमारी पकड (यत्नशील होने पर भी) मुश्किल होती है।

मूर्च्छा एक तरह की मिथ्या वाछा है, जो लगभग मृगमरीचिका की तरह ही होती है। हमें लगता है कि उसका कोई सिरा है, किन्तु होता इसके विपरीत है; वह अन्तहीन होती है। उसे लेकर बार-बार होता है कि 'यह रहा अन्त, यह आया छोर, यह रहा तट, किन्तु न कोई अन्त आता है, न छोर, न तट। क्रोध, मान, माया और लोभ की फितरत ही कुछ ऐसी है कि वे जितने अधिक जिये या किये जाते है, उतने ही बढ़ते है।

क्रोध का कोई अन्त नही है। क्रोध मे से सदैव क्षतियाँ ही बाहर आती है खुद की, दूसरों की। यह असम्भव ही है कि कोई क्रोध करे और अन्दर-बाहर से अविघटित,अक्षत/अचूक बना रहे। अविचलित/अक्षत बनाये रखने वाली तो क्षमा ही हो सकती है, जो हममे है, किन्तु हम नही जानते कि वह हममे है। अक्सर ऐसा होता है कि हम अपने घर की दौलत नही जानते और बाहर के कंकर-पत्थर बीनते फिरते है।

इसी तरह मान से व्यक्ति कभी सम्पूर्ण नही बन सकता। मान सिर्फ भ्रम है : यह कि 'मै बड़ा हूँ', यह कि 'वह छोटा है'। असल में कही कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सब समान है। समत्व ही मान के निराकरण का कोई अमोघ उपाय है। जिसकी आंख में समत्व प्रतिष्ठित है, अपरिग्रह भीतर का/बाहर का उसे मिला ही समझिये।

माया के इन्द्रजाल से भला कौन बच सकता है? वह प्रतिपल अपने चँगुल में फाँसे रहती हैं। कबीर कहते है : 'माया बहु ठगिनी हम जानी। तिरगुन फाँस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी।।' माया की बात ही निराली है; बोलती वह मीठी है किन्तु जब उसका दंश रोम-रोम में व्यापता होता है तब प्राणी सिहर उठता है। माया की व्याप्ति असीम है, और उसके लुभावने आवरण असंख्य है।

लोभ माया का बेटा है। वह कभी शान्त नही बैठता, कभी संतुष्ट नही होता। उसकी प्यास अन्तहीन है। तृष्णा उसका अपर नाम है। तृष्णा कभी नही मरती, आदमी मरता है; इसलिए अपरिग्रह एक ऐसा महायुद्ध है जो इन चारों के खिलाफ है। ये चारों अंतरंग परिग्रह है यानी भीतर से प्राणी को अपनी गिरफ्त में कसे हुए है। बाहर जो भी दिखाई पड़ता है, वह इन्ही की आकृति है। सब जानते है : जो भीतर होता है, वही बाहर चाही-अनचाही शक्ल ग्रहण करता है। हम यदि खोजेगें तो पायेंगे कि जो हमे बाहर दीख पडता है उसका सूक्ष्म अंकुर पहले भीतर बनता है और फिर बाहर आकर वह अमर-बेल की तरह हमारे जीवन के आनन्द को चूसने लगता है। वस्तुत: जो भीतर

की निष्पक्ष/अनासक्त समीक्षा करता है, वह बाहर के फैलाव को आसानी से समझ सकता है।

आखिर क्या समाधान है इस परिग्रह का, जो जड़ है तमाम रोगों की? एक ही मार्ग है। हम मानें कि 'यह हमारा नही है'। हमारे लिए यह साधन-मात्र है जिसका हमे बड़े अननुरक्त/अनासक्त भाव से—दूसरों के लिए छोड़ते हुए—उपयोग करना है। छोड़ना है उन लोगों के लिए जिन्हें इसके पाने का उतना ही हक है जितना हमें है। क्या हम संग्रह की भावना को बाला-ए-ताक रखकर वस्तुओं का उपयोग नही कर सकते? क्या हम 'पेट समाता लेय' वाली सूक्ति पर ध्यान नही दे सकते? क्या हमारा ध्यान गाँधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त की ओर नही जा सकता? इस तरह कुछ कि यह सब मेरा कहां है? मै तो मात्र इसकी देखभाल के लिए नियुक्त हूँ। जितनी आवश्यकता मेरी बनती है, इसमें से मुझे उतना ही लेना है; शेष का मालिक तो यह समाज है, यह जगत् है।

अपरिग्रह 'ट्रस्टीशिप' का पर्याय शब्द है। हम माने कि जो हमारे इर्दगिर्द है वह सब अमानत है। हमे इसका अनासक्त उपभोग करना है। समर्पण और त्याग की भावना से किया गया उपभोग अधिकृत है और अपरिग्रह की परिधि मे आता है। उपभोग इस तरह कुछ कि अपनी अनिवार्यता भी सरे और दूसरो को कोई कष्ट या क्षति न पहुँचे। अपरिग्रह मे प्रथम शर्त अहिसा है; यह कि हम ले किन्तु इस तरह कि किसी का जी न दुःखे, किसी को क्लेश न हो। सबको सुख-शान्ति सुलभ हो और हम भी आत्मोन्नयन के मार्ग में बने रहें, उसे दूसरों के लिए प्रशस्त करें—इस भावना से जो भी किया जाएगा/किया जाता है, वह सब अपरिग्रह है।

परिग्रह-गृद्धि

मक्खि सिलिम्मे पडिओ, मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउं।
लोही मूढो खवणो, कायकिलेसेसु अण्णाणी॥

—रयणसार

जैसे श्लेष्म में लिपटी हुई मक्खी तत्काल ही मर जाती है, उसी प्रकार परिग्रह मे आसक्त, लोभी, मूढ और अज्ञानी कायक्लेश को ही प्राप्त होता है।

२३

अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के भेद

□ श्री फूलचन्द मेहता

अनादि काल से जीव अज्ञान-राग-द्वेष-मोह आदि वैभाविक भावो के कारण कर्मो से बद्ध है। जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रवाह रूप से है। जीव के रागद्वेष, मोह रूप विकारी-विपरीत भावों से कर्म का बन्धन और इन कर्मो के उदय के फलस्वरूप जीव पुनः रागद्वेष, मोह आदि विकारी भावो में परिणत होता आ रहा है। यह शृंखला अनादि से जीव को कर्मो से बद्ध, फिर कर्मो के उदय से जन्म-मरण रूप चतुर्गतियों में भ्रमण, जहाँ त्रिविध आधि-व्याधि-उपाधि मय ताप से भयंकर दुःख हो रहा है। कर्मो से ही देह धारण, देह से सबंधित, कुटुम्ब परिवार, धन-वैभव-पद आदि से जीव बद्ध-अबद्ध अवस्थाओं से गुजर रहा है। आज तक कही भी कर्म रहित जीव हुआ नही, इसलिए शरीर धारण करता आ रहा है।

जीव एक चैतन्य द्रव्य है, उपयोग इसका मुख्य लक्षण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सुख, वीर्य आदि जीव के विशेष लक्षण है। अनादि से जीव चैतन्य स्वरूप ही है, कर्मो के व देह संग रहता हुआ भी जीव कभी भी जड़ या पुद्गल नही बना और न ही कर्म या देह कभी जीव बने। कर्म व देह दोनों पौद्गलिक है। अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड रूप स्कध ही एक कर्म है और यह देह है चाहे वह एकेन्द्रिय की हो, बेइन्द्रिय की हो, तेइन्द्रिय की हो, चउरिन्द्रिय की हो अथवा पंचेन्द्रिय प्राणी की हो। मन, वचन व काया तीनो ही देह रूप है। देह के मुख्य अंग है। जीव त्रिकाली पदार्थ है। अमूर्तिक है, नित्य-परिणामी है, अजर-अमर-अविनाशी है, असंख्यात प्रदेशी है, अनन्त गुण पर्यायों का पिण्ड है, अपने आपमें परिपूर्ण अभेद्य, अखण्ड, एक स्वतन्त्र चैतन्य द्रव्य है, जिसका कभी भी विनाश अथवा जन्म नही होता, जो कभी भी अन्य द्रव्य रूप परिणत नही होता, सदाकाल ज्ञाता दृष्टा स्वभाव से युक्त है। **जबकि कर्म या देह** पुद्गल स्वरूप है, जड़रूप से परिणमन करता है। वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द इसके मुख्य लक्षण है, सड़न-गलन-विध्वंशन रूप है।

लोक मे जीव के साथ कर्मो का संबध और कर्म के फलस्वरूप देह का संबंध तथा देहाश्रित माता-पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब एवं इनसे संबधित धन, वैभव, सम्पत्ति आदि का संबंध संयोग सबध कहलाता है। चूंकि इनका वियोग

सुनिश्चित है। अतः इसे ही परिग्रह की सज्ञा दी है। इसके विपरीत मात्र आत्मा जो कर्म से, देहादि से सर्व वाह्य संवधो से रहित है, वही अपरिग्रही है।

गहराई से चितन करने पर यह स्पष्ट अनुभव में आता है कि न कर्म, न देह, न कुटुम्व, न घन-वैभव आदि परिग्रह है वल्कि इनसे संबंधित होना, इनमें आसक्त होना, इनमें ममत्व करना, अहमत्व करना ही परिग्रह है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है—मूर्च्छा परिग्रहः अथवा "अध्यात्मविदो मूर्च्छा परिग्रह वर्णयन्ति" अर्थात् वास्तव मे मूर्च्छा ही परिग्रह है। यह मूर्च्छा आसक्ति-ममत्व-अहमत्व-राग-स्नेह ही परिग्रह है। यह भी निश्चित है कि यह मूर्च्छा-आसक्ति आदि किन्ही वाह्य पदार्थो पर ही होगी, इसलिए कर्म, देह, कुटुम्व, धन, वैभव आदि इस मूल परिग्रह के हेतु हो सकते है। मूल में तो जीव का राग, द्वेष, मोह, अज्ञान रूप भाव ही परिग्रह है। इन वैभाविक भावो से रहित होने पर अपरिग्रही हो सकता है, चाहे देह भी हो। श्रीमद् राजचन्द्र जी के शव्दो में—'देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत', देह के रहते भी अपरिग्रही अवस्था सभव है, फिर न कही लगाव है, न मूर्च्छा ही है, न कोई चाह है न कोई अपेक्षा है, और न कोई किसी से सवंध है।

जीवात्मा भेद ज्ञान सहित अर्थात् जीवाजीव का, स्व-पर का, वन्ध-मोक्ष का यथार्थ निर्णय कर अंशतः अथवा पूर्णत. वाह्य सम्वन्धों से, संयोगी पदार्थो से मुक्त हो जाता है अर्थात् द्रव्य से व भाव से वाह्य से जितने अंशों मे लगाव कम हो जाता है, उतना-उतना ही अपरिग्रह भाव प्रगट होता जाता है। अंशतः भाव व द्रव्य से श्रावक अपरिग्रही होता है और पूर्णत तीन करण, तीन योग से सर्वथा प्रकार से पदार्थों से संवंध भी व लगाव भी छूट जाता है जो अप्रमत्त धर्म ध्यान मे स्थित हो जाता है। जिसे कभी भी किसी से कोई अपेक्षा नही, चाह नही, ममत्व नही, मूर्च्छा तो किंचित् भी नही, वही सच्चे माने में अपरिग्रह का स्वरूप ज्ञानी के होता है। मात्र उसको साधना अपने ही निज गुण-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म की आराधना में लीन होने की ही होती है। प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव उदित हो जाता है। वैसे ज्ञानी की साधना मे देह, वस्त्र, पात्र, रजोहरण भी हो तो भी उनमें किंचित् भी स्नेह राग नही। उनसे भी हटकर अन्तरमुख मात्र शुद्ध चैतन्य स्वभाव में रमण करता है। श्रीमद् देवचन्द्र जी ने कहा है—

"स्वस्वरूप एकत्वता, साधे पूर्णानन्द हो मित्त।
रमे भोगवे आत्मा, रत्नत्रयी गुण वृन्द हो मित्त॥"

परिग्रह के भेद

अंतरंग भाव परिग्रह को कहते हैं जवकि वाह्य संयोगी पदार्थो का संवध

अंतरंग परिग्रह

इसके मुख्य रूप से चौदह भेद हैं—

१. मिथ्यात्व :

सद्देव, सद्गुरु व सद्धर्म का यथार्थ स्वरूप न जानने से कुदेवादि का श्रद्धान मिथ्यात्व है। जीव-अजीव आदि तत्त्वों का सम्यक् स्वरूप न जानकर उनमे अन्यथा, विपरीत श्रद्धा करना मिथ्यात्व है। बन्धन व मोक्ष के स्वरूप को, इनके कारणो को यथार्थ न समझ कर विपरीत मान्यता करना मिथ्यात्व है।

स्व-पर का अथवा जड़ चैतन्य का यथार्थ स्वरूप न जानकर विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है।

मूल मे स्व के प्रति बेभान रहना ही मिथ्यात्व है। अतः यह सभी आश्रव के कारणो मे प्रथम व अनंत ससार बढ़ाने का कारण है। यही मुख्य परिग्रह है।

२. क्रोध :

यह एक मानसिक किन्तु संवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था है। इसकी निम्न अवस्थाएँ हैं :

कोप—क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चचलता।
रोष—क्रोधादि का परिस्फुट रूप।
दोष—स्वयं पर या 'पर' पर दोष थोपना।
अक्षमा—अपराध को क्षमा न करना—उग्रता।
संज्वलन—बार-बार जलना, तिलमिलाना।
कलह—जोर-जोर से बोलकर अनुचित भाषण करना।
चाण्डिक्य—रौद्र रूप धारण करना।
भडन—पीटने, मारने पर उतारू हो जाना।
विवाद—आक्षेपात्मक भाषण करना।

क्रोध के आवेश मे आक्रमण या आक्रमण की तैयारी होती है। मान या अहंकार की रक्षार्थ क्रोध का जन्म होता है। यह एक क्षणिक उफान है। मूल में चैतन्य स्वभाव से अरुचि ही क्रोध है। क्रोध से मन में, तन में कपकंपी छूट जाती है। उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

३. मान :

अहकार, अभिमान, अह, घमण्ड ये मान के पर्यायवाची हैं। इसकी निम्न अवस्थाएँ है—

मान—अपने किसी गुण पर झूठी अहंवृत्ति।
मद अहंभाव मे तन्मयता।
दर्प—उत्तेजनापूर्ण अहभाव।
स्तम्भ अविनम्रता।
गर्व—अहंकार।
अत्युत्क्रोश—अपने को दूसरों से श्रेष्ठ कहना।
परपरिवाद—दूसरों की निन्दा।
उत्कर्ष – अपना ऐश्वर्य प्रकट करना।
अपकर्ष—दूसरों की हीनता प्रकट करना।
उन्नत -- दूसरो को तुच्छ समझना।
उन्नतनाम - गुणी के सामने भी न झुकना।
दुर्नाम—यथोचित रूप से न झुकना।

मान के आठ भेद :

कुलमद, बलमद, ऐश्वर्यमद, जातिमद, ज्ञानमद, रूपमद, तपमद, अधिकार मद.।

वैसे मानव में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही परन्तु जब उसमें उचित से अधिक शासित करने की भूख जाग्रत होती है और जब अपने गुणो व योग्यताओं को परखने में भूल कर जाता है तब उसके अन्त:करण मे मान की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। अभिमान मे उत्तेजन व आवेश होता है। उसे अपने से बढ़कर या अपनी बराबरी का कोई व्यक्ति दीखता ही नही।

४. माया :

छल, कपट, धूर्तता, दम्भ आदि माया है। इसकी निम्न अवस्थाएँ हैं—
माया – कपटाचार।
उपाधि—ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार।
निकृति—छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करना।
वलय—वक्रतापूर्ण वचन।
गहन—ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ भाषण करना।
नूम—ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करना।
कल्क—दूसरे को हिंसा के लिए उभारना।
कुरूप—निन्दित व्यवहार।
जिम्हता—ठगाई के लिए कार्य मन्द करना।
किल्विषिक—भांडों की भांति कुचेष्टा करना।
आदरणता—अनिच्छित कार्य भी अपनाना।

गूहनता—अपनी करतूत को छिपाने के लिए प्रयत्न करना।
वंचकता—ठगी।
प्रतिकुंचनता—किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खंडन करना।
सातियोग—उत्तम वस्तु में हीन वस्तु मिश्रित करना।

सक्षेप मे मन मे कुछ, वचन मे कुछ और काया में कुछ और ऐसी वक्रता जीवन मे होना माया है।

५. लोभ :

मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ है। इसकी १६ अवस्थाएँ है—

लोभ—संग्रह करने की वृत्ति।
इच्छा—अभिलाषा।
मूर्च्छा—तीव्रतम संग्रहवृत्ति।
कांक्षा—प्राप्त करने की आशा।
गृद्धि—प्राप्त वस्तु में आसक्ति होना।
तृष्णा—जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोध वृत्ति।
मिथ्या—विषयों का ध्यान।
अभिध्या—निश्चय से डिग जाना।
आशंसना—इष्ट प्राप्ति की इच्छा करना।
प्रार्थना—अर्थ आदि की याचना।
लालपनता—चाटुकारिता।
कामाशा—काम की इच्छा।
भोगाशा—भोग्य पदार्थों की इच्छा।
जीविताशा—जीवन की कामना।
मरणाशा—मृत्यु की कामना।
नन्दिराग—प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

६. हास्य —खिली ठठ्ठा करना, मजाक करना।

७, रति —आरम्भ आदि असंयम-प्रमाद में राग करना।

८. अरति —संयम, तप आदि में अरति या द्वेष करना।

९. भय —इहलोक-परलोक-मरण-वेदना-अजस्मात् भय, आरक्षण भय, अगुप्ति भय।

१०. शोक —इष्ट-वियोग में शोक-विह्वल होना।

११. जुगुप्सा —ग्लानि होना ।

१२. स्त्रीवेद —पुरुप के साथ रमने का भाव ।

१३. पुरुषवेद —स्त्री के साथ रमने का भाव ।

१४. नपुंसकवेद—स्त्री-पुरुप दोनों के साथ रमने का भाव ।

उपर्युक्त चौदह प्रकार का आभ्यन्तर परिग्रह ही निश्चय से भाव परिग्रह है। यही मूल दु.ख है ।

बहिरंग परिग्रह

केवल चैतन्य आत्म तत्त्व का छोड़कर जिन-जिन पदार्थो का सयोग आत्मा के साथ है, होता है, वे सभी पदार्थ परिग्रह है । चूंकि इन वस्तुओ का संयोग होने से वियोग निश्चित होता है अत वे बाह्य परिग्रह है। कर्म भी पौद्गलिक है, शरीर भी पौद्गलिक है, ये दोनों बद्ध परिग्रह है और इन्द्रिय भोग्य पदार्थ जिनसे विपय भोगे जाते है । वे अवद्ध पदार्थ है । वे नौ प्रकार के है—

१. क्षेत्र — खेत, बाग, बगीचे आदि ।
२. वास्तु —भवन, घर, दुकान, बंगला आदि ।
३. चांदी – चांदी के आभूपण या चादी ।
४. सुवर्ण —सोना या सोने के आभूपण आदि ।
५. धन —मोहर, गिन्नी, रुपये-पैसे, सिक्के नोट आदि ।
६. धान्य —सभी प्रकार का अनाज ।
७. द्विपद —नौकर, दास-दासी, पक्षी आदि ।
८. चतुष्पद—गाय, भैंस, घोड़ा, वैल, बकरी आदि जानवर ।
९. कुप्य —धातु (सोने-चाँदी के सिवाय) सब प्रकार की ताम्बा, पीतल, स्टील, लोहा, लकडी तथा कपड़े की बनी हुई वस्तुएं ।

ये नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह है ।

वैसे 'स्थानांग सूत्र' मे भगवान् महावीर ने परिग्रह के तीन प्रकार बता है : (१) कर्म परिग्रह, (२) शरीर परिग्रह, (३) बाह्य भाण्डमात्र उपकर परिग्रह ।

'उपासक दशांग' सूत्र मे परिग्रह के चार भेद भी बताये हैं :— (१) गणिम—जिनको गिनकर दिया जा सके । (२) धरिम—जो वस्तु तो कर दी जाये जैसे गेहूँ, जौ, मक्का, चावल आदि । (३) मेय—जो मापकर द जाये जैसे कपड़ा, जमीन आदि । (४) परिच्छेद्य—जो वस्तु परखकर परीक्ष करके दी जाय जैसे हीरा, माणक आदि ।

'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में परिग्रह के मुख्य रूप से तीस नाम गिनाये है—(१) परिग्रह, (२)संचय, (३) चय, (४) उवचय, (५) विधान, (६) संभार, (७) संकर, (८) आदर, (९) पिड, (१०) द्रव्यसार, (११) महेच्छा, (१२) प्रतिबन्ध, (१३) लोभात्मा, (१४) महर्द्धि, (१५) उपकरण, (१६) संरक्षण, (१७) भार, (१८) सम्पातोत्पादक, (१९) कलिकरण्ड, (२०) प्रविस्तर, (२१) अनर्थ, (२२) सस्तव, (२३) अगुप्ति, (२४) आयास, (२५) अविवेग, (२६) असुक्ति, (२७)तृष्णा, (२८) अनर्थक, (२९) आसक्ति, (३०) असन्तोष ।

इस तरह अपरिग्रह एव परिग्रह भेद विभिन्न अवस्थाओं से यत्र-तत्र सूत्रों मे बताये गये हैं ।

धन नहीं, धर्म-संचय

श्रावस्ती का मृगार श्रेष्ठि बीस करोड स्वर्ण-मुद्राओं का स्वामी था । रात दिन उसे अधिकाधिक धन-संग्रह की ही चिन्ता रहती । लोक-परलोक, धर्म अथवा मोक्ष की परिभाषाओं से वह सर्वथा अनभिज्ञ था । श्रेष्ठि की बहू विशाखा भगवान् बुद्ध के धर्म की अनुयायी थी । मृगार पर उसके गुणों की धाक थी । किन्तु धन-वैभव की मरीचिका के पीछे तृषित हरिण की भाति दौड़ने वाले श्वसुर को वह कैसे रोके, उसकी समझ में नही आता ।

मृगार श्रेष्ठि एक दिन भोजन करने बैठा तो विशाखा ने संकुचित स्वर में पूछा, 'भोजन कैसा है, तात ? कोई त्रुटि तो नही ।" "त्रुटि और विशाखा-सी चतुर बहू से ?" मृगार कौर चबाता हँस पड़ा, "तुम ऐसा क्यों सोचती हो, आयुष्मती ? तुमने सदा ही ताजे भोजन से मुझे तृप्त किया है ।"

"यही तो आपका भ्रम है तात ।" विशाखा ने दृष्टि नीची कर कहा, "मै आज तक आपको बासी भोजन ही परोसती रही हूँ । मेरी प्रबल इच्छा है कि आपको ताजे व्यजन खिलाऊँ, किन्तु विवश हूँ । आपके भण्डार मे ताजे भोजन की व्यवस्था ही नही है ।" मृगार के हाथ का कौर हाथ में ही रह गया—"क्या कह रही हो शुभे ?"

विशाखा ने गभीर स्वर मे उत्तर दिया, "यह जो आपके भण्डार में अन्न है, कोष में धन है, पशुशाला में गाये है—सभी आपके पूर्वजन्म कृत पुण्य के परिणाम है । इस जीवन में आप इन वैभवों को भोग रहे है, किन्तु ये बासी है । इस जन्म मे आपका पुण्य-पुरुषार्थ मैने देखा नही, अतः यह भोजन बासी ही तो हुआ ।" विशाखा की बाते सुनकर मृगार श्रेष्ठि हतप्रभ रह गया । वह धर्म एव पुण्य संचय में प्रवृत्त हो गया ।

☐ डॉ० भेरूलाल गर्ग

२४

अपरिग्रह : विश्व-शान्ति का रक्षा-कवच

☐ डॉ० रामजी सिंह

'सूयगडो' (सूत्रकृतांग) नामक प्रसिद्ध जैनागम के प्रथम अध्ययन 'समय' (समए) के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ मे जम्बू-सुधर्मा-संवाद उपस्थित किया गया है—

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अण्णं वा अणुजाणाइ, एव दुक्खा ण मुच्चई ।।[1]

सुधर्मा ने कहा—"जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थों में तनिक भी परिग्रह बुद्धि रखता है और दूसरो के परिग्रह का अनुमोदन करता है, वह दु:ख मे मुक्त नही हो सकता ।" हिसा का कारण परिग्रह है । कर्मवन्ध के मुख्य हेतु दो है—आरम्भ और परिग्रह । राग-द्वेष, मोह आदि भी कर्म-बन्ध के हेतु है किन्तु वे भी आरम्भ और परिग्रह के विना नही होते । इन दोनों में भी परिग्रह गुरुतर कारण है । परिग्रह के लिये ही आरम्भ किया जाता है । जम्वू ने आर्य सुधर्मा से पूछा—"भगवान महावीर की वाणी मे वन्धन क्या है और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है ?" सुधर्मा ने उत्तर दिया—'परिग्रह वन्धन है ।'[2] 'वन्धन का हेतु है—ममत्व ।'[3] प्राणातिपाद आदि पाँच आश्रवो मे भी परिग्रह को गुरुतर माना गया है,[4] 'जिससे विरति की जाती है', चूर्णिकार ने वैर कहा है ।[5] हिसा करना, हिसा करवाना और हिसा करने वाले का अनुमोदन करना—ये तीनो गलत है । परिग्रह के लिये हिसा होती है । जहाँ परिग्रह है वहाँ हिसा का होना निश्चित् है, इसलिये परिग्रह और हिसा—ये दोनों परस्पर सम्वन्धित है । ये एक ही वस्त्र के दो अंचल हैं । ये दोनो वन्धन के कारण है । यद्यपि राग और द्वेप भी वन्धन के कारण है, किन्तु वे भी परिग्रह और हिसा से उत्तेजित होते है, इसलिये परिग्रह और हिसा वन्धन के पार्श्ववर्ती कारण वन जाते है ।

१—सूयगडो १ (सम्पा.) युवाचार्य महाप्रज्ञ, १, १, २ ।
२ वही, १, १, २-३ ।
३—वही, १, १, ४ ।
४—चूर्णि, पृ २१, २२—आरम्भ-परिग्रहो वन्ध हेतु—पाणातिवातादि आसवाण परिग्गहो गुरुअतरो त्ति कातु तेण पुव्व परिग्गहो वुच्यति ।
५—चूर्णि, पृ २२—विरज्यते येन तद्वैरम् ।

आगम में अपरिग्रह को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि इसकी मान्यता के अनुसार 'जीव' परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है।[1] सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त, शीतीभूत, प्रसन्नचित्त श्रमण जैसा मुक्ति सुख पाता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नही मिलता।[2] परिग्रह-त्याग से इन्द्रियाँ वश में होती है।[3] संग्रह करना भीतर रहने वाले लोभ की झलक है।[4] परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर परिग्रह के १४ भेद है।[5] एव बाह्य परिग्रह के १० भेद है।[6] सजीव या निर्जीव स्वल्प वस्तु का भी जो परिग्रह रखता है अथवा दूसरे को उसकी अनुज्ञा देता है, वह दु:ख से मुक्त नही होता है।[7] इसका अर्थ है कि परिग्रह मे ममता और आसक्ति है।

'मूर्च्छा परिग्रह है' - ऐसा कहा गया है। मूर्च्छा का अर्थ है किसी भी वस्तु मे अपनत्व का अनुभव करना या उसे अपनी मालिकी समझना। यह ममता या अपनत्व की भावना रागवश होती है। फिर उसके अर्जन, सचय एवं संग्रहण के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इन बाह्य पदार्थो के ऊपर स्वामित्व स्थापित करने के लिए और ऐसा करके अपने राष्ट्रवासियो की सुख-सुविधा बढाने के लिए राष्ट्रों के बीच युद्ध होते है। व्यापार-विस्तार की प्रतियोगिता एवं अपने उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिए बाजारो की खोज और होड़ ही आज के विश्व की सबसे दुर्दान्त समस्या है। सक्षेप मे इन सब प्रवृत्तियो की तह में मूर्च्छा ही काम करती है। जैन दार्शनिकों ने बड़ी ही सूक्ष्मता से अपरिग्रह व्रत के अतिचारों को रक्खा है ताकि व्यावहारिक जीवन में अपरिग्रह की साधना में व्यक्ति को दिशा-निर्देश मिल सके—क्षेत्रवास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास एव कुप्य-भाड के प्रमाणों का अतिक्रम ये परिग्रह-परिमाण व्रत के पाँच अतिचार है।[8] अतिचार के साथ-साथ अपनी गृहव्रत की भावनाओ की व्याख्या मे भी जैन चिन्तकों ने स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्द के प्रति राग-द्वेष वर्जन की बात रक्खी है। जैन दर्शन के अतिरिक्त भी अपरिग्रह का महत्त्व

१—सुमणसुत्तं, गाथा–१४०, पृ ४४

संगनिमित्त मारइ ? भणइ अलीअ करेइ चोरिक्क।
सेवइ मेहुण मुच्छ, अप्परिमाण कुणइ जीवो॥

२ – वही, गाथा–१४५, पृ. ४६।

३—भगवती आराधना, (शिवकोटी आचार्य, सोलापुर) गाथा–११६८।

४—दशवैकालिक, ६/१६।

५—भगवती आराधना (शिवकोटी आचार्य) गाथा–१११८।

६—वही, गाथा–१११६।

७—समणसुत्तं, गाथा–१४१।

८—उमा स्वामी तत्वार्थ सूत्र, १७; मूर्च्छा परिग्रहः।

भारतीय चिंतन मे स्वीकार किया गया है। वेद-उपनिषद् मे तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' एव 'मा कस्य स्विद् धनमे'[1], कहकर परिग्रह-त्याग का मार्ग प्रशस्त किया गया है। असल में काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बताया गया है।[2] लोभ पर गदा प्रहार के लिये ही अपरिग्रह व्रत की परिकल्पना है। अपरिग्रह को भावात्मक शब्दावली में हम सन्तोष भी कह सकते हैं जिसका महत्त्व शास्त्रों में पर्याप्त रूप से वर्णित है। योगशास्त्र[3] ने अपने पंच यमों मे यदि अपरिग्रह को स्थान दिया है तो नियमो मे सन्तोष का भी उल्लेख किया है। बौद्ध पंचशील[4] एवं मनु स्मृति[5] मे स्पष्टतः अपरिग्रह का उल्लेख नही है किन्तु 'अस्तेय' को दोनों ने माना है।

जिसकी हमें आज आवश्यकता नही है उसे भविष्य की चिन्ता से संग्रह कर रखना ही परिग्रह है। ईश्वर में अखण्ड आस्था रखने वाला परिग्रही हो नही सकता क्योंकि उसकी मान्यता है कि जिस ईश्वर ने जन्म दिया है, जो आज हमारी जीवन रक्षा कर रहा है, भविष्य में भी वही हमारा संरक्षण करेगा। जिस वस्तु की जव सच्ची आवश्यकता होगी तव वह अवश्य प्राप्त हो जायगी। इसलिये उसे सग्रह के प्रपंच में पड़ने की आवश्यकता नही।[6] यह है सच्ची आस्तिकता और नैतिक नियमों मे विश्वास। किन्तु इसका अर्थ पुरुषार्थहीनता से परिपूर्ण भाग्यवाद नही होता है। जो शक्तिमान होते हुए भी श्रम नही करता उसकी आवश्यकताएँ परमेश्वर यों ही पूरी नही कर देता। परिश्रम करने की जिसे इच्छा नही, जो उसे मुसीवत समझता है उसके अन्दर तो यह विश्वास ही नहीं जम सकता कि भगवान् सवकी आवश्यकताएँ पूरी करने वाला है। वस्तुत. वह तो अपनी परिग्रह-शक्ति पर ही भरोसा रखता है। फिर बौद्ध एवं जैन तो श्रमण-संस्कृति की धाराएँ है जो आत्म-पुरुपार्थ का धर्म है, इनमें तो ईश्वर जैसे अलौकिक तत्त्व के प्रति परमुखापेक्षी होने की भी आवश्यकता नही है। फिर इसका यह भी अर्थ नही कि समाज में रहकर अपरिग्रही-व्रती अपने पास आयी हुई वस्तुओं को कही रास्ते मे फैंक दे या खराव होने दे। वह अपने को उन वस्तुओं का रक्षक समझे और उनकी पूरी हिफाजत रखे, वह पल भर भी अपने को उन वस्तुओं का मालिक न माने। अतः जिन्हे उनसे काम लेने की आव-

---

१ - ईशावास्योपनिषद्, श्लोक—१।

२—श्रीमद् भगवद्गीता, १६, २१—त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मनः।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयत्यजेत् ।।
श्रीमद्भागवत महापुराण, ७, ११, ८-१२—सतोपः समदृक सेवा।

३—योगसूत्र, २, ३०।

४—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव मादक द्रव्य निषेध।

५—मनु स्मृति, धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौर्यमिन्द्रियनिग्रह.। ७/९२।

६—मश्रुवाला, कि० घ० गाधी विचार दोहन, पृ० २०–२१।

श्यकता हो उन्हे उनका इस्तेमाल करने देने में बाधक न हो। अपने या बाल-बच्चों के काम आने के ख्याल से एक चिथड़ा भी बटोर रखता है और दूसरे की जरूरत होते हुए भी इस्तेमाल नही करने देता वह परिग्रही है। संक्षेप में परिग्रह या अपरिग्रह एक भावना है। सम्पत्तिवान भी यदि अपने को सम्पत्ति का ट्रस्टी मानता है तो वह अपरिग्रही है एव अकिन्चन व्यक्ति भी लोभ में फसा है तो वह परिग्रही है। अतः परिग्रह तृष्णा और लोभ है अपरिग्रह सन्तोष और त्याग की वृत्ति है।

अपरिग्रह केवल व्यक्तिगत नैतिक सद्गुण ही नही है, इसका सामाजिक आधार भी है। सर्वप्रथम तो सग्रह व्यक्ति से नही समष्टि से ही सम्भव है। यदि समाज असहयोग करे तो व्यक्ति के लिए सम्पत्ति का संग्रह करना तो दूर रहा, उसका अर्जन करने में भी वह अक्षम रहेगा। शायद इसी को ध्यान मे रखकर मार्क्स ने कहा है कि पूँजी एक सामाजिक शक्ति है। (Capital is a social power) दूसरी तरफ परिग्रह के कारण सामाजिक विषमता बढती है/और फिर उससे ईर्ष्या-द्वेष, कलह आदि उत्पन्न होते है। यही कारण है कि धर्माचार्यो ने दान को प्रतिष्ठित किया है। इस्लाम में जकात, ईसाई धर्म में चैरिटी एवं हिन्दू धर्म मे दान की महिमा है। शंकराचार्य ने तो 'दानं संविभागः' कह ही दिया है जिसका आधार लेकर विनोबाजी ने भूदान, सम्पत्ति दान, जीवन दान आदि की परम्परा चलायी है। 'सबै भूमि गोपाल की' या 'सम्पत्ति सब रघुपति के आही' जब कहा जाता है तो अपरिग्रह-धर्म परिपुष्ट होता है। केवल जमीन एव जायदाद ही नही हमारा जीवन भी अपने लिये नही बल्कि समाज के लिये है। यही भावना लेकर विनोबाजी एवं जयप्रकाशजी ने 'जीवन दान' का अभियान प्रारम्भ किया था, जो अपरिग्रह-व्रत की पराकाष्ठा है। गाधीजी का ट्रस्टीशिप या विनोबाजी की विश्वस्त वृत्ति का सिद्धान्त भी अपरिग्रह व्रत की सामाजिक साधना है। जिस समाज में अपरिग्रह व्रत का परिपालन होगा, वहाँ पूँजीवाद की समस्या ही नही रहेगी और फिर उससे संघर्ष आदि के प्रश्न ही निरर्थक होगे। किन्तु यदि समाज में व्यक्तिगत परिग्रह बढ़ेगा तो विषमता भी बढ़ेगी, शोषण भी होगा और फिर वर्ग-संघर्ष या रक्तिम-संघर्ष अनिवार्य है।

आध्यात्मिक दृष्टि भी अपरिग्रह के पक्ष में है। जब सभी सम्पत्ति ईश्वर की है तो उसे केवल अपना समझना ईश्वर-द्रोह है। इसीलिये उपनिषद्, त्याग, के पश्चात् भोग—'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' और गीता 'यज्ञार्थात्कर्मणो'[1] का आदेश देती है। बाइबिल में तो कहा ही गया है कि 'सूई के छेद से एक ऊँट

१—गीता, ३, ६।

का निकल जाना सम्भव है किन्तु परिग्रही व्यक्ति ईश्वर के पास हरगिज नही पहुँच सकता ।' इस्लाम मे भी परिग्रह की पर्याप्त भर्त्सना है ।[1]

मनोवैज्ञानिक रूप से भी यदि हम विचार करें तो परिग्रही-व्यक्ति जितनी सुरक्षा का अनुभव करता है उससे अधिक असुरक्षा का ही अनुभव करता है। उसकी सम्पत्ति पर चोरो-डकैतो और असामाजिक तत्त्वों के अलावा समाज के अभावग्रस्त लोगो की आंखे लगा रहती है । फिर सम्पत्ति के अपहरण से व्यक्ति को आक्रोश भी होता है और कभी तो 'धनशोक', पुत्र-शोक' से भी बढ़ जाता है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि परिग्रह की कोई सीमा नही होती एवं उसमे सदा एक चिरन्तन अतृप्ति की भावना रहती है । यह एक कष्टकारक प्रसग होता है । अतः परिग्रह से मनोवैज्ञानिक सुख भी प्राप्त नही होता है ।

जिस प्रकार अहिसा का वैचारिक आधार अनाग्रह या अनेकात दृष्टि है, उसी प्रकार इसका सामाजिक आधार अनासक्ति या अपरिग्रह है । व्यक्तिगत जीवन मे हम जिसे अनासक्ति कहते है, सामाजिक जीवन में वही अपरिग्रह हो जाता है । असल मे देखा जाय तो अपरिग्रह, अस्तेय और बहुत हद तक ब्रह्मचर्य व्रत भी अनासक्त के ही व्यावहारिक रूप है । व्यक्तिगत जीवन में आसक्ति दो रूपो मे अभिव्यक्ति होती है—परिग्रह-भाव एव भोग-भावना जिनके वशीभूत होकर वह दूसरो के अधिकार की वस्तुओ का अपहरण करता है । इस प्रकार आसक्ति बाह्यत: तीन रूपो में होती है—(१) अपहरण या शोषण, (२) आवश्यकता से अधिक परिग्रह या सग्रह और (३) भोग । केवल हत्या या रक्तपात ही हिसा नही है, परिग्रह भी हिसा ही है क्योकि बिना हिसा (शोषण) के सग्रह असम्भव है । सग्रह के द्वारा दूसरों के हित का हनन होता है और इस रूप मे परिग्रह हिसा है । अपरिग्रह बाह्य-अनासक्ति है, अनासक्ति आतरिक अपरिग्रह है । इसी प्रकार समाज या राष्ट्र की सग्रह एव शोषण वृत्ति ने मानव जाति को अपार कष्टों में डाला है ।

यही कारण है कि जैन परम्परा ने समविभाग और समवितरण को सामाजिक एव आध्यात्मिक साधना का आवश्यक अंग माना है ।[2] अनासक्ति की भावना को मूर्त्त रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन मे परिग्रह परिमाण और श्रमण जीवन में परिग्रह के त्याग का निर्देश है । दिगम्बरत्व शायद आत्यन्तिक अपरिग्रही जीवन का सजीव प्रमाण है । 'उत्तराध्ययन' सूत्र के अनुसार समग्र जागतिक दुःखो का मूल कारण तृष्णा है । जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है उसका मोह समाप्त हो जाता है और जिसका मोह मिट जाता है उसके दुःख

१—कुरान शरीफ, ३४, ३५, ३४, ४६-५०; ३५, १; ३५; ५-६; ३५, १०; ३५, १६-२२; २७-२८; ३२ ।

२—उत्तराध्ययन सूत्र, १७, ११; प्रश्न व्याकरण सूत्र, २, ३, ।

भी मिट जाते है।[1] तृष्णा असीम है और भौतिक साधन सीमित है। अतः सीमित साधनो से असीमित तृष्णा की पूर्ति हो नहीं सकती।[2] तृष्णा ही परिग्रह का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।[3] आसक्ति की ही दूसरी सज्ञा लोभ है और लोभ सद्गुणो का विनाशक है।[4] इस अनासक्ति को बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओ ने भी स्वीकार किया है। गीता तो अनासक्ति-योग का काव्य है ही। गीता के अनुसार आसक्ति के कारण ही मनुष्य काम-भोग की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन-सचय की चाह करता है।[5] संक्षेप में अपहरण, शोषण एव संग्रह आदि की वृत्तियो के मूल में आसक्ति ही है। इसलिए गीता में आसक्ति और लोभ को नरक का द्वार कहा है।[6] इसीलिए गीता अनासक्त या निष्काम कर्म का उपदेश देती है। भगवान् बुद्ध की दृष्टि में भी तृष्णा ही दु.ख है।[7] आसक्ति ही बन्धन है।[8] जो भी दुःख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है।[9] आसक्ति का क्षय ही दुःखों का क्षय है। जो व्यक्ति तृष्णा को वश में कर लेता है उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे कमल पत्र पर रहा हुआ जल-बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।[10] तृष्णा से दु.ख वैसे ही बढते है, जिस प्रकार खेतों मे वीरण घास बढती रहती है।[11] यों तो बौद्ध दर्शन में मुख्य रूप से भव तृष्णा, विभव तृष्णा और काम तृष्णा है लेकिन सब भेद-उपभेद मिलाकर तृष्णा के १८ भेद माने गये है। बुद्ध की दृष्टि में भी परिग्रह के मूल मे भी यही तृष्णा या आसक्ति है।[12]

यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ जैन, बुद्ध एवं वैदिक परम्पराओ ने अनासक्ति को व्यक्तिगत जीवन का सर्वमान्य मूल्य स्वीकार किया है, वहाँ जैन परम्परा ने अनासक्ति की बाह्य अभिव्यक्ति अपरिग्रह को भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन-धर्म माना है। यही कारण है कि ममत्व-विसर्जन के साथ सम्पदा-विसर्जन पर भी जैन विचारधारा जोर देती है जबकि वैदिक परम्परा

१—उत्तराध्ययन सूत्र, ३२, ८।
२—उत्तराध्ययन सूत्र, ८, ३८।
३—दशवैकालिक सूत्र, ६, २१।
४—वही, ८, ३८।
५—गीता, १७, १२।
६—गीता, १६, १६।
७—सयुत निकाय, २, १२, ६६; १, १, ६५।
८—सुत्त निपात, ६८, ५।
६—वही, ३८, ५७।
१०—धम्मपद, ३३६।
११—वही, १८६।
१२—महानिद्देसपालि, १, ११, १०७।

मे अनासक्त वृत्ति के लिए परिग्रह त्याग आवश्यक नहीं। जनक पूर्ण अनासक्त होते हुए भी राजकाज सम्भालते थे लेकिन जैन परम्परा का भरत पूर्ण अनासक्ति के आते ही राजकाज छोड़कर मुनि बन जाता है।[1] बौद्ध परम्परा वैदिक एव जैन परम्परा के मध्य मे है क्योकि जहाँ जैन धर्म ने मुनि जीवन के लिए परिग्रह के त्याग और गृहस्थों के लिए परिग्रह-परिसीमन की बात की है, वहाँ बौद्ध धर्म ने केवल भिक्षु के लिए ही स्वर्ण-रजत रूप परिग्रह त्याग की अवधारणा प्रस्तुत की है। गृहस्थो के लिए परिग्रह-परिसीमन का प्रश्न भी नही उठाया गया है।

असल मे अपरिग्रह का प्रश्न केवल वैयक्तिक नही, सामाजिक भी है। आज इसकी राष्ट्रीय एव जागतिक प्रासगिकता भी है। परिग्रह, संग्रह और विसर्जन सभी सीधे-सीधे समाज-जीवन को प्रभावित करते है। यदि अर्जन सामाजिक-आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है तो संग्रह आर्थिक समवितरण को। इसी के विपरीत विसर्जन की वृत्ति लोक कल्याण को प्रभावित करती है। अतः परिग्रह-अपरिग्रह के प्रश्न पूरी तरह सामाजिक प्रश्न हैं। अपरिग्रह का सिद्धान्त वस्तुतः अनुचित अर्जन, अनैतिक संग्रह पर गदा-प्रहार है। अर्जन और सग्रह अपने आप में बुरा नही लेकिन जब इनका आधार शोषण एव विषमता हो जाता है तो फिर यह समाज के लिए जहर बन जाता है। अन्यायपूर्ण अर्जन एव शोषणाधारित संग्रह ही आर्थिक सघर्षों को जन्म देता है क्योंकि एक तरफ अनियन्त्रित उपभोग, वैभव का वीभत्स प्रदर्शन और दूसरी ओर करुण क्रन्दन का नृत्य होता है, समाज में सम्पदा की विषमता बढती है। फिर तो वर्ग-संघर्ष अनिवार्य हो जाता है और सामाजिक सुव्यवस्था एव शान्ति दिवास्वप्न हो जाती है। यही कारण है कि मार्क्सवाद उत्पादन के साधन एवं स्वामित्व को ही नही उसके उपभोग एवं वितरण को सामाजिक व्यवस्था मे आबद्ध करते है, किन्तु मार्क्सवाद का समष्टिगत अपरिग्रह राजदण्ड के आधार पर चलता है इसलिये उसे कई प्रकार की निरकुश व्यवस्थाएँ लादनी पड़ती है। समाजवाद जब तक ऊपर से लादा जाता रहेगा उसे सगीनो की साया एवं तानाशाही का सम्बल चाहिये। वास्तव मे समाजवाद केवल राज्य ही नही, यह एक समाज-व्यवस्था और उससे भी अधिक एक जीवन-पद्धति है। इसलिये यदि समाजवाद को मगलकारी बनना है तो फिर व्यक्तिगत जीवन मे भी अपरिग्रह का मूल्य स्वीकार करना होगा।

लेकिन मार्क्सवादी समाजवाद का आधार-तत्त्व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और भौतिकवादी जीवन मूल्यो के परिप्रेक्ष्य मे सम्भवतः तृष्णा और आसक्ति पर विजय सम्भव नहीं है क्योकि जब आवश्यकता की वृद्धि की पूर्ति के राग मे ही रत रहना मानव जीवन का लक्ष्य है तो अपरिग्रह आदि की भावना उनके लिए एक दार्शनिक विसगति होगी। शायद मार्क्सवाद अभाव और अकिंचनता

१—यह कथन दिगम्बर मान्यता के अनुसार है—सम्पादक।

निवारण की पावन भावना से प्रभावित होकर यह भूल जाता है कि भौतिक सुख, भोग एवं आवश्यकताओं की सीमा नही है। लाभ से लोभ बढ़ता जाता है। कामभोग से काम तृप्त नही होता है। ययादि वृद्धावस्था में जवानी प्राप्त कर भी तृप्त नही हुए बल्कि काम तीव्रतर होता गया। जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि शान्त नहीं होती है, उसी प्रकार भौतिक सुखोपभोग से शान्ति एवं तृप्ति नहीं मिलती है। यही कारण है कि सुकरात ने कहा था—हम यदि सुख चाहते है तो हमें यह निर्णय करना होगा कि हम कितनी चीजों के बिना अपना काम चला सकते है—(How many things we can do without ?) उपभोक्तावादी संस्कृति के विरुद्ध आज पाश्चात्य जगत् मे भी एक अभियान चल रहा है और स्वैच्छिक सादगी एक जीवन-पद्धति के रूप में अपनायी जा रही है। इस सदी के पाँचवें दशक में यह आन्दोलन शुरू हुआ था और आज कम से कम ५० लाख अमरीकी नागरिक तड़क-भड़क की जिन्दगी को छोड़ स्वैच्छिक रूप से सादगी को अपना चुके है। आज के असीमित आर्थिक विकास को शंका की दृष्टि से देखने लगे है। शायद वे समझ रहे है कि असीमित ढंग से बढती हुई उपभोक्ता सस्कृति का बोझ हमारी यह धरती सम्भाल नहीं सकेगी।[1]

टालस्टाय अपनी कहानी – How Much Land Does a Man Require ?' के माध्यम से बताने का प्रयत्न करते हैं कि व्यक्ति असीम तृष्णा के पीछे भले ही पागल होकर अपने जीवन की बाजी लगा देता है किन्तु अन्त मे उसके शव को दफनाने भर के लिए ही भू-भाग उसके उपयोग में आता है। किसी वस्तु के प्रति आसक्ति होने से उस वस्तु के विछोह मे दु:ख का अनुभव होता है परन्तु आसक्ति नही होने पर दु:ख नहीं होता है। यह भ्रान्त धारणा है कि सुख बाहरी वस्तुओं में है। मनुष्य की आसक्ति और आकांक्षा जिस वस्तु के लिये सग्रह की होती है, उसको पाने के लिये चिन्ता, बेचैनी आदि होती है किन्तु जैसे ही वह उसे प्राप्त कर लेता है, तत्काल उससे भिन्न अन्य वस्तु पाने की इच्छा हो जाती है। इस प्रकार इच्छाओं का क्रम चलता रहता है। प्रत्येक प्राणी की आशा (इच्छा) का गड्ढा इतना बड़ा होता है कि उसको भरने के लिये सारे ससार के समस्त पदार्थ भी थोडे होते है—'आशागर्तः प्रतिप्राणी यत्र विश्वपणुपमम्।' शेक्सपियर ने ठीक ही कहा है कि 'इस संसार में सबसे बड़ा भ्रम यह है कि पैसा ही हमें सुखी बना सकता है। स्वर्ण तो मनुष्य की आत्मा के लिये सबसे गर्हित विष है।' दुर्योधन ने भी अपने मामा शकुनि से कहा था कि 'सोना अग्नि के समान चमकदार तो होता है परन्तु अग्नि से भी अधिक जलन पैदा करता है, क्योंकि अग्नि तो छूने पर ही जलाती है जबकि युधिष्ठिर के पास भेंट में प्राप्त सोने को देखकर मुझे जलन पैदा होती है।'

१—Handerson, C, 'Learning to lim Frugally', Span, New Delhi, July, 1979, p. 15

सच्चे सुख का स्रोत आत्मा के भीतर है—सन्तोष में है, अपरिग्रह में है—'जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।' असल में आसक्ति और परिग्रह हमे बन्धन मे डालता है। आसक्ति की जननी ही मोह या मूर्च्छा है।[1] बाह्य परिग्रह मानसिक परिग्रह (आसक्ति) के बिना सम्भव नही है। फिर परिग्रह हिंसा को जन्म देता है। भगवान् महावीर ने अपरिग्रह व्रत पर इसलिये विशेष बल दिया कि वे जानते थे कि आर्थिक विषमता और आवश्यक वस्तुओ का अनुचित संग्रह सामाजिक जीवन को विघटित कर देने वाला है। धन का सीमाकन स्वस्थ समाज-निर्माण के लिये अनिवार्य है। धन सामाजिक व्यवस्था का आधार होता है और उसके कुछ हाथो मे सीमित होने से समाज का सम्पूर्ण विकास नही हो पाता है। जीवनोपयोगी वस्तुओं के संग्रह से समाज में अभाव की स्थिति पैदा होती है। पूँजीवाद का यही अन्तर्विरोध है। साम्राज्य-लिप्सा की भावना के पीछे भी परिग्रह की भावना है।

यह दुर्भाग्य है कि आज जब मानवता का लगभग तृतीयांश भाग भूख एवं अभाव से त्रस्त है, वहाँ दूसरी ओर वैभव और विलास का प्रगल्भ प्रदर्शन होता है। सयुक्त राष्ट्र अमरीका मे अन्नादि के दाम नही गिरें, इसके लिए करोड़ो मन अन्न नष्ट कर दिया जाता है। दूध का दाम नही गिरे, इसके लिए लाखों गायें काट दी जाती है। यह सब सास्कृतिक विकृति है जिसके कारण विश्व-शान्ति और विश्व-भ्रातृत्व को खतरा होता है।

इसलिए अपरिग्रह का विचार और आचार केवल परमार्थ-साधना का विषय नही, यह तो व्यक्तिगत जीवन के सच्चे सुख एवं स्वस्थ समाज-संरचना के लिये आवश्यक है। पूँजीवाद व्यक्तिगत परिग्रहवाद है तो साम्यवाद भी राज्य का परिग्रहवाद है। हमें इन दोनों से परे किसी स्वस्थ सामाजिक संरचना के विषय मे सोचना चाहिये। मेरी विनम्र राय में गाधीजी का ट्रस्टीशिप का विचार हमे एक दिशा-निर्देश दे सकता है जहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व एवं राज्य के स्वामित्व दोनो का निराकरण किया जाता है। साथ-साथ ट्रस्टीशिप की भावना और योजना समाज-कल्याण के लिये ही है। असन्तोष और अधिकार-लिप्सा वैयक्तिक जीवन की अशान्ति के व्यक्त निदान है। भोग और लोभ की अदम्य कामना विश्व के समस्त पदार्थों को जीवन-यज्ञ के लिये हविष्य बना रही है। सामाजिक जीवन में यह व्यक्त है। यह दुर्भाग्य है कि बीसवी सदी मे जो देश जितना शक्तिशाली, धनवान और शिक्षित है, वह उतना ही अधिक शोषण, उत्पीड़न और सग्रह करने पर तुला हुआ है। ऐसी स्थिति में विश्व-शान्ति पर खतरा बढ़ता ही जा रहा है। अतः अपरिग्रह विश्व-शान्ति का रक्षा कवच एवं समाजवाद का स्थायी आधार तत्त्व है। ❒

१—Amritchandra, Purusartha Siddhupayaya, p. III

२५

अपरिग्रह-विचार

☐ महात्मा गाँधी

अपरिग्रह को अस्तेय से सम्बद्ध समझना चाहिये। वास्तव में चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है, संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नही कर सकता। परमात्मा परिग्रह नही करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज की रोज पैदा करता है। अतः यदि हमारा उस पर विश्वास है तो हमें समझना चाहिये कि वह हमें आवश्यक चीज रोज की रोज देता है, देगा। औलियाओ का, भक्तों का यह अनुभव है। रोज के काम भर का रोज पैदा करने के ईश्वरीय नियमों को हम नही जानते अथवा जानते हुए भी पालते नही है। अत. जगत् में विषमता और उससे होने वाले दुःख भोगते है। धनी के घर उसके लिये आवश्यक अनावश्यक चीजें भरी रहती है, मारी-मारी फिरती है, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव मे करोड़ों मनुष्य भटकते है, भूखों मरते है, जाड़े से ठिठुरते है। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता भर को ही संग्रह करे तो किसी को तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते है। करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सन्तोष नही रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है। उसे पेट भरने भर को ही पाकर सन्तोष होना दिखाई नही देता, परन्तु कगाल को पेट भर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने सन्तोष के लिए शुरूआत धनी को ही करनी चाहिये। यह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे तो दरिद्र के काम भर को सहज मे मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखे।

आदर्श आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसी का कहा जायेगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। यहाँ तक कि वह पक्षी की भाँति बिना घर के, बिना वस्त्रो के और बिना अन्न के विचरण करता है। अन्न तो उसे रोज की जरूरत भर को भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थिति को तो विरले ही पहुँच सकते है। हम मामूली दर्जे के सत्याग्रह के जिज्ञासुओं को तो चाहिये कि आदर्श को ध्यान मे रख कर नित्य अपने परिग्रह की जाँच करते रहें और जहाँ तक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नही है वल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसको घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढता जाता है, सेवा-शक्ति बढती है। इस दृष्टि से विचारने

और वरतने पर हमे मालूम होता है कि आश्रम से हम लोग वहुत सा संग्रह ऐसा करते है कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नही कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पडौसी को चोरी करने के लालच में फँसाते है। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को घटा सकता है और ज्यो-ज्यों घटाता जाता है, त्यों-त्यो वह सुखी, शान्त और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नही रह जाती। सर्व व्यापक आत्मा शरीर रूपी पिजडे मे कैसे वन्द रह सकता है? यह पिंजड़ा वनाये रखने का अनर्थ कैसे कर सकता है? दूसरे को कैसे मार सकता है? यों विचार करते हुए हम आत्यतिक त्याग को पहुँच जाते है और शरीर की स्थिति पर्यन्त उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते है और यहाँ तक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खुराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-वैठना, जागना-ऊंघना सव सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार वरतने वाला मनुष्य अन्त मे सत्य की झाँकी करेगा। इस दृष्टि से हम सवको अपने परिग्रह पर विचार कर लेना चाहिये।

यह ख्याल रखे कि वस्तुओ की भाँति विचार का भी परिग्रह होना चाहिये। अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान भर लेने वाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमे ईश्वर से विमुख रखते है अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हों वे सव परिग्रह के अन्दर आते है और इसलिये त्याज्य है। भगवान् की 'गीता' के तेरहवे अध्याय मे दी हुई ज्ञान की यह परिभाषा हमे ख्याल मे लानी चाहिये। अमानित्व इत्यादि गिना कर कहा गया है कि उससे भिन्न सव अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही—तो हम आज जो वहुत-कुछ ज्ञान के नाम से संग्रह करते है, यह अज्ञान ही है और उससे लाभ के वदले हानि होती है, दिमाग फिर जाता है, अन्त में खाली हो जाता है, असन्तोप फैलता है और अनर्थ वढते है। इससे यह मतलव नही कि मदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिये। पर यह प्रवृत्ति होनी चाहिये सात्विक, सत्य की ओर ले जाने वाली। जिसने सेवा धर्म स्वीकार किया है वह क्षण भर भी सुस्त नही रह सकता। यहाँ तो सारासार का विवेक सीखने की वात है। सेवा-परायण को यह विवेक सहज प्राप्त होता है।



२६ अपरिग्रह-चिन्तन

□ श्री मदनलाल कटारिया

परिग्रह का अर्थ है अपनी सम्पत्ति, धन दौलत के प्रति ममत्व भाव रखना। अपरिग्रह का अर्थ है विषयासक्ति का त्याग। इस व्रत के लिये उन सभी विषयो का परित्याग करना पड़ता है जिसके द्वारा इन्द्रिय सुख की उत्पत्ति होती है। ऐसे विषयों के अन्तर्गत सभी प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध है। मनुष्य सासारिक विषयों मे आसक्त होने के कारण बन्धन में पड़ जाता है। फल यह होता है कि उसे पुन.-पुन: जन्म ग्रहण करना पड़ता है और वह तब तक मोक्ष नहीं पा सकता जब तक कि विषयों से अनासक्त नही हो जाता।

मानव की अभिलाषा रहती है कि वह मोक्ष प्राप्त करे। अस्तु, उसे चाहिये कि अपनी आवश्यकता से अधिक जो धन सम्पत्ति, साधन सामग्री उसके पास उपलब्ध है, उसका प्रयोग सत्कार्य, परोपकार, सार्वजनिक हित के कार्यो, दीन दु:खी व असहायों की सेवा मे मुक्त भाव से कर, मानव जीवन को कृतार्थ बनावे। यही अपरिग्रह का मूल मन्त्र है।

कवि रहीम ने भी कहा है—

तरुवर फल नही खात है, सरवर पियहि न पान।
कह 'रहीम' पर काज हित, सपत्ति सचहि सुजान॥

इस दोहे मे महावीर का अपरिग्रह का सिद्धान्त स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

महावीर के समान ही अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी सम्पत्ति के सचय व परित्याग के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये है।

प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने 'रिपब्लिक' मे लिखा है—प्रथम तो जितनी कम से कम सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है, उससे अधिक सम्पत्ति किसी को नही रखनी चाहिये। दूसरे किसी के पास ऐसा घर, भण्डार (कोष) नही होना चाहिये जो कि सबके स्वेच्छापूर्ण प्रवेश के लिये नित्य खुला न रहता हो। उनकी भोजनादि सामग्री इतनी मात्रा में और ऐसी होनी चाहिये जो कि संयमी एवं साहसी योद्धा भटों के लिये उपयुक्त हो एवं यह उसको अन्य नागरिकों से

सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित प्रकार से उनकी संरक्षता की तृप्ति के रूप में इतनी मात्रा में मिल जानी चाहिये कि न तो वर्ष के अन्त में शेप रहे और न कम ही पड़े। रही सोने-चाँदी की वात सो जवकि उनको देवताओं से दिव्य प्रकार का स्वर्ण और रजत नित्य ही अपनी आत्मा के अन्दर प्राप्त है, तो उनको मृत्युलोक की निम्नकोटि की धातु की कोई आवश्यकता नही है। उनकी अन्तरात्मा मे विद्यमान धातु पूर्णतया शुद्ध है जबकि सासारिक व्यवहार मे आने वाले सिक्कों के कारण असंख्यों पाप हो चुके है।

प्रसिद्ध दार्शनिक **अरस्तू** ने कहा है, 'संपत्ति वही तक सचित की जानी चाहिये जहाँ तक कि उससे अन्य लोगो को हानि न हो।' उसके अनुसार सम्पत्ति का सर्वोत्तम सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकार व सार्वजनिक उपयोग है। वे कहते है 'सम्पत्ति स्वय कोई बुराई नही है, बुराई तो उसके गलत उपयोग मे है।'

सन्त **आगस्टाइन** के अनुसार धनिक और निर्धन दोनों ही मोक्ष प्राप्त कर सकते है फिर भी वे सासारिक वस्तुओ के अधिकार को आत्मा की प्रगति में और ईश्वर के असीम प्रेम के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने मे वाधा मानते है।

राष्ट्रपिता **महात्मा गाँधी** ने भी अपरिग्रह के वारे मे अपने विचार निम्न प्रकार से व्यक्त किये है, 'अपरिग्रह का पालन करने के लिये केवल धन सचय न करना ही पर्याप्त नही है प्रत्युत भविष्य के लिये किसी भी रूप मे किसी प्रकार का संचय न करना और उसकी रक्षा भी न करना आवश्यक है।' वे यह मानते है कि अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु को ग्रहण करके उसे भविष्य के लिये सचित करना अपरिग्रह का उल्लंघन है। उनके विचार मे अपरिग्रह के अनुसार आचरण करने का अर्थ यह है कि मनुष्य निरन्तर श्रम करते हुए भी समाज से उतना ही ग्रहण करे जितना उसके जीवन के लिए अनिवार्य हो, शेप सव कुछ उसे समाज के कल्याण के लिये समर्पित कर देना चाहिये। गाँधीजी का यह कथन है कि मनुष्य अपने शरीर को भी सुख-भोग का साधन न मानकर सम्पूर्ण मानव जाति तथा प्राणी मात्र की सेवा का साधन समझे और यदि आवश्यक हो तो इस महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिये अपने शरीर का परित्याग करने मे भी सकोच न करे। स्पष्ट है कि अपरिग्रह का दृढतापूर्वक पालन करने के लिये मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अधिकाधिक सीमित करनी होगी उनका यह दृढ विश्वास था कि यदि सभी व्यक्ति अपने दैनिक जीवन मे अपरिग्रहानुसार आचरण करे तो समाज मे व्याप्त आर्थिक विपमता का अन्त हो सकता है और मनुष्य का जीवन अधिक शान्तिपूर्ण एवं सुखमय हो सकता है यदि सभी मनुष्य विशेषतः धनवान व्यक्ति वास्तव मे अपरिग्रह का निष्ठापूर्वक पालन करे तो व्यक्ति और समाज दोनो के लिये सुख और शान्ति का

मार्ग प्रशस्त हो सकता है तथा अन्याय, शोषण एव संघर्ष को रोका जा सकता है।

सम्पत्ति के सम्बन्ध मे गाँधीजी ने ट्रस्टीशिप (न्यासधारिता) के सिद्धान्त को अपनाने का सुझाव दिया है। इसके अनुसार मूल रूप से साधनों पर निजी स्वामित्व ऐसा हो जैसा कि एक ट्रस्टी का होता है। व्यक्ति अपने साधनों का प्रयोग निजी उद्देश्यों मे न करके सामाजिक हित में करे। साधनो को समाज का माने और अपने आपको उसका ट्रस्टी माने। इससे सभी आर्थिक विषमता का अन्त होता है तथा अप्रत्यक्ष रूप से यह अपरिग्रह पर जोर देता है। उनका कहना था कि 'यह धरती अपने प्रत्येक निवासी की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है लेकिन यह हर व्यक्ति के लालच को पूरा नही कर सकती है।'

प्रसिद्ध विचारक आचार्य **विनोबा भावे** ने गाँधी दर्शन को आगे बढाते हुए, 'सबै भूमि गोपाल की' अवधारणा प्रस्तुत करते हुए श्रम दान, सम्पत्ति दान, ग्राम दान आदि की विचारधारा समाज के समक्ष रखी।

प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री एव इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विषय के अध्यक्ष प्रोफेसर **जे. के. मेहता** ने भी आवश्यकताओं को कम से कम करने पर जोर दिया है। उनके अनुसार प्रत्येक आवश्यकता की उपस्थिति मनुष्य को दुःख देती है। आवश्यकता की पूर्ति पर उसे क्षणिक सुख मिलता है। वे कहते है कि आवश्यकताओं की अभिवृद्धि का क्रम सुख मे नहीं बल्कि दु ख मे वृद्धि करने वाला होता है। उनके अनुसार परम सुख प्राप्त करने के लिये मनुष्य को आवश्यकता विहीन अवस्था को प्राप्त करना होगा। उनके अनुसार मनुष्य अपने जीवन में संभवत पूर्ण आवश्यकता रहित स्थिति को प्राप्त न कर सके, परन्तु जैसे-जैसे वह अपनी आवश्यकताओं मे कमी करेगा परम सुख के समीप पहुँच जावेगा। इन विचारों मे भी स्पष्टतः अपरिग्रह की भावना दिखाई पडती है।

उपर्युक्त प्रस्तुत विचारो के निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि यदि वर्तमान मे राष्ट्र, समाज व व्यक्ति को आत्मिक शान्ति प्राप्त करनी है, नैतिक मूल्यो की पुनर्स्थापना करनी है, अपने आपको सुश्रावक प्रतिस्थापित करना है तो उसके सामने अपरिग्रह का व्रत अंगीकार करने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नही है।

• □ •

सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित प्रकार से उनकी संरक्षता की तृप्ति के रूप मे इतनी मात्रा में मिल जानी चाहिये कि न तो वर्ष के अन्त मे शेष रहे और न कम ही पड़े। रही सोने-चाँदी की बात सो जबकि उनको देवताओं से दिव्य प्रकार का स्वर्ण और रजत नित्य ही अपनी आत्मा के अन्दर प्राप्त है, तो उनको मृत्युलोक की निम्नकोटि की धातु की कोई आवश्यकता नही है। उनकी अन्तरात्मा मे विद्यमान धातु पूर्णतया शुद्ध है जबकि सासारिक व्यवहार मे आने वाले सिक्को के कारण असंख्यों पाप हो चुके है।

प्रसिद्ध दार्शनिक **अरस्तू** ने कहा है, 'सपत्ति वही तक संचित की जानी चाहिये जहाँ तक कि उससे अन्य लोगो को हानि न हो।' उसके अनुसार सम्पत्ति का सर्वोत्तम सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकार व सार्वजनिक उपयोग है। वे कहते है 'सम्पत्ति स्वय कोई बुराई नही है, बुराई तो उसके गलत उपयोग में है।'

सन्त **आगस्टाइन** के अनुसार धनिक और निर्धन दोनो ही मोक्ष प्राप्त कर सकते है, फिर भी वे सांसारिक वस्तुओ के अधिकार को आत्मा की प्रगति में और ईश्वर के असीम प्रेम के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने मे बाधा मानते है।

राष्ट्रपिता **महात्मा गाँधी** ने भी अपरिग्रह के बारे मे अपने विचार निम्न प्रकार से व्यक्त किये है, 'अपरिग्रह का पालन करने के लिये केवल धन संचय न करना ही पर्याप्त नही है प्रत्युत भविष्य के लिये किसी भी रूप मे किसी प्रकार का संचय न करना और उसकी रक्षा भी न करना आवश्यक है।' वे यह मानते है कि अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु को ग्रहण करना उसे भविष्य के लिये सचित करना अपरिग्रह का उल्लघन है। उनके विचार में अपरिग्रह के अनुसार आचरण करने का अर्थ यह है कि मनुष्य निरन्तर श्रम करते हुए भी समाज से उतना ही ग्रहण करे जितना उसके जीवन के लिए अनिवार्य हो, शेष सब कुछ उसे समाज के कल्याण के लिये समर्पित कर देना चाहिये। गाँधीजी का यह कथन है कि मनुष्य अपने शरीर को भी सुख-भोग का साधन न मानकर सम्पूर्ण मानव जाति तथा प्राणी मात्र की सेवा का साधन समझे और यदि आवश्यक हो तो इस महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिये अपने शरीर का परित्याग करने में भी सकोच न करे। स्पष्ट है कि अपरिग्रह का दृढ़तापूर्वक पालन करने के लिये मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अधिकाधिक सीमित करनी होगी। उनका यह दृढ विश्वास था कि यदि सभी व्यक्ति अपने दैनिक जीवन मे अपरिग्रहानुसार आचरण करे तो समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता का अन्त हो सकता है और मनुष्य का जीवन अधिक शान्तिपूर्ण एवं सुखमय हो सकता है। यदि सभी मनुष्य विशेषतः धनवान व्यक्ति वास्तव मे अपरिग्रह का निष्ठापूर्वक पालन करे तो व्यक्ति और समाज दोनो के लिये सुख और शान्ति का

"आसक्ति" है और अपरिग्रह "अनासक्ति"। अपरिग्रह की प्रवृत्ति से ही मनुष्य मे ब्रह्मचर्य, सत्य, अस्तेय व अहिसा का उदय हो सकता है अर्थात् भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित चारों अणुव्रतों की प्राप्ति अपरिग्रह के महत्त्वपूर्ण अणुव्रत पर निर्भर करती है।

संक्षेप में अपरिग्रह का उदात्त आदर्श परिग्रह को मूर्च्छा, अविवेक, आसक्ति, अनर्थो की जड़, पिशाच प्रवृत्ति मानता है। अपरिग्रह का मूल, संयम, इच्छा-शक्ति पर नियत्रण अथवा अनासक्ति पर जोर देता है। अपरिग्रह के आदर्श के अनुसार परिग्रह के मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग पाँच कारण बताये है। आगम के अनुसार मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद आदि आन्तरिक परिग्रह के चौदह भेद है।

परिग्रह-अपरिग्रह का एक सैद्धान्तिक धार्मिक-आर्थिक पक्ष भी है। प्रो. स्पैग्लर के अनुसार मनुष्य की आर्थिक नीतियो में धार्मिक प्रवृत्तियो का सफलता से प्रभाव देखा जा सकता है। उसने आर्थिक विकास का विश्लेषण करते हुए उनमें मानवीय प्रवृत्ति के मूल्यों को स्पष्ट किया है। प्रो. लेबिस जैसे अर्थशास्त्री ने यह भी कहा है कि प्राय: आर्थिक व्यवहार मानव मूल्यो का संहार भी कर देता है। मेक्सवेबर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "प्रोटेस्टेन्ट एथिक्स एण्ड स्प्रिट ऑफ केपिटलिज्म" मे स्पष्ट किया है कि आर्थिक जीवन पर धार्मिक मूल्यों के प्रभाव के महत्त्व को कम नही किया जा सकता। वेबर के अनुसार "धर्म को उद्योग व अपरिग्रह दोनों का समान विकास करने मे सहयोग करना चाहिये।" प्रोटेस्टेन्टवाद के अनुसार "उत्पादन बढाना परिग्रह नही है वरन् उत्पादन-वृद्धि में उत्पन्न अविवेकी आनन्द की ओर उन्मुख होना परिग्रह है और वह प्राकृतिक रूप से हानिकारक है।" अर्थशास्त्री रोबिन्स का "इच्छाओं पर संयम अथवा असीमित इच्छाये व सीमित साधन" का सिद्धान्त हमारे अपरिग्रह के सिद्धान्त के वहुत निकट है। गाधीजी ने सम्पत्ति को एक धरोहर माना है। उनका ट्रस्टी-शिप का सिद्धान्त आर्थिक परिग्रह के अनुचित प्रभावों से समाज को मुक्त करता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सार रूप में अपरिग्रह का सिद्धान्त मनुष्य को धन-सचय, सम्पत्ति-सचय अथवा अन्य प्रकार के लाभ-सचय से रोकता है।

परिग्रह-अपरिग्रह का एक व्यावहारिक आर्थिक पक्ष भी है जो विशेष महत्त्व का है। "परिग्रह" से ग्रसित चाहे व्यक्ति हो या राष्ट्र, सम्पूर्ण जगत् को आर्थिक पृष्ठभूमि में देखता है। समाज में वर्गीय आधार को स्वीकार कर गरीव व अमीर का भेद करता है, आर्थिक प्रभाव को मानकर गरीव का शोपण करता है तथा अपनी आर्थिक प्रतिष्ठा को बढ़ाता रहता है। राष्ट्रीय स्तर पर, परिग्रह की प्रवृत्ति, पूंजीवाद को जन्म देती है, आर्थिक शोषण-साम्राज्यवाद को प्रवल

२७

अपरिग्रह : पाश्चात्य विचार-दृष्टि

□ डॉ. सी. एम. जैन

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह केवल धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्व नही रखता वरन् समाज की सम्पूर्ण आर्थिक सरचना मे एक विशेष स्थान रखता है। अपरिग्रह का सिद्धान्त धर्म और अर्थ के मध्य व्याप्त सम्बन्ध और इसके परिणामों को व्यापक रूप से अभिव्यक्त करता है। "अपरिग्रह" अथवा "परिग्रह" के स्वरूप, व्यवहार और प्रभाव का अंकन व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के जीवन से स्पष्ट रूप से किया जा सकता है। अनेक अर्थशास्त्रियो, धार्मिक व राजनीतिक विचारधाराओं ने परिग्रह व अपरिग्रह की प्रवृत्ति का आर्थिक निरूपण भी किया है। प्रो. लेविस, मेक्सवेवर, कार्ल मार्क्स, लेनिनवाद, प्रोटेस्टेन्ट नीतिशास्त्र में परिग्रह के स्वरूप व परिणामो की विवेचना की है जो धार्मिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टियो से अध्ययनार्थ है।

इसके पूर्व कि हम परिग्रह तथा अपरिग्रह के स्वरूप व व्यवहार का विवेचन करे, दोनो के बीच व्याप्त अन्तर स्पष्ट करना उचित होगा। "परिग्रह" एक तृष्णा है जो सदैव अतृप्त रहती है। परिग्रह एक मूर्च्छाभाव है जो मनुष्य को विविध प्रकार की पापमय प्रवृत्तियो मे धकेलता है। यह एक आसक्ति है जो मानव को सासारिक पदार्थो के प्रति आसक्त रखती है। सक्षिप्त मे मूर्च्छाभाव से सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने की प्रवृत्ति परिग्रह है।

दूसरी ओर अपरिग्रह (परिग्रह-परिमाण व्रत) एक अणुव्रत है जो इच्छाओं को सीमित करता है, इच्छाओं और आवश्यकताओ मे अन्तर करता है व साधनो की सीमितता को स्वीकार करते हुए उचित साधनो के माध्यम से आवश्यकताओ की पूर्ति पर जोर देता है। किसी लेखक ने अपरिग्रह की परिभापा देते हुए "मोह के उदय से होने वाली 'पर' मे ममत्त्व वुद्धि मे निवृत्त होना" कहा है। अपरिग्रह का अणुव्रत अनासक्ति पर जोर देता है। वह परिग्रह को अनेक पापो व वुराइयो का जन्मदाता मानता है। परिग्रह का वशवर्ती मनुष्य अब्रह्मचर्य, असत्य, चोरी व हिसा की ओर अग्रसर होता है। परिग्रह से ग्रसित व्यक्ति काम, मोह-माया के जंजाल में फसा रहता है और अनुचित व अनावश्यक की प्राप्ति में अपनी वुद्धि का प्रयोग करता है। आध्यात्मिक व धार्मिक दृष्टि से "परिग्रह"—

२८

उपभोग बनाम उपयोग

□ डॉ० नरेन्द्र भानावत

मनुष्य अकेला जन्म लेता है। जन्म के साथ उसके पूर्व जन्म के संस्कार साथ आते हैं। शारीरिक विकास के साथ-साथ वे संस्कार माता-पिता, परिवार, समाज, धर्म, राजनीति आदि का परिवेश पाकर विकसित होते रहते है। संस्कार बीज रूप होते है। परिवेशगत खाद, पानी, हवा, प्रकाश आदि पाकर वे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होते है। सामान्यत: देखने में आता है कि यदि बीज की नस्ल अच्छी होती है, उर्वरक होती है तो उससे अच्छा फल मिलता है। इसी प्रकार मनुष्य के सर्वागीण विकास में संस्कारों की भूमिका उसकी विविध प्रवृत्तियों और गतिविधियों को बहुत दूर तक प्रभावित करती है।

मनुष्य के विकास में प्रकृति और समाज का बड़ा योगदान है। सद्-संस्कार पाकर मनुष्य प्रकृति और समाज के साथ अपना आत्मीय और अनुरागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है पर यदि सस्कार कुत्सित हैं तो वह प्रकृति और समाज की सुविधाओं का और शक्ति का केवल अपने स्वार्थ के लिए उपभोग करने का भाव विकसित करता है जिससे उसकी दृष्टि भोगमूलक बनती है और यदि उसमें अपने से परे जो शेष सृष्टि है, उसके प्रति प्रेम, दया, मैत्री और सहयोग का भाव जाग्रत होता है तो वह अपने संकुचित स्वार्थो से ऊपर उठकर प्रकृति और समाज की सम्पदा का उपयोग दूसरो के लिए करने के लिए, उसमें सहयोगी बनने के लिए, प्रवृत्त होता है। तव उसमें उपयोगमूलक परमार्थ दृष्टि विकसित होती है। प्रकारान्तर से प्रथम प्रकार की दृष्टि में परिग्रह की भावना और दूसरे प्रकार की दृष्टि मे अपरिग्रह की भावना अनुस्यूत रहती है।

परिग्रह के मूल मे ममता या मूर्च्छा भाव निहित रहता है, जो भोगेच्छा का परिणाम है। भोग का मुख्य साधन मन और इन्द्रियाँ है। यदि मन की वृत्ति भोगोन्मुखी होती है तो इन्द्रियाँ बेलगाम घोड़ो की भाँति विषयों की ओर दौड़ने लगती है। आज हम जिस सस्कृति में जी रहे है, उसमे भोगवृत्ति की प्रधानता है। प्रकारान्तर से हम आज की सस्कृति को उपभोक्ता सस्कृति कह सकते है। इस संस्कृति मे वास्तविक अभाव को दूर करने के लिए उत्पादन क्षमता बढाने के साथ-साथ कृत्रिम अभाव पैदा कर, उपभोग की भूख बढाकर आवश्यकताओं का विस्तार किया जाता है। इस प्रकार पूर्ति की अपेक्षा मांग बढाकर अतिरिक्त लालसा का क्षेत्र विस्तृत किया जाता है। व्यक्ति इस दुष्चक्र मे सुख समझने

करता है, उत्पादन बढाकर मंडियों के विस्तार पर जोर देता है तथा आर्थिक लाभ से प्रेरित राष्ट्र युद्ध व हिसा को समर्थन देने लगते है। मार्क्सवाद परिग्रह से उत्पन्न पूंजीवाद को समाप्त कर शोषणविहीन समाजवाद की चर्चा करता है। मार्क्सवाद के निम्न पाँच स्वरूप अपरिग्रह को समझने के लिये महत्त्वपूर्ण है। मार्क्सवाद के अनुसार :—

(१) मानव का इतिहास आर्थिक प्रभावो से प्रतिवन्धित है।

(२) समाज में दो वर्ग हो गये है - शोषक व शोपित।

(३) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।

(४) शोषक के विपरीत शोपित का आन्दोलन।

(५) अंत में शोषित की विजय तथा एक नये समाजवादी समाज का निर्माण।

आर्थिक परिग्रह से परास्त राष्ट्र आर्थिक संग्रह को बढावा देते हैं, गरीब का आर्थिक शोपण करते है। आर्थिक साम्राज्यवाद को जन्म देते है तथा पूंजीवाद को बढ़ावा देते है। इस प्रकार पूजीवाद परिग्रह का परिचायक है और समाजवाद अपरिग्रह पर आधारित विचारधारा है।

आज हमें अपरिग्रह के सिद्धान्त को केवल धार्मिक परिधि में न देखकर उसे सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र और विश्व के सन्दर्भ मे देखना चाहिये। इस दृष्टि से अपरिग्रह–सिद्धान्त, उत्पादन वृद्धि, नयी खोजो, तकनीकी विकास को संकुचित नही करता है वलिक आर्थिक होड़, आर्थिक साम्राज्यवाद और आर्थिक हिंसा की रोक पर जोर देता है। आज के सदर्भ मे अपरिग्रह का सिद्धान्त व्यक्ति-विकास को सही गति प्रदान करता है और विश्व को अंधाधुन्ध होड़ से संयमित कर एक लोकतान्त्रिक समाजवादी शान्तिपूर्ण समाज के निर्माण में सहयोग देता है। इस प्रकार अपरिग्रह का सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत मूल्यों तक ही सीमित नही है वलिक व्यापक अर्थ मे आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण मे योग देने वाला सिद्धान्त है।



परिग्रह–जल

जालस्स जहा अंते रमति, मच्छा भयं अयाणंता।
तह संगादिसु जीवा, रमंति संसारमगणता॥

—भगवती आराधना १२७५

जाल के भय को नही जानने वाली मछलियाँ जैसे जाल के समीप खेलती-कूदती हैं, वैसे ही संसारी जीव संसार-भय से रहित परिग्रह में रमण करते हैं।

बिखरती नही, जुडती है। उनमें बिखराव नहीं, भराव होता है। ममत्व नहीं, समत्व होता है। इसी उपयोग को जीव का लक्षण कहा गया है।

आज हम जिस व्यापक विश्व सकट से गुजर रहे है उसके मूल में उपभोग और उपयोग मूलक दृष्टि का द्वन्द्व है और उत्तरोत्तर यह द्वन्द्व अधिक बढता जा रहा है। इस द्वन्द्व को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि भोगलिप्सा को नियत्रित किया जाय, आवश्यकताओं को कम किया जाय और उपभोग-परिभोग के जो पदार्थ है उनका नियमन किया जाय। स्वैच्छिक राशनिग पद्धति से—आत्म-संयम से हम न केवल अपनी अत.प्रकृति को सतुलित करते हैं वरन् बाह्य पर्यावरण को भी शुद्ध बनाते है। सत कबीर ने भोगोन्मुखी मन को नियन्त्रित करने के लिए संयम रूप अकुश की जो बात कही है, वह बडी सटीक है—

मैमंता मन मारि के, घर ही मांहे घेरि ।
जब ही चाले पीठि दे, अंकुश देदे फेरि ।।

शब्द निरुक्ति की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि उपभोग में 'उप' और 'भोग' दो शब्द है। भोग शब्द 'भुज्' धातु से बना है जिसके मुख्य दो अर्थ हैं। एक खाना, पीना, आस्वाद लेना, शारीरिक भूख मिटाना और दूसरा अर्थ है पालन करना, रक्षा करना। 'उप' का अर्थ है—समीपता या निकटता, चेष्टा और प्रयत्न। इस प्रकार उपभोग का एक अर्थ हुआ चेष्टापूर्वक पदार्थ के प्रति ममत्व स्थापित कर शारीरिक सुख पूर्ति के लिए उसका भोग करना और दूसरा अर्थ है पदार्थ के प्रति आत्मीय भाव स्थापित कर उसके पालन या रक्षण के लिए सचेष्ट रहना। यह दूसरा अर्थ आज गौण हो गया है। ज्यों-ज्यों यह दूसरा अर्थ प्रधान बनता जाता है त्यों-त्यों उपभोग में उपयोग का भाव बढता जाता है। उपयोग मे भी दो शब्द है। 'उप' और 'योग'। योग 'युज' धातु से बना है जिसका अर्थ है मिलना, जुड़ना, स्थिर होना। 'उप' का अर्थ है योग्यतापूर्वक। इस प्रकार उपयोग का अर्थ हुआ योग्यतापूर्वक मिलना या जुड़ना अर्थात् अपनी समस्त योग्यताओं को परस्पर जोड़ने मे संयुक्त करना। इस प्रवृत्ति मे भोग की अपेक्षा त्यागभाव की प्रधानता रहती है। यह त्यागभाव दूसरो के प्रति आत्मीय और समर्पण का भाव विकसित करता है। इससे दृष्टि विशुद्ध बनती है। यह विशुद्ध दृष्टि हंस की तरह है जो सार तत्त्व को ग्रहण करती है। उसके विपरीत जो भोग दृष्टि है वह बगुले की तरह है जो विषय रूप जल का आचमन कर, संसार-सागर को दूषित कर देती है—

बगुली नीर बटालिया, सायर चड्या कलक ।
और पखेरू पी गये, हंस न बोवे चच ।।

ऐसी उपयोग दृष्टि अहिसा, संयम और तप रूप धर्माराधना से ही सम्भव है।OOO

लगता है और उसके लिए येन-केन-प्रकारेण साधन जुटाने के लिए बेचैन और व्यग्र रहता है। आवश्यकताओं को इच्छा समझकर वह उनकी पूर्ति मे अपनी चेतना और विवेक को निम्न स्तर पर उतार लाता है और ऐसी मानसिकता मे जीने लगता है जहाँ दूसरो से अधिक से अधिक प्राप्ति का भाव निरन्तर बना रहता है। यही नही जो अप्राप्त है उसे प्राप्त करने के लिए वह सदा चिन्तित रहता है।

(कामना पूर्ति और भोग लिप्सा का दबाव मनुष्य की संवेदना को कुण्ठित कर देता है। अपने इर्द-गिर्द जो प्रकृति और समाज है, उसके प्रति लगाव के बजाय, बिखराव और दोहन के बजाय शोषण की वृत्ति पनपने लगती है) प्रकृति की थल, जल और वायु सम्बन्धी जो सतुलित सम्पदा है उसे असंतुलित बनाकर वह अपने लिए अधिक भोग सामग्री जुटाना चाहता है। परिणामस्वरूप प्रदूषण के रूप में भयंकर समस्या आज हमारे सामने आने लगी है।)

भोग की लिप्सा व्यक्ति को जड और मूर्च्छित बना देती है। उसकी शक्ति का क्षरण होने लगता है और वह धीरे-धीरे अपनी प्राण चेतना खो बैठता है। सयम की शक्ति का क्षरण होने के कारण वह निम्नस्तरीय भोग भूमि का संसार जो अन्ततः दुःख रूप है, अपने चारो ओर विकसित कर लेता है। यही संसार नरक है जिसके शास्त्रो मे सात प्रकार बताये गये है। हमारी दृष्टि से पहले स्तर रत्नप्रभा मे भोग का सुख रत्न की चमक की तरह आकर्षित करता है। सुख-प्रियता के भ्रम मे प्राणी डूबा रहता है। दूसरे स्तर शर्कराप्रभा मे शक्कर की मिठास की तरह भोग का सुख मधुर लगता है। तीसरे स्तर बालुका प्रभा में रस रहता ही नही। भोग का सुख रेत की तरह नीरसता मे बदल जाता है। चौथे स्तर पकप्रभा मे प्राणी विषय सुख के दलदल में फसकर द्वन्द्व की स्थिति मे जीने लगता है। भोग-सुख की दासता मे आबद्ध प्राणी दुःखी होते हुए भी उसे छोड नही पाता। पाँचवे स्तर धूमप्रभा मे उसकी दृष्टि धूमिल हो जाती है और जीवन मे धुँआ की तरह निराशा छा जाती है। छठे स्तर तमप्रभा मे प्राणी विमूढ बन जाता है। उसे चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई पडता है। सातवे स्तर महातम प्रभा मे वह हीन भावना से ग्रस्त होकर निविड़तम मे डूब जाता है दु.ख के गर्त में फस जाता है। ये सातो अनुभव भोगवृत्ति की पूर्ति के लिये किये गये आरम्भ-परिग्रह की प्रवृत्तियो और उनके दुखद परिणामो के क्रमिक स्तर को द्योतित करते है।

इस नारकीय दु.ख से तभी मुक्त हुआ जा सकता है जब उपयोग दृष्टि का विकास होता है। उपयोग दृष्टि मे विवेक का, कृतज्ञता का भाव होता है। उसमे इच्छाओ का नही आवश्यकताओ की पूर्ति का लक्ष्य रहता है, सयम और शक्ति का समुचित सतुलन रहता है। अपने से परे जो शेष सृष्टि है, उसके प्रति प्रेम, सौहार्द और आत्मीयता की भावना रहती है। इस कारण मानसिक वृत्तियाँ

३० भोगवृत्ति के चार रूप

□ श्री केशरीकिशोर नलवाया

भोग प्रकृति की प्रधान व्यवस्था है। सामग्रियाँ उपभोग की साधन मात्र है। योग अमरत्व देता है। भोग मृत्यु। रतिपति कामदेव रसराज शृंगार के स्वामी है। शृंगार की अनुभूति, भोग, उपभोग और संभोग से होती है। जीव मात्र भोग से जन्मा, भोग-उपभोग में पला, बड़ा हुआ और भोग में ही काल-कवलित हो जाता है।

लेकिन मानव ! मानव तो सर्व संसारी जीवों में श्रेष्ठतम प्राणी है। ऐश्वर्य से युक्त, सर्वेन्द्रियों से परिपूर्ण, मन, मस्तिष्क एवं आत्मज्योति से ज्योतित एवं मडित है।

आत्मज्योति का मूलाधार प्रेम और सत्य है। यही उसके आदर्श हैं। त्याग उनकी प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। चिर अमरत्व चरित्र प्रधान है। प्रेम और सत्य शाश्वत है। मोह बन्धन है। वासना नश्वर है। भोग निकृष्ट और संभोग निकृष्टतम है।

परिग्रह की सम्पन्नता, सत्ता का मद और यौवन का दर्प मानव को दानव बना देता है। उसे एक ही रस प्यारा होता है– शृंगार और भोग। जो इनसे विरत हो जाते है वे दानव से मानव, मानव से देव और देव से सिद्ध बन जाते है।

पहला रूप

मैने शृंगार को भोगना चाहा। उसे संवारना चाहा, भोग और सभोग से मैने सुख और वैभव की पराकाष्ठा को देखा और देखा भोगविलास की चरम सीमा को। सुनी– भूख-प्यास की चीखे और क्रन्दनयुक्त चीत्कारें। प्रकृति का तांडव और चीत्कारो की वीभत्स ध्वनियाँ। किये प्रकृति के सौन्दर्य में भयावह विद्रूपता के दर्शन। फिर भी मै उसकी गहराइयो में गोते लगाता रहा। मैने देखा कि वह जीर्ण, शीर्ण, स्वादहीन अपने कर्मो पर सिर धुनता हुआ रो रहा था। अपने मित्र विरह और करुणा के साथ।

दृश्य अत्यन्त ही वीभत्स और दयनीय था। मै सिहर उठा।

पर विजय करके पाँचों इन्द्रियों पर विजय की जा सकती है और फिर क्रोधादि कषायो को भी जीता जा सकता है। उन्मार्ग मे जाते हुए मन को श्रुत रूपी रस्सी से साधा जा सकता है। "इन्द्रियों पर काबू किये बिना कषायों को जीतने के लिए कोई समर्थ नही हो सकता।"[१]

भोगवृत्ति पर विजय करने के लिए वैराग्य भावना परम सहायक है। मन यदि ससार की तन, धन एव परिवार की नश्वरता का विचार करे तो उसमे इन भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न होगी। यह विरक्ति भाव मानव मन को नया मोड देने मे समर्थ है। फिर अभ्यास तो सबसे बडा गुरु है। क्रमशः कुछ परिमाण करते हुए उपभोग परिभोग परिमाण के पूर्णव्रत को ग्रहण करने में कठिनाई नही होगी।

पदार्थो की ओर से मन को हटाकर मानव मन यह चितन करे कि जिन पदार्थों को प्राप्त करने में भी दुःख है, प्राप्त भोगों के संरक्षण में भी दुःख है और पदार्थों के वियोग मे भी दुःख है। पदार्थों की नश्वरता, उनकी जड़ता और आत्मा की अमरता, चेतनता के विचार से भेद विज्ञान के द्वारा भोगो से उपरति विकसित हो सकेगी। पदार्थों को केवल पदार्थ रूप में ही देखकर उनके प्रति कोई प्रतिक्रिया नही करने का अभ्यास त्यागवृत्ति को दृढ़ीभूत कर सकेगा। केवल ज्ञाताद्रष्टा बनकर कोई प्रतिक्रिया नही करने का अभ्यास निश्चित ही भोगो के प्रति आकर्षण को समाप्त कर सकेगा। ममत्व भाव के घटाने से समत्व भाव की वृद्धि होगी। संसार के सारे पदार्थ मिल जाये तब भी भोगों से तृप्ति संभव नही। यह तो संतोष और मर्यादा से ही संभव है। इन विचारों का पुनः-पुनः अभ्यास भोगवृत्ति के विजय योग्य आचार को मूर्त रूप दे सकेगा। योग साधना इसके हल मे अत्यंत सहायक हो सकती है। योग साधक इस पर विचार कर हल सुझावें।

वृत्तियो और विशेषतः भोगवृत्ति पर विजय के लिए मनोवैज्ञानिकों, शरीरवैज्ञानिकों, धर्म एव दर्शनवेत्ताओ के मिलेजुले प्रयास अपेक्षित है।

□□□

दूसरे क्षण मुँह में पानी आ गया। जिह्वा अधीर हो उठी। हाथ भी कुलबुलाने लगे। घ्राणेन्द्रिय अलग फुंकारे मार रही थी। दुर्बल मन बोला—सिर्फ चख कर देख लो। खाना मत। वापस यथास्थान रख देना।

पवित्र मन बोला—बानर, अब भी सम्भल जाओ। सिर्फ १० सैकण्ड की बात है। अब कोई गलत काम मत करो। मुक्ति तुम्हारे निकटी खड़ी है। कहना मान जाओ वरना पछताओगे।

दुर्बल मन ने पुनः बानर को पुचकारा। तुम भी कितने भोले हो बानर! पाचों इन्द्रियाँ भी उसका साथ दे रही थी। इस बार दुर्बल मन अपने पूरे लवाजमे के साथ आया था। उसके तरकस में सब तरह के तीर थे। समय समाप्त होने जा रहा था। यह उसका अन्तिम आक्रमण था। तीर निशाने पर बैठ रहे थे। मुक्ति कैसी होती है? किसने देखी है? मुक्ति की बाते कोरी कल्पना है। केले के स्वाद का स्वर्ग तो साक्षात् सामने है। प्रत्यक्ष को छोड कर परोक्ष के सहारे जीना मूर्खता है। ससार भोगने के लिये है। त्यागने के लिये नही।

इन्द्रियां विषय रस में पूर्णरूपेण डूब चुकी थी। भोग प्रकृति की प्रधान व्यवस्था है। सामग्रियाँ उपभोग की साधन मात्र है। भोगेच्छा प्रबल हो गई। बानर ने केला उठाकर खा लिया। समय की मर्यादा समाप्ति के साथ बानर की जीवन डोर भी टूट गई।

मानव परिस्थितियों के समक्ष स्वय को समर्पित करके जीवन को क्षीण बना लेता है। भोग और तृप्ति, तृप्ति और वैराग्य, वैराग्य और मुक्ति ये सब योग और तपस्या से मिलते है।

संयम आनन्द का पथ प्रशस्त करता है। योग अमरत्व देता है, भोग मृत्यु। जीव कर्माधीन है। प्राणो की सभी शक्तियां कर्म के समक्ष पंगु हो जाती है। अत मानव अपने जीवन में इन्द्रिय सयमन, नियमन और दमन के द्वारा निर्वाण प्राप्ति में आगे बढ़ सकता है।



परिग्रह-मल

जह कुण्डओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का, मोहमलं संगसत्तस्स॥

—भगवती आराधना ११२०

जैसे तुष सहित तंदुल का अन्तर्मल दूर नही किया जा सकता, उसी प्रकार परिग्रह सहित जीव का मोह रूपी मल दूर नही किया जा सकता।

पवित्र मन ने वानर को धिक्कारा। मन को कमजोर मत वनाओ। हिम्मत से काम लो। इन्द्रियों को वश मे रखो। सिर्फ ७-८ मिनट की ही वात है। वानर ने कहा—अच्छी वात है।

दूसरे ही क्षण दुर्बल मन सामने आ गया और वोला—भगवान् ने खाने के लिये मना किया है। देखने के लिये नही। वानर एक कदम आगे खिसक गया।

पवित्र मन ने पुनः धिक्कारा—भोग की अधीरता तुम्हारा सर्व नाश कर देगी। याद रखो तुम बा नर अर्थात् वाकायदा नर हो, बे कावू नर नही।

वानर ने पुनः अपना साहस वटोरा और निश्चय किया कि अब आगे नही वढूंगा।

दुर्बल मन ताल ठोक कर पुनः सामने आ खडा हुआ। उच्च स्वर से वोला—तुम भी कितने भोले हो वानर! भगवान् ने केला खाने के लिये मना किया है। सूंघने और हाथ लगा कर देखने के लिये नही। केले की सुगन्ध तुम्हारी नाक मे प्रवेश कर गई है। क्या तुमने नाक काट कर फैंक दी? श्रवणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय का तुमने क्या विगाड़ लिया। संसार के पदार्थ भोगने के लिये बने है। यह वात सुनते ही वानर पुन. एक कदम आगे खिसक गया। "दुर्बलता अविवेक की जननी है।" कहते हुए पवित्र मन ने पुनः उसे समझाया। वानर का मस्तक झुक गया।

एक क्षण वाद दुर्वल मन पुन वानर पर हावी हो गया। इस वार स्पर्श इन्द्रिय ने जोरदार हमला किया—वोली! क्या स्पर्श किये विना केले की पहिचान हो सकती है? केला कच्चा है, पका है या सडा गला है। स्पर्श करके देखने से ही तो पता चलेगा। स्पर्श करके वस्तु का ज्ञान करने मे क्या दोष हैं? खाने के लिये मना किया है, देखकर रख देना।

हाथ-पैर कुलबुलाने लगे। शरीर का रोम-रोम खड़ा हो गया। वानर ने सोचा—विना स्पर्श किये केले की पहचान कैसे हो सकती है? कहते हुए वानर एक कदम और खिसक गया।

वानर ज्वर से कराह रहा था। उधर भोगेच्छा भी वलवती होती जा रही थी। वानर एक कदम और आगे वढ गया। केला हाथ की पहुँच में आ चुका था। पका हुआ केला, पीला, गीला और सुगन्धी से भरपूर।

पवित्र मन ने पुन. फटकारा—अव तो मुक्ति पाने मे सिर्फ दो मिनट रह गये है। मुक्ति तुम्हारे सामने खडी है। कुछ क्षण और धीरज से काम लो। वानर ने कहा, ठीक है।

दूसरे क्षण मुँह मे पानी आ गया। जिह्वा अधीर हो उठी। हाथ भी कुलबुलाने लगे। घ्राणेन्द्रिय अलग फुंकारे मार रही थी। दुर्बल मन बोला—सिर्फ चख कर देख लो। खाना मत। वापस यथास्थान रख देना।

पवित्र मन बोला—बानर, अब भी सम्भल जाओ। सिर्फ १० सैकण्ड की बात है। अब कोई गलत काम मत करो। मुक्ति तुम्हारे निकटी खड़ी है। कहना मान जाओ वरना पछताओगे।

दुर्बल मन ने पुनः बानर को पुचकारा। तुम भी कितने भोले हो बानर! पाचो इन्द्रियाँ भी उसका साथ दे रही थी। इस बार दुर्बल मन अपने पूरे लवाजमे के साथ आया था। उसके तरकस में सब तरह के तीर थे। समय समाप्त होने जा रहा था। यह उसका अन्तिम आक्रमण था। तीर निशाने पर बैठ रहे थे। मुक्ति कैसी होती है? किसने देखी है? मुक्ति की बाते कोरी कल्पना है। केले के स्वाद का स्वर्ग तो साक्षात् सामने है। प्रत्यक्ष को छोड कर परोक्ष के सहारे जीना मूर्खता है। ससार भोगने के लिये है। त्यागने के लिये नही।

इन्द्रियां विषय रस मे पूर्णरूपेण डूब चुकी थी। भोग प्रकृति की प्रधान व्यवस्था है। सामग्रियाँ उपभोग की साधन मात्र है। भोगेच्छा प्रबल हो गई। बानर ने केला उठाकर खा लिया। समय की मर्यादा समाप्ति के साथ बानर की जीवन डोर भी टूट गई।

मानव परिस्थितियों के समक्ष स्वय को समर्पित करके जीवन को क्षीण बना लेता है। भोग और तृप्ति, तृप्ति और वैराग्य, वैराग्य और मुक्ति ये सब योग और तपस्या से मिलते है।

संयम आनन्द का पथ प्रशस्त करता है। योग अमरत्व देता है, भोग मृत्यु। जीव कर्माधीन है। प्राणों की सभी शक्तियां कर्म के समक्ष पगु हो जाती है। अतः मानव अपने जीवन में इन्द्रिय सयमन, नियमन और दमन के द्वारा निर्वाण प्राप्ति में आगे बढ सकता है।



परिग्रह-मल

जह कुण्डओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का, मोहमलं संगसत्तस्स॥

—भगवती आराधना ११२०

जैसे तुष सहित तंदुल का अन्तर्मल दूर नही किया जा सकता, उसी प्रकार परिग्रह सहित जीव का मोह रूपी मल दूर नही किया जा सकता।

३१

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत की महत्ता

□ पं० शोभाचन्द्र जैन

गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) का विधान

भारतीय संस्कृति वैदिक व श्रमण सस्कृति का समन्वय रूप है। वैदिक परम्परा प्रवृत्ति प्रधान तथा श्रमण-परम्परा निवृत्ति मार्ग (संन्यास मार्ग) प्रधान है। आगे चलकर उभय विचारधारा के सहज सान्निध्य ने परस्पर विचारधारा को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। गृहस्थ प्रवृत्ति विचारधारा को जहां वैदिक धर्म ने मुख्य रूप से ग्रहण किया वहाँ जैन परम्परा में भी गृहस्थ विचारधारा को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसी प्रकार निवृत्ति मार्ग से वैदिक संस्कृति भी प्रभान्वित हुई। चतुर्विध सघ की स्थापना व्यवस्था से श्रावक-श्राविका (गृहस्थ धर्म) को तीर्थ रूप स्थान मिला। तीर्थंकर, जैन परम्परा मे सर्वोच्च व्यक्ति हैं, महामानव है, वे भी अपनी देशना के प्रारम्भ मे "नमो तित्थस्स" तीर्थ को नमस्कार करते है। तीर्थ कहे, संघ कहे, एक ही वात है। श्रावक-श्राविका (गृहस्थ) धर्म भी तीर्थ मे समाविष्ट है।

श्रावक धर्म की महत्ता

'सूत्र कृतांग' सूत्र मे स्पष्ट रूप से निर्देश है कि गृहस्थ धर्म का स्थान भी आर्य है तथा समस्त दु.खों का अन्त करने वाला मोक्षमार्ग है। यही नही 'उत्तराध्ययन' सूत्र में यहाँ तक कह दिया है 'सति एगेहि भिक्खुहि गारत्था संजयोत्तरा' अर्थात् कुछ गृहस्थ ऐसे भी हैं जो श्रमणो की अपेक्षा संयम के पालन में श्रेष्ठ होते है। यह वह समय था जव गृहस्थ केवल उपासक मात्र ही नही, वह श्रमण साधको के चारित्र का सहायक था। उसे यह भी अधिकार प्राप्त था कि यदि कोई मुनि या आर्यिका श्रमण धर्म का सम्यक् रूप से पालन नही करता है तो उसको पृथक् भी कर देता था। उसकी आध्यात्म साधना का स्तर भी उच्च था।

श्रावक के बारह व्रत

श्रावक के वारह व्रतो में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत हैं। आगम द्वारा प्रतिपादित यह श्रावकाचार इस लोक और परलोक दोनों दृष्टियों से कल्याणकारी है। इसके व्यवहार से ऐहिक और आगामी जीवन दोनो ही श्रेष्ठ वन सकते है। श्रावक के वारह व्रत है—(१) अहिंसा अणुव्रत

(२) सत्य अणुव्रत (३) अचौर्य-अणुव्रत (४) स्वपत्नी संतोष व्रत (५) परिग्रह परिमाण व्रत (६) दिक् परिमाण व्रत (७) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत (८) अनर्थ दण्ड विरमण व्रत (९) सामायिक व्रत (१०) देशावकासिक व्रत (११) पौषधोपवास व्रत (१२) अतिथि संविभाग व्रत।

उपर्युक्त बारह व्रत एक अच्छे नागरिक की आचार संहिता हैं। इनके अतिचारों (दोषों) का गहन चिन्तन किया जाय तो कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन सुखी बन सकता है। समाज में व्याप्त अनैतिकता, तस्करी, मांसाहार, मद्यपान, विलासिता तथा संग्रह वृत्ति को दूर करने के लिये बारह व्रतो के प्रचार की उपादेयता आज अधिक बढ़ गयी है। मै सोचता हूँ इसके चिन्तन व पालन से समाज नयी करवट ले सकेगा।

बारह व्रतों में गुणव्रतों का स्थान

जो व्यक्ति महाव्रत स्वीकार नही कर सकते है, उनके लिये शास्त्रों में पाँच अणुव्रतो का विधान है। पर अणुव्रतों के पालन करने में भी ऐसी अनेक बाधाएँ उपस्थित होती है। जिनके कारण कठिनाइयाँ आती हैं। उनसे वचने के लिये तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का विधान किया है। तीन गुणव्रत, अणुव्रत-पालन में शक्ति संचार के साथ उन्हें निर्मल रखने में भी सहायता प्रदान करते है। जिस तरह शरीर तब ही उपयोगी व सार्थक है जब तक उसमें प्राण है, उसी तरह गुणव्रत होने पर ही मूल अणुव्रत उपयोगी व कार्य साधक हो सकते है। दिक् परिमाण व्रत अंगीकार करने वाले को वृत्ति-संकोच और ममत्व का त्याग करना पड़ता है। जहाँ दिक्व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर के पदार्थो के भोग की निवृत्ति होती है वहाँ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत मे मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थो के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है। वस्तुतः इस व्रत द्वारा साधक के जीवन को सात्विक और सादा बनाने का प्रयास किया गया है तथा अनर्थदण्ड परित्याग व्रत मर्यादित छूट मे भी निष्प्रयोजन किये जाने वाले पाप कर्मो से उपासक को बचाता है। इस प्रकार से ये एक-दूसरे के पूरक है व मूल अणुव्रतों को पुष्ट व शुद्ध बनाते है।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत विवेचन

श्रावक के बारह व्रतों में ७वाँ व्रत उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। यह व्रत दिक्व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए उपभोग-परिभोग की मर्यादा बाँधता है। जीवन-निर्वाह के लिये पदार्थो का उपभोग-परिभोग आवश्यक है। उपभोग पदार्थ वे है जो एक बार काम में लाने पर दूसरे समय पुनः उपभोग नही किये जा सकते। उपभोग के टीकाकार ने इस प्रकार व्याख्या की है— "उपभोगः सकृद्भोगः स चासनपानुलेपनादिनाम्" अर्थात् जो एक बार भोगा

जाने पर पुनः न भोगा जा सके। जैसे एक बार जो भोजन दाल, रोटी हमने खा ली है उसे पुनः खाया नहीं जा सकता। इस प्रकार की वस्तुएँ उपभोग के अन्तर्गत आती है। इसके विरुद्ध जो वस्तु एकबार से अधिक बार यानि पुनः-पुनः काम मे लायी जा सकें वे वस्तुएँ परिभोग पदार्थों के अन्तर्गत आती है। दूसरे शब्दों में जो वस्तु शरीर के आतरिक भाग से भोगी जा सकती है, उसको भोगना उपभोग और जो शरीर के वाहरी भोगों से भोगी जा सकती है, उस वस्तु को भोगना परिभोग है।

इस प्रकार उपभोग्य और परिभोग्य वस्तुओं के विषय में मर्यादा करना ही उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य है। अशन, पान, खाद्य और स्वा वे वस्तुएँ जो शरीर रक्षा व क्षुधा मिटाने के लिये आवश्यक है वे अशन के अन्त गंत है। जो वस्तुएँ पेय है अर्थात् पीने योग्य है वे 'पान' हैं। वे वस्तुएँ जो उप भोजन (नाश्ता) के रूप मे खायी जाती है उनकी गणना खाद्य मे की जाती है जो पदार्थ केवल स्वाद के लिये या मुख शुद्धि के लिये खाये जाते है उनकी गणन स्वाद्य मे है। सारांश यह है कि श्रावक को सात्विक आहार ग्रहण करना चाहिये राजस-तामस आहार उसके लिए त्याज्य है। सातवां व्रत अंगीकार करने वा व्यक्ति के लिये खान-पान की मर्यादा आवश्यक है, इसी तरह परिभोग मे आ वाली वस्तुओ की भी मर्यादा अनिवार्य है। इस व्रत द्वारा गृहस्थ अपने दैनि जीवन मे उपयोग आने वाली प्रत्येक वस्तु की सख्या, मात्रा आदि निर्धारि करता है। उपभोग और परिभोग मे आने वाली वस्तुओ को ग्रंथकारों ने २ बोलो मे संगृहीत किया है वे निम्न है—

(१) उल्लणिया विहि परिमाण—हाथ-मुँह पोंछने के लिये रुमाल, टुवाल आदि की मर्यादा।

(२) दन्तणविहि परिमाण—दन्त धावन सम्बन्धित पदार्थों की मर्यादा।

(३) फलविहि परिमाण—मस्तक को स्वच्छ करने के लिये आंवला, त्रिफला आदि फल की मर्यादा।

(४) अभ्यगणविहि परिमाण—त्वचा सम्बन्धी विकारो को दूर करने के लिये तैलादि द्रव्यों की मर्यादा।

(५) उवट्टणविहि परिमाण—शरीर मे स्फूर्ति और मैल हटाने के लिए उवटन के सम्बन्ध में मर्यादा करना।

(६) मज्झणविहि परिमाण—स्नान विधि का परिमाण अर्थात् स्नान की मर्यादा या स्नान के लिये जल परिमाण करना।

(७) वत्थविहि परिमाण—वस्त्र-मर्यादा।

(८) विलेपणविहि परिमाण—वस्त्र परिधान बाद शरीर को शीतल तथा सुशोभित करने वाले चंदन, केसर, कुंकुम आदि की मर्यादा।

(९) पुष्फविहि परिमाण—पुष्पों की मर्यादा।

(१०) आभरणविहि परिमाण—शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषणों की मर्यादा।

(११) धूपविहि परिमाण—वायु शुद्धि के लिये धूपादि की मर्यादा।

(१२) पेज्जविहि परिमाण—पेय पदार्थ–जिनसे अजीर्णादि विकार मिट कर क्षुधा आदि की वृद्धि होती है, उनकी मर्यादा।

(१३) भक्खणविहि परिमाण—नाश्ते के रूप मे खाये जाने वाले पदार्थो की मर्यादा।

(१४) ओदणविहि परिमाण—अग्नि द्वारा उबाल कर खाये जाने वाले पदार्थो जैसे चावल, थूली आदि की मर्यादा।

(१५) सुप्पविहि परिमाण—दाल आदि की मर्यादा।

(१६) विगयविहि परिमाण—विगय वे पदार्थ है जो भोजन को स्वादिष्ट एव पौष्टिक बनाते है, जैसे दूध-दही, घृत, तेल, गुड़, शक्कर की मर्यादा। (मधु और मक्खन विशेष विगय है, मद्य और मॉस महा विगय है जो सर्वथा त्याज्य है।)

(१७) सागविहि परिमाण—सूखे या हरे शाक की मर्यादा।

(१८) माहुरविहि परिमाण—मधुर फल, आम, जामुन इसी प्रकार सूखे फल द्राक्षा-बादाम आदि की मर्यादा।

(१९) जिमणविहि परिमाण—क्षुधा निवारणार्थ खाये जाने वाले पदार्थ जैसे रोटी बाटी, पूड़ी आदि की मर्यादा।

(२०) पाणीविहि परिमाण—पानी की मर्यादा।

(२१) मुखवासविहि परिमाण—मुख शुद्धि के लिये खाये जाने वाले पदार्थो की मर्यादा।

(२२) उवाहणविहि परिमाण—उपानह अर्थात् जूते, खड़ाऊ, चप्पल की मर्यादा।

(२३) वाहणविहि परिमाण—वे साधन जिन पर चढ़ कर भ्रमण या प्रवास किया जाता है जैसे हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैलगाड़ी, टैम्पो, टैक्सी, कार आदि की मर्यादा।

(२४) सयणविहि परिमाण—सोने-बैठने के काम में आने वाली वस्तुओ की मर्यादा। जैसे—पलग, खाट, आसन-मेज-कुर्सी आदि।

(२५) सचित्तविहि परिमाण—सचित्त यानि जीव सहित पदार्थो की मर्यादा।

(२६) दव्वविहि परिमाण—इस बोल द्वारा उपर्युक्त जिन पदार्थो की मर्यादा की है, उन पदार्थो को द्रव्य रूप में सग्रह कर उनकी मर्यादा (जो वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिये अलग से प्रयोग मे की जाती है वह भिन्न द्रव्य है)।

उल्लिखित २६ बोल मे से प्रथम ११ बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ व सुशोभित बनाने वाले पदार्थो से सम्बन्धित है। मध्य के १० बोल खान-पान में आने वाले पदार्थो से सम्बन्धित हैं। शेष अन्त के ५ बोल शरीर-रक्षा और गृहस्थाश्रम को प्रतिष्ठित करने वाले है।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत दो प्रकार का है—भोजन सम्बन्धी और कर्म सम्बन्धी। शास्त्रकारो का कथन है कि 'उपभोग परिणाम वए दुविहे पन्नते, तजहा भोयणाओ य कम्मओय'। प्रथम भोजन परिमाण व्रत के पाँच अतिचार है—

(१) सचित्ताहारे—इसका अर्थ है सचित्त पदार्थ का आहार। जिस आहार मे जीव विद्यमान है, उसे सचित्त कहते है—जैसे धान, बीज, जल, वनस्पति आदि। ऐसी वस्तुओ की मर्यादा होने पर भी भूल से खाना अतिचार है।

(२) सचित्त पडिवद्धाहारे—अर्थात् वस्तु तो अचित्त है पर उस अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु सम्बन्धित कर खाना सचित्ताहार है। जैसे हरे पत्तों के द्रोण में दूध, मिठाई आदि का सेवन करना।

(३) अप्पोलिओसहिभक्खणया—यानि जो वस्तु पूर्ण पक्व नही है तथा जिसे कच्ची भी नही कह सकते, ऐसी वस्तु खाना। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी ऐसी वस्तुएँ जो पूरी तरह न पकी है, लाभ की अपेक्षा हानिदायक होती है।

(४) दुप्पोलिओसहिभक्खणया—ऐसी वस्तु जो पकी हुई तो है परन्तु वहुत अधिक पक गयी है पक कर विगड़ गयी है या जिसे पकाने की रीति घृणित है, ऐसी वस्तु का भक्षण करना इस अतिचार के अन्तर्गत है।

(५) तुच्छोसहिभक्खणया—अर्थात् तुच्छ औषध से तात्पर्य उन वस्तुओं मे है जिनमें क्षुधा निवारक मात्रा भाग कम होता है तथा व्यर्थ या फेंकने का भाग अधिक होता है।

कर्मादान अतिचार

सातवें व्रत के कर्म सम्बन्धी १५ अतिचार है जिन्हें कर्मादान के अतिचार कहा जाता है। श्रावक के लिये इन साधनों (कर्मों) द्वारा आजीविकोपार्जन करने का निषेध किया गया है। आजीविका का प्रभाव उपभोग-परिभोग पर पड़े बिना नही रह सकता। इनमें से कुछ कर्मादान ऐसे भी है जो संसार में निन्दनीय माने जाते है तथा जिनके कारण जीवो की अत्यन्त विराधना होती है। कर्मादान पन्द्रह है जो निम्न हैं—

(१) इगालकम्मे—यानि अंगार कर्म—कोयले बनाकर बेचना तथा इससे अपनी आजीविका चलाना।

(२) वणकम्मे यानि वन कर्म—जंगल के वृक्षों व बॉस आदि काट-काट कर तथा बेचकर आजीविका चलाना।

(३) साड़ीकम्मे यानि साटिककर्म—बैलगाड़ी-घोड़ागाड़ी आदि वाहन बना कर बेचना।

(४) भाड़ीकम्मे यानि भाड़ी कर्म—पशुओ को किराये पर देकर आजी-विका करना।

(५) फोड़ीकम्मे यानि फोड़ी कर्म—कुदाली हल, सुरंग आदि से पृथ्वी का विदारण करना और उससे निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु आदि खनिज पदार्थ को बेचना।

(६) दन्त वाणिज्जे—दॉत का व्यापार करना।

(७) लक्खवाणिज्जे—लाख वृक्षो का रस है, उसमे त्रस जीवों की अधिक हिसा होती है और लाभ अधिक नही होता।

(८) रसवाणिज्जे यानि रस का व्यापार—यहाँ रस से मतलब मदिरा ही है। गुड़, शक्कर, तेल, घृत, दूध और दही आदि का व्यापार रस वाणिज्य के अन्तर्गत नहीं आता। शास्त्र में रस वाणिज्य से सुरा आदि निषिद्ध वस्तुओं को ही लिया गया है।

(९) विष वाणिज्जे यानि विप का व्यापार—जीवन नाशक अफीम, संखिया आदि पदार्थो की गणना इसके अन्तर्गत आती है।

(१०) केसवाणिज्जे यानि केश व्यापार—दासियो के क्रय-विक्रय से सम्वन्धित है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे कन्या विक्रय, दहेज प्रथा इसी के अन्तर्गत है।

(११) जंतपीलणया कम्मे यानि यंत्र द्वारा पीलने का कार्य—यह कर्म महा आरम्भी है—ऐसे कार्य से अनेक त्रस जीवों की हिसा होती है।

(१२) निलंछण कम्मे—यानि पशुओं को नपुंसक बनाकर आजीविका चलाना।

(१३) दवग्गीदावणया कम्मे यानि वन दहन करना—दहन क्रिया द्वारा भूमि को स्वच्छ करने की प्रक्रिया द्वारा जीविका चलाना।

(१४) सरदहतलाय सोसणया कम्मे—यानि तालाब, नदी आदि के जल सुखा कर भूमि को कृषि योग्य बनाने का धंधा करना।

(१५) असईजण पोसणिया कम्मे—कुल्टा स्त्रियों का पोषण करना तथा व्यभिचार कराकर द्रव्य प्राप्त कर आजीविका चलाना।

ऊपर लिखित दस कर्म और पाँच वाणिज्य ये पन्द्रह कर्मादान श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। ये व्यवसाय जनता को प्राकृतिक लाभ से वंचित रखने वाले भी है। आज के परिप्रेक्ष्य मे उनके पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। आज भी प्रथम दो कर्म के कारण वृक्ष कटते जा रहे है—प्रदूषण बढ रहा है। वृक्षो के अभाव मे स्वास्थ्यवर्द्धक वायु (आक्सीजन) की कमी हो रही है। वृक्षारोपण आज की अनिवार्य आवश्यकता हो गयी है। फोड़ी कम्मे के अन्तर्गत खेती के लिए भूमि तैयार करना अभीष्ट नही। शास्त्रकारों ने कृषि कर्म को फोड़ी कर्म माना होता तो आनन्द को श्रावक पद से प्रशसित नही करते। रस वाणिज्य का रोग भी बढ़ रहा है। मदिरा पान या उसके व्यवसाय से कौटुम्बिक व राष्ट्रीय चरित्र का ह्रास हो रहा है। केश-वाणिज्जे का अर्थ भी नये सन्दर्भ मे करना होगा—दहेज प्रथा का भीषण रूप हमारे सामने है। समाज के अनेक युवक-युवतियों का इस दुष्प्रथा के कारण शोषण हो रहा है। जंतपीलणया कम्मे-यह व्यवसाय आज मुख्य हो गया है- पर सच तो यह है कि यंत्रवाद के प्रभाव से लोगों का जीवन परावलम्वी होता जा रहा है। अल्पारंभी कुटीर उद्योग नष्ट हो रहे हैं। राष्ट्र का चारित्रिक पतन व स्वास्थ्य का भी नाश हो रहा है। भोपाल की गैस त्रासदी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

साराश यही कि पन्द्रह कर्मादान का त्याग मूल व्रतों में गुण उत्पन्न करने वाला तथा चित्त में समाधि स्थापित करने वाला है, अत: ये श्रावक के लिए त्याज्य हैं।

श्रावक का उत्तरदायित्व

वर्तमान में हमने यही समझ लिया है कि धर्म, संस्कृति-रक्षण तथा आध्यात्मिक साधना श्रमण वर्ग का ही कार्य है। श्रावक वर्ग ने अपने कर्तव्यों और उसके लिए निर्धारित आचारवृत्ति को सर्वथा विस्मृत कर दिया है। हम आचार साधु समाज में ही देखना चाहते है। श्रावक-श्राविका के चारित्र का

कोई मापदण्ड नही रहा है। श्रमण वर्ग के शिथिलाचार का उत्तरदायित्व भी श्रावक वर्ग का ही है। आज हमें न श्रमण जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों का बोध है और न अपने कर्तव्यों का। श्रावक जीवन की शुद्धि की प्राथमिक भूमिका सप्तव्यसनो की पृथकता है। आज दुर्व्यसन समाज मे बढते जा रहे है—जिसके कारण वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक जीवन निःशेष होता जा रहा है। नये सिरे से वर्तमान देशकाल को देखते हुए श्रावक की आचार संहिता बनानी होगी, जिससे श्रावक की पहचान हो सके।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत की उपर्युक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थो (श्रावकों) के लिये व्रत प्रतिपादित आचार-नियम वर्तमान सामाजिक, राष्ट्रीय सन्दर्भ में अत्यन्त उपयोगी है। ये आचार युगानुकूल देश-काल के परिप्रेक्ष्य में नये अर्थो में परिवर्तन की अपेक्षा रखते है। आज पुनः श्रावक की आचार विधि पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिये, तब ही पुनः प्राचीन प्रतिष्ठा उपार्जित कर सकेंगे तथा जीवन में शान्ति का अनुभव कर सकेंगे।



निःस्वार्थता का फल

फारस देश का बादशाह नोशेरवां अपनी न्यायप्रियता के लिए विख्यात् था। एक बार वह जंगल में शिकार करके लौट रहा था। रास्ते में उसने देखा कि एक बूढा-सा व्यक्ति सड़क के किनारे अखरोट का एक छोटा-सा पौधा लगा रहा है।

बादशाह ने घोडे से उतर कर कहा—"जानते हो यह पौधा वृक्ष का रूप धारण करेगा और इसमे अखरोट लगने मे कई वर्ष लगेंगे। तब तक तुम शायद ही जीवित रह पाओगे। तव तुम क्यो मेहनत कर रहे हो?"

विनम्रता से वह वृद्ध बोला—"राजन्! मै अब तक दूसरों के लगाये वृक्षों के बहुत फल खा चुका हूँ, इसलिये मेरा भी कर्तव्य बनता है कि मुझे भी दूसरों के लिये पेड़ लगाने चाहिये। अपने फल खाने की आशा से ही पेड़ लगाना तो स्वार्थ है।"

बादशाह उसका जवाव सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे दरवार में सलाहकार के पद पर नियुक्त कर दिया।

—मनोज आंचलिया

३२

जैन आगमों में अपरिग्रह-विचारणा

☐ श्री केवलमल लोढा

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने 'दशवैकालिक सूत्र' अ. ६, गा. ११ में प्ररूपणा की है कि 'सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'—सभी जीव जीना चाहते हैं न कि मरना। यहाँ कौन से जीवन की अपेक्षा है तो प्रभु ने 'आचारांग सूत्र' १-श्रु, २-अ, ३-उ में फरमाया कि—'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्ख पडिकूला'—समस्त प्राणी दुःख के प्रतिकूल सुख की अभिलाषा करते है। उस सुखमय जीवन हेतु मनुष्य प्रायः मनोनुकूल विषयो में निरन्तर गतिशील रहते हैं, परन्तु उन विषयों मे सुख अल्प और बहुधा दुःख ही प्रतिफलित होता है। ऐसा क्यो ? क्या अपनाया हुआ मार्ग वास्तविक सुख का कारण न होकर, दुःख का मूलभूत हेतु है ? इसका विश्लेषण करते हुए देवाधिदेव ने तथ्य को प्रगट किया कि मनोवांछित विषय आश्रव रूप होने से दुःखजन्य है। इस आश्रव व उसके प्रतिपक्षी सवर का विशद् विवेचन दसवे अंग 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' मे गुम्फित है।

आश्रव व सवर की परिभाषा ग्रन्थकारो ने यह की है कि आश्रव 'आसमन्तात श्रवन्ति प्रविशन्ति कर्माणि येन सः आश्रव' अर्थात् जिन कारणों से आत्मा मे कर्म चारों ओर से प्रविष्ट होते है वह आश्रव है। 'सन्नियन्ते निरूध्यन्ते कर्म कारणानि येन भावेन स सवर.।' यानि आत्मा मे जिन कारणों से प्रविष्ट होते हुए कर्म रुक जावे, वह संवर है। आश्रव नवीन कर्मो का प्रवाह, ससार का हेतु है और संवर मोक्ष का यानि ससार क्षय करके अव्याबाध सुख की प्राप्ति।

हिंसा, असत्य, चौर्य, अबंभ (मैथुन) और परिग्रह ये पाँच मुख्य आश्रव के भेद है और इनके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच सवर है। सामान्यतया पाँचो ही सवर आत्मगुणो के वृद्धिकरण, उपयोगी, आनंददायक और अन्ततोगत्वा मोक्ष फल के दायक है; परन्तु यहाँ अपरिग्रह का कथन करना इष्ट है। अतः इसका विवेचन किया जा रहा है।

पाँचों संवरो मे मूल भूमिका रूप अपरिग्रह है क्योकि अपरिग्रह अहिंसा का पोषक है। लोभ विना द्वेष नही होता और द्वेष ही हिंसा का जनक है। अतः फलित हुआ कि लोभ के अभाव मे हिंसा नही पनपती। यानि हिंसा का नीव रूप सृजक लोभ ही है। लोभ या लालचवश मनुष्य धन के अर्जन, सग्रह,

सरक्षण में झूठ बोलता है, चोरी करता है और परिग्रह के मद में व्यभिचार करने में भी नही हिचकता। निर्लोभी क्यों झूठ बोलेगा, क्यों चोरी करेगा और वह व्यभिचारी भी क्यों होगा? इन दोनों का ३६ का अंक—अर्थात् जहाँ प्रकाश है वहाँ ये अँधेरे रूप अवगुण नही रह सकते। इसलिये अहिसा, सत्य, अचौर्य की जड **अपरिग्रह** है। और 'आचारांग सूत्र' अ. ५, उ. २, सूत्र १५५ में कहा है कि जो परिग्रह से विरत है उसमें ब्रह्मचर्य होता है। अर्थात् अपरिग्रही ब्रह्मचारी है।

अपरिग्रह को समझने के लिये परिग्रह का ज्ञान पहले होना आवश्यक है। आगमकारों ने परिग्रह की व्याख्या करते हुए कहा है—'परिगृह्यते आदीयतऽस्मादिति परिग्रहः। मूर्छाभावेन ममेति बुद्धया गृह्यते इति परिग्रहः।' किसी वस्तु का समस्त रूप से ग्रहण करना अथवा ममत्व बुद्धि से, मेरेपन की बुद्धि से मूर्च्छावश जिसे ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। परिग्रह द्रव्य से ९ प्रकार का—क्षेत्र, वत्थु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुविय (घर बिखरी का सामान) और भाव से १४ प्रकार का है—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। 'दशवैकालिक' अ. ४ व आचारांग (श्रु. १, अ. ५, उ. २) मे परिग्रह ६ प्रकार का बतलाया है। से अपं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूल वा, चितमत वा अचितवंत वा एतेसु चेव परिग्रहावंती। परन्तु भगवती सूत्र श. १८, उ. ७ में परिग्रह के तीन-तीन भेद भी किये है। १. कम्मपरिग्गहे, २. सरीर परिग्गहे, ३. बाहिर भंडमतोवगरण परिग्रहे उपधि ममत्व बुद्धया परिग्रहमाणस्तु परिग्रह। सचित्त, अचित्त, सीसाए। इस सूत्र मे यह भी स्पष्ट किया है कि भवनपति से वैमानिक देव, चक्रवर्ती, वासुदेव, राजा, सेठ, साहूकार आदि मनुष्य, तिर्यच और नारकी सभी परिग्रही है। पन्नवणाजी सूत्र पद ८ में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार सज्ञाओ की चारों गति के जीवो के अल्पबहुत्व में बतलाया है कि इन चारो सज्ञाओ में परिग्रह संज्ञा सबसे कम तिर्यचों मे, नारकी में आहार और मैथुन से परिग्रह सज्ञा वाले अधिक, मनुष्य में भय और आहार संज्ञा से परिग्रह संज्ञा वाले ज्यादा और देवगति में तीनो सज्ञाओं से परिग्रह संज्ञा वाले संख्यात गुणा अधिक है। इससे प्रमाणित होता है कि समस्त संसारी जीव लोभ रूपी पिशाच से ग्रसित है और यही प्रमुख कारण है कि लोभ को 'पाप का बाप' की संज्ञा दी गई है। धन का आकांक्षी जीव हिसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि किसी भी पाप-कुकर्म करने से नही डरता। परिग्रह मे हस्ती के पैर की तरह समस्त पाप समाये हुए है। यह मोक्ष के लिये वाधक अर्गला रूप प्रतिबंधक है।

राग-द्वेष रूपी आत्म परिणाम भाव परिग्रह है और उनसे जो पुद्गलों का संचय होता है वह द्रव्य परिग्रह है। आत्मा का शुद्ध परिणाम भाव संवर है जो आते हुए कर्मो का निरूंधक है। भाव संवर मे अपरिग्रह मुख्य है जिसकी

व्याख्या आगमकारों ने यह की है—"न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रह यस्य स यथा। प्रत्याख्यात परिग्रहे साधौ।" अभिधान राजेन्द्र कोष, प्रथम भाग।

न विद्यते परिसमन्तात सुखार्थ गृह्यति इति परिग्रह। यस्या साव-परिग्रह—जिसने किसी भी प्रकार का पदार्थ शारीरिक सुख हेतु ग्रहण नही किया है। उसे अपरिग्रह कहते है। ऐसे सम्पूर्ण रूप से अपरिग्रही विश्व मे पंच महाव्रतधारी श्रमण निर्ग्रन्थ ही है। 'आवश्यक सूत्र' में यह उनका पाँचवां महाव्रत है।

श्रमण निर्ग्रन्थ तीन करण तीन योग से समस्त प्रकार के परिग्रह के त्यागी है। फिर भी वे अपने शरीर के निर्वाह के लिए शीत, गर्मी की रक्षा व धार्मिक क्रिया करने हेतु वस्त्र, पात्र, धार्मिक उपकरण आदि रखते ही है। क्या यह परिग्रह नही है ? इसके समाधान मे स्वयं चरम तीर्थंकर ने 'दशवैकालिक' सूत्र अ. ६, गाथा २१ में प्ररूपणा की है—

ण सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा।
"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" इह वुत्त महेसिणो ॥

छः कायो के रक्षक, ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने अनासक्ति भाव से वस्त्र, पात्र आदि रखने को परिग्रह नही कहा है, किन्तु मूर्छाभाव को ही (वस्तु पर आसक्ति रखने को) परिग्रह कहा है। इसी अध्ययन की १९वी गाथा मे प्रभु ने चेतावनी दी है कि पदार्थ का सग्रह करना तो दूर, सिर्फ सग्रह की इच्छा (मानसिक संकल्प) करने वाला साधु, साधु नही वरन् गृहस्थ है—

लोहस्सेस अणुप्फासो, मण्णे अण्णयरामवि।
जे सिया संणिहिकामे, गिही पव्वाइए ण से ॥

अनेक आगम शास्त्रों में अपरिग्रह सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध है परन्तु उसका सांगोपांग विवेचन 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में ही है। इसके पचम अपरिग्रह सवर द्वार मे निम्न बिन्दुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है—

(१) अन्तरंग परिग्रह से विरति।

(२) अपरिग्रह का महत्त्व व स्वरूप।

(३) अपरिग्रह की पहिचान।

(४) अपरिग्रह व्रत को पुष्ट करने वाली पाँच भावनाएँ।

श्रमण निर्ग्रन्थ समस्त बाह्य परिग्रह का त्याग कर अकिंचन भिक्षु होता है, फिर भी उसके मन मे व्यक्त वस्तुओं पर ममता मोह रूप अन्तरग परिणाम होवे और दोषों से जागरूक हेतु इस संवर द्वार मे ३३ बोलो की प्ररूपणा की

गई है जैसे एक प्रकार का असंयम, दो भेद राग, द्वेष, इस तरह से एक २ बोल की वृद्धि करते हुए तैंतीसवें बोल में तैंतीस प्रकार की आशातना टालने का निर्देश है। हेय, ज्ञेय, उपादेय रूप इन बोलों की आराधना करने से अपरिग्रही साधक अपनी मंजिल की ओर निर्विघ्नता से प्रगति करता है।

अपरिग्रह की महिमा और स्वरूप का कथन आगमकारों ने श्रेष्ठ वृक्ष की उपमा द्वारा किया है।

महावीर स्वामी के श्रेष्ठ वचनों से प्ररूपित परिग्रह-निवृत्ति ही उसका विस्तार है और सम्यक्त्व ही उस वृक्ष की मूल है। धृति (धैर्य) ही उसका स्कंध और विनय-नम्रता उसकी वेदिका (थला) है। अपरिग्रह का तीन लोक में विस्तृत यश इसका तना है और पाँच महाव्रत रूप इसकी विशाल शाखायें हैं। अनित्य आदि बारह भावनाये अपरिग्रह वृक्ष की त्वचा (छाल) और शुभध्यान, प्रशस्त योग और ज्ञानरूप पत्ते और अंकुर से यह वृक्ष शोभित है। निर्लोभ आदि गुण रूप फूलों से यह वृक्ष अलंकृत है और शील ही उसका सौरभ है। अनाश्रव नवीन कर्मो का अग्रहण ही उसका फल है। इस अपरिग्रह का बीज मोक्ष का बोधि बीज रूप है और यही उसकी मिना सार रूप है। इस उपमा के अन्त में शास्त्र-कार बतलाते है कि मेरू पर्वत के शिखर के चोटी के समान यह मोक्ष जाने के लिए निर्लोभता श्रेष्ठ मार्ग का शिखर रूप है, यानि अपरिग्रह मोक्ष के मार्गो में सबसे श्रेष्ठ है।

अपरिग्रही के लिए बहुमूल्य, अल्पमूल्य वस्तुओं का संग्रह न करना, सचित्त पदार्थ त्याज्य है और प्रासुक एषणीय पदार्थ ही ग्राह्य है। व कौन कौनसे दोष टालना, वस्त्र, पात्र आदि कितने रखने का कल्प है। इन सब प्रवृत्तियों के विधि-निषेध रूप आचरण आगम पाठ 'जत्थ न कप्पइ······ भायणभंडोगहि उवगरण' में दृष्टव्य है।

अपरिग्रही साधक की पहिचान उसके समता, क्षमा, सरलता, मृदुता, सत्य आदि गुणों और तदरूप आचरण से प्रतिबिम्बित होती है, जिसका विस्तृत विशद वर्णन मूल पाठ 'एवं से संजते विमुते एगे चरेज धम्मं' में निहित है। उसकी कुछ झांकी यहाँ प्रस्तुत है।

१. निम्ममे, निन्नेह बंधणे — परिग्रह से अममत्व भाव और स्नेह बंधन से रहित।

२. वासी चंदण समाण कप्पे — अपकारी और उपकारी पर समान दृष्टि रखने वाला।

३. समे य माणवमाणणाए — मान-अपमान में समभावी।

है, किन्तु जो अप्राप्त है, पर उनके लिए मन मे लालसा हो तो वे भी परिग्रह हैं, यानी जिनकी कामना की जा रही है वे अप्राप्त वस्तुएँ भी परिग्रह हैं।"[1]

वर्तमान की भौतिकवादी एवं असंतुलित विचारधारा में अपरिग्रह की विचारधारा ही मानव के लिए सम्वल वन सकती है। अपरिग्रह भावना ही मानव अस्तित्व को सर्वनाश से वचा सकती है।

'श्रीमद् भगवद् गीता' मे आसक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। 'गीता' इस तथ्य पर जोर देती है कि चाहे संग्रह करो, किन्तु उस संग्रह की वस्तु में आसक्ति न हो। यह तथ्य मानव मनोविज्ञान के विपरीत है, क्योकि संग्रह करना ही प्रवृत्ति के अन्तर्गत है। यद्यपि 'गीता' में अर्जुन द्वारा वोले गये कई संवाद अपरिग्रह की विश्लेषणात्मकता को प्रकट करते हैं फिर भी अपरिग्रह का क्षेत्र इतना व्यापक है कि मनुष्य का अस्तित्व और उसका सार दोनों ही एक ही शब्द में व्याप्त है।

वौद्ध धर्म ने अपना नीति शास्त्र, चार आर्य सत्यों पर ही आधारित किया है। गौतम वुद्ध की दृष्टि में दुःख, दुःख का कारण, दुःख निरोध और दुःख दूर करने के उपाय ही मानव को अपरिग्रही वना सकते है जीवन की हर तृष्णा संसार के जीवों को वाधे रखती है किन्तु, तृष्णा पर विजय पाना ही मानवीय दु.खो से, चाहे भौतिक दु ख हों, आधिभौतिक हों अथवा आध्यात्मिक दुःख हों, मुक्त होना है। यहाँ हम एक वात कहना चाहेंगे कि मानवीय जीवन मे दुःख सवसे वड़ा शिक्षक है। दु.ख ही वह सोपान है जिसके द्वारा सुख तक पहुँच कर, दु.ख रूपी सोपान को गिरा दिया जाना चाहिए। समय की मांग है कि हम मानवीय अस्तित्व को अपरिग्रह के संदर्भ में देखे और मानवीय जीवन के उच्च मूल्यो को स्थापित करने मे सहायक हों।

मसीही धर्म में अपरिग्रह सिद्धान्त की विवेचना का भी अपना महत्त्व है क्योंकि यीशु मसीह का जीवन स्वयं में एक अपरिग्रही का जीवन था और इस कारण उन्होने अपने प्रवचनो में कई स्थानों पर परिग्रही होने की निन्दा की है और अपने जीवन के द्वारा यह वताने का यत्न किया है कि अपरिग्रह ही वह मार्ग है जो आत्मोन्नति मे सहायक वनता है। उनके अपरिग्रही होने का सबसे वड़ा प्रमाण उनके ही शब्दो मे दिखाई पड़ता है जब कि एक शास्त्री ने उनसे कहा था, 'हे गुरु, जहाँ कही तू जायेगा, मैं तेरे पीछे हो लूंगा।' तव यीशु मसीह ने उत्तर में कहा था, "लोमड़ियों के भट और आकाश के पक्षियों के वसेरे होते हैं, परन्तु मनुष्य के पुत्र (यीशु मसीह) के लिए सिर धरने की भी जगह नहीं है।"[2] अर्थात् यीशु मसीह के लिए कोई ऐसा स्थान नही था जिससे उन

---

१ अपरिग्रह-दर्शन : मधुकर मुनि, पृ. ८-९

२ मत्ती ८ : १९-२०

आसक्ति हो। न उनमें बाह्य और न ही आन्तरिक परिग्रह की भावना थी। प्रभु यीशु मसीही दिव्य पुरुष थे। अपरिग्रह पर उनके वचन किसी सामान्य पुरुष के नही अपितु ऐसे अवतार के है जिसने बिना पाप के पृथ्वी पर जन्म लेकर, क्रूस की मृत्यु सहकर, यह सार्थक कर दिया कि जीवन जीने के लिए एक अपरिग्रही का क्या महत्त्व है।

आज के युग में धन, सम्पत्ति का सग्रह मानव जीवन के लहू में इस प्रकार मिल गया है कि मनुष्य ने अपने अस्तित्व को ही खो दिया है। वह यह भूल गया है कि हर तथ्य की अधिकता ही बुराई है (Every thing in excess is bad)। इस धन, सम्पत्ति के संग्रह ही ने भयकर विष का रूप ले लिया है जो संतुष्टि तो प्रदान नहीं करता अपितु मानवीय वेदना को प्रतिक्षण बढाता ही जाता है। प्रभु यीशु मसीह का कथन है कि "मनुष्य केवल रोटी ही से नही, परन्तु हर एक वचन से, जो परमेश्वर के मुख से निकलता है, जीवित रहेगा।"[1] इसी कारण मसीही धर्म धन को इतना महत्त्व नही देता क्योंकि ईश्वर और धन दोनों में विरोधाभास है। मनुष्य दोनों को चुन नहीं सकता। एक सुन्दर उदाहरण देकर प्रभु यीशु मसीह कहते है कि "कोई मनुष्य दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता, क्योकि वह एक से बैर और दूसरे से प्रेम रखेगा, वह एक से मिला रहेगा और दूसरे को तुच्छ जानेगा, 'तुम परमेश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते।' इसलिये मै तुम से कहता हूँ, कि अपने प्राण के लिए यह चिन्ता न करना कि हम क्या खाएँगे ? और क्या पीएँगे ? और न अपने शरीर के लिए कि क्या पहिनेंगे ? क्या प्राण भोजन से और शरीर वस्त्र से बढकर नहीं ? आकाश के पक्षियों को देखो। वे न बोते हैं, न काटते है और न खल्लों मे बटारोते है, तो भी तुम्हारा स्वर्गीय पिता उनको खिलाता है, क्या तुम उनसे अधिक मूल्य नही रखते।"[2] प्रश्न मानव मूल्य का है। आज मानव मूल्यों का पतन हो चुका है।

मानव मूल्यों के पतन मे मनुष्य को धनी बनने के लिए नाना प्रकार से परिश्रम और कार्य करना पड़ता है। वह धनी बनने के लिए उतावला है। किसी भी रूप से वह धन कमाना चाहता है। पुराने नियम की पुस्तक 'नीति वचन' मे इस पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ लिखा है "धनी होने के लिए परिश्रम न करना"[3] तथा "लोभीजन धन प्राप्त करने में उतावली करता है और नही जानता है कि वह घटी मे पडेगा।"[4] इसका अर्थ यह नही है कि मसीही धर्म निष्क्रियता सिखाता है किन्तु यह एक चेतावनी का रूप है जिसका

१ मत्ती ४ : ४

२ मत्ती ६ : २४–२६

३ नीति वचन २३ . ४

४ नीति वचन २८ . २२

मनोवैज्ञानिक कारण है। यही आसक्ति का रूप है। प्रभु यीशु मसीह का कथः है कि "जहाँ तुम्हारा धन है, वहाँ तुम्हारा मन भी लगा रहेगा।"[१]

मसीही धर्म का स्पष्ट मत है कि जीवन का मूल्य धन, सम्पत्ति से आंक नही जा सकता। पवित्र शास्त्र मे स्पष्ट वर्णन मिलता है कि "किसी का जीव उसकी सम्पत्ति की वहुतायत से नही होता।"[२] इस संदर्भ में प्रभु यीशु मसी ने एक दृष्टान्त में कहा था कि "किसी धनवान की भूमि में बड़ी उपज हुई तव वह अपने मन में विचार करने लगा कि मैं क्या करूँ, क्योंकि मेरे यहाँ जग नही, जहाँ अपनी उपज इत्यादि रखूँ। कुछ सोचने के बाद उस धनी पुरुष ने कहा, "मैं अपनी वखारियाँ तोड़कर उनसे वडी वनाऊँगा और वहाँ अपना सव अन्न और सम्पत्ति रखूँगा और अपने प्राण से कहूँगा, कि प्राण, तेरे पास वहुत वर्षो के लिए वहुत सम्पत्ति रखी है। चैन कर, खा, पी, सुखी रह।" इतना कहने के बाद वह ईश्वर की आवाज, अर्थात् अन्तर्तम की आवाज सुनता है कि "हे मूर्ख, इस रात तेरा प्राण तुझसे ले लिया जाएगा। तव, जो कुछ तूने इकट्ठा किया है, वह किसका होगा?"[३] प्रभु यीशु मसीह आगे कहते हैं कि "ऐसा ही वह मनुष्य भी है जो अपने लिए धन वटोरता है, परन्तु परमेश्वर की दृष्टि मे धनी नही।" वास्तविकता यह है कि मसीही धर्म को धन, सम्पत्ति बढ़ाने पर एतराज नही है। मसीही धर्म इस बात की शिक्षा देता है कि "चाहे धन, सम्पत्ति वटे तो भी उस पर मन न लगाना।"[४]

प्रभु यीशु मसीह ने दृष्टान्तो का वहुत अधिक प्रयोग किया है ताकि जन-साधारण भी उनकी वातो को समझ ले। वे एक दृष्टान्त में बताते है कि उनके पास एक व्यक्ति आया और पूछने लगा, "हे गुरु, अनन्त जीवन का अधिकारी होने के लिए मै क्या करूँ?" यीशु मसीह ने कहा, तुझमे एक वात की घटी (कमी) है, जा, जो कुछ तेरा है, उसे वेच कर कगालो को दे और तुझे स्वर्ग मे धन मिलेगा और आकर मेरे पीछे हो ले। इस वात से उसके चेहरे पर उदासी छा गई और वह शोक करता हुआ चला गया, क्योकि वह बहुत धनी था।[५] यीशु मसीहो ने चारो ओर देखकर शिष्यो को उपदेश दिया कि "धनवानो को परमेश्वर के राज्य मे प्रवेश करना कैसा कठिन है।" आगे उन्होने कहा—"परमेश्वर के राज्य मे धनवान के प्रवेश करने से ऊँट का सूई के नाके मे से निकल जाना सहज है।"[६]

---

१ लूका १२ : ३४
२ लूका १२ : १५
३ लूका १२ . १६–२०
४ भजन सहिता ६२ : १०
५ लूका १० . २१–२२
६ लूका १० : २५

मसीही धर्म में एक धनवान और गरीब मनुष्य की कथा है जो रोचक होने के साथ ही शिक्षा भी प्रदान करती है। कथा इस प्रकार है :—

एक धनवान मनुष्य था जो बैंगनी कपड़े और मलमल पहनता और प्रतिदिन सुख-विलास और धूमधाम के साथ रहता था और लाजर नाम का एक कंगाल घावों से भरा हुआ उसकी डेवढी पर छोड़ दिया जाता था और वह चाहता था कि धनवान की मेज पर की जूठन से अपना पेट भरे। कुत्ते भी आकर उसके घावों को चाटते थे और ऐसा हुआ कि वह कंगाल मर गया। स्वर्ग के दूतों ने उसे लेकर इब्राहीम की गोद में पहुँचाया। वह धनवान भी मरा और गाड़ा गया। अधोलोक में उसने पीड़ा में पड़े हुए अपनी आँखें उठाई, और दूर से इब्राहीम की गोद में लाजर को देखा तो उसने पुकार कर कहा—"हे पिता इब्राहीम, मुझ पर दया करके लाजर को भेज दे, ताकि वह अपनी अगुली का सिरा पानी में भिगोकर मेरी जीभ को ठडी करे, क्योंकि मै इस ज्वाला मे तड़फ रहा हूँ।" परन्तु इब्राहीम ने कहा, "हे पुत्र, स्मरण कर कि तू अपने जीवन में अच्छी वस्तुएँ ले चुका है और वैसे ही लाजर बुरी वस्तुएँ। परन्तु अब वह यहाँ शान्ति पा रहा है और तू तड़प रहा है।"[1]

इसी प्रकार एक लोभी भण्डारी की कथा है। कथा के विस्तार से मैं उसको यहाँ उद्धृत नही कर रहा हूँ किन्तु उसके मुख्य अंश मै यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। कहा गया है कि "जो थोड़े-से-थोड़े में सच्चा है वह बहुत में भी सच्चा है और जो थोड़े में अधर्मी है, वह बहुत में भी अधर्मी है, इसलिये जब तुम अधर्म के धन में सच्चे न ठहरे, तो जो तुम्हारा है, उसे तुम्हे कौन देगा ?"[2]

मसीही धर्म भले कामों में धनी बनने की सलाह देता है। पवित्र शास्त्र में लिखा है—"अपने लिए पृथ्वी पर धन इकट्ठा न करो, जहाँ कीड़ा और काई बिगाड़ते है और जहाँ चोर सेंध लगाते और चुराते है परन्तु अपने लिए स्वर्ग मे धन इकट्ठा करो, जहाँ न तो कीड़ा और न काई बिगाड़ते है और जहाँ चोर न सेंध लगाते और न चुराते है।[3]

प्रभु यीशु मसीह के चेले भी अपरिग्रह का पालन करते हुए लोगो को सिखाते रहे। पौलुस जिसने मसीही धर्म का सबसे अधिक प्रचार किया, अपने एक पत्र में लिखता है कि "क्योकि रुपये का लोभ सब प्रकार की बुराइयो की जड है, जिसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए कितनो ने विश्वास से भटक कर

---

१ लूका १६ : १६–३१
२ लूका १६ : १–१३
३ मत्ती ६ · १६–२०

"जो नमाज कायम करते है और जकात देते है और वे ऐसे है जो आखिरत पर विश्वास करते है।" (सूरे अन्नम्ल, ३)

"मेरे जो वदे 'ईमान' लाए है उनसे कह दो कि ये 'नमाज' कायम करें और हमने जो कुछ दिया है उसमे से छिपाकर और खुले रूप मे खर्च करे, इससे पहले कि वह दिन आये जिसमे न कोई सौदा होगा और न कोई मित्रता होगी (यानि योमे-हिसाव या निर्णय का दिन)। (सूरे-इब्राहीम, ३१)

'जकात' अरवी भाषा का शब्द है जिसके मानी है—पाक और शुद्ध होना, वढना, विकसित होना। पारिभाषिक रूप में जकात उस निश्चित धन को कहते है जिसको अपनी कमाई और माल मे से निकालना और उसे अल्लाह के बताए हुए शुभ कार्यो मे व्यय करना आवश्यक है। जैसे मुसाफिरों, मुहताजों और दीन-दु:खियों की सेवा करना, ऋणी व्यक्तियो को ऋण के बोझ से छुटकारा दिलाना, अल्लाह के दीन के लिए की जाने वाली चेष्टाओं मे खर्च करना आदि।

जकात को जकात इसलिए कहा जाता है कि इसके द्वारा मनुष्य की आत्मशुद्धि होती है और उसे विकसित होने का अवसर मिलता है। मनुष्य का मन, वढी हुई सासारिक मोहमाया से छुटकारा पाता है और उसका माल भी पाक हो जाता है और उसमे वरकत होती है। जकात की व्यवस्था मे पूरे समाज का कल्याण है।

'जकात' देना आखिरत को याद रखने का उत्तम उपाय है। आदमी अपना माल खर्च करके उसे उसकी ओर लौटाता है जिसने उसे यह माल दिया था। इसी प्रकार उसे अपनी जान को भी उसी की ओर लौटाना है, अतः इसके साथ विनम्रता का होना भी आवश्यक है। इस पहलू से इसमें नमाज की विशेषता आ जाती है।

'जो व्यक्ति अल्लाह के दिये हुए धन मे से अल्लाह के वन्दों का हक नही निकालता उसका धन भी अपवित्र ही रहता है और मन और आत्मा को भी शुद्धता प्राप्त नही होती।' (कुरआन, रामपुर, पृ. १२३०)

वार्षिक आमदनी पर जकात फर्ज है, अनिवार्य है। इसका निर्धारण नौकरी, व्यापार, पशुधन, भवन, उपवन, कृषि-उत्पादन, मूल्यवान वस्तुओं आदि पर किया जाता है। जव मनुष्य को वर्ष मे कभी भी अचानक आमदनी होती है तो उस आमदनी का ५वाँ भाग 'खुम्स' के रूप मे खैरात करना अनिवार्य है। 'खुम्स', 'जकात' से पृथक् है। और जव मनुष्य स्वय परिश्रम करके कुछ उपलब्ध करता है तो उस उपलब्धि का १०वाँ हिस्सा उसे खैरात करना होता है। इस प्रकार 'जकात', खुम्स' और 'अश्र' अनिवार्य दान या खैरात के अन्तर्गत आते है। जकात से ईश्वर की कृपादृष्टि मिलती है।

इस्लाम मे 'सदका' देना भी आवश्यक समझा गया है, इसका निर्देश भी कुरान मे अंकित है। सदका देने से मनुष्य को बुराइयों से छुटकारा मिलता है। उसका मन-मस्तिष्क शुद्ध होता है—

"और यदि तुम खुले तौर पर सदका दो तो यह भी अच्छी बात है और यदि उसे छिपाकर गरीबो को दो, तो यह तुम्हारे लिए ज्यादा अच्छा है और वह तुम्हारी कितनी ही बुराइयो को दूर कर देगा।" (सूरे-अल-बकर, २७१)

"हे नबी! तुम उनके मालों में से सदका लेकर उन्हे पाक करो और उनकी आत्मा को विकसित करो तथा उनके लिए दुआ करो। निःसंदेह तुम्हारी दुआ उनके लिए सन्तोष-निधि है।" (सूरे-अल-तौवा, १०३)

खुदा की राह में दान देना या खैरात करना सदका कहलाता है। 'सदका' शब्द 'सिद्क' से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ है सच्चाई और निष्ठा। सदका देने से मनुष्य का ईमान, उसका धर्म पुख्ता होता है, वह अधिक निष्ठावान बनता है, उसका ईमान-धर्म और अधिक सच्चा होता है। जो खुदा का सच्चा बदा होता है वह खुदा की राह में सदका देता है। जकात', 'खुम्स', 'अश्र', 'सदका' या और कोई खैरात वही अल्लाह को स्वीकार्य है जो अपने खून-पसीने से कमाई जाने पर दान की जाए। पूर्ण ईमानदारी से कमाया गया धन शुद्ध धन है और उसी मे से जकात, सदका आदि देना जायज है, उचित है, वरना बेईमानी से, चार सौ बीसी से, स्मगलिग से, जमाखोरी से कमाई गई दौलत से जकात या सदका आदि नही स्वीकार किया जा सकता है। जो लोग रुपया बैंक आदि में जमा कर उस पर सूद लेते है और उस सूद को जकात, सदका आदि मे खर्च कर धर्मनिष्ठ या दानशील बनते है, खुदा की नजर में ऐसा सूद का रुपया स्वीकार्य नही, मान्य नही। इस्लाम मे सूद लेना और सूद देना दोनों 'हराम', वर्जित घोषित किये गये है।

"तुम नेकी और वफादारी के दर्जे को नही पहुँच सकते जब तक कि अपनी उन चीजो मे से खर्च न करो जो तुम्हे प्रिय है, और जो चीज भी तुम खर्च करोगे अल्लाह उसका जानने वाला है।" (सूरे अल-इमरान, ९२)

अल्लाह की राह में प्रिय वस्तु दान देना, खैरात करना बहुत उच्च स्थान रखता है। यहाँ धन-सम्पत्ति, बाग, कारखाने, औलाद यदि खुदा की याद में बाधक हो तो मनुष्य यकीनन घाटे में रहेगा। इसलिए कुरान में साफ-साफ उल्लेख कर दिया गया है—"ऐ ईमान वालो! माल और औलाद की मुहब्बत तुमको खुदा की याद से गाफिल न करदे, जो ऐसा करेगा वह स्वय खसारे (घाटे) मे रहने वाला है।"

मकान किराये पर उठाया हो और एक मकान मे स्वय रहता हो वह सदका देने का पावन्द है। और उसे अपने घर वालो का प्रति व्यक्ति पौने दो सेर गेहूँ या इसका मूल्य फित्रे के रूप में देना होता है, जिस पर जकात देना फर्ज होता है उस व्यक्ति पर सदका-फित्रा भी वाजिव, अनिवार्य होता है। और जो व्यक्ति सदका देता हो या सदका देने की हैसियत रखता हो उसे जकात लेना उचित नहीं है। सदका फित्र देने से गरीव आदमी भी ईद की खुशियों मे शरीक हो सकते है, वे भी अपने को समाज का एक अभिन्न अंग समझ सकते है।

जैन धर्म में अपरिग्रह मे आवश्यकता, इच्छापरिमाण के अनुसार धन-संग्रह को उचित ठहराया गया है और वस्तुओं के प्रति 'मूर्च्छा' या 'ममत्व' को परिग्रह कहा है। इस्लाम मे भी धनसंग्रह में सयम और उचित साधनो को आवश्यक माना है। इस्लाम मे मनुष्य की आवश्यकता को भी नजर में रखा गया है, जिस व्यवस्था मे मनुष्य की आवश्यकतानुसार वस्तुएँ न मिले, जरूरत की चीजे प्राप्य न हो उस समाज में शांति कैसे रहेगी ? इस्लाम इस वात को स्वीकार नही करता कि एक तरफ तो दौलत का दरिया वहता हो और दूसरी तरफ लोग अभाव और तगी का जीवन व्यतीत करते हो। पैगम्बर मुहम्मद साहव ने 'माले-गनीमत' को तकसीम करते हुए एक हिस्सा अविवाहित को और दो हिस्से विवाहित को देना निश्चित किया। हजरत अली ने टैक्स वसूल करने के नियम को रसूले अकरम की नीति के अनुसार निर्धारित किया और टैक्स वसूल करने वालों को हिदायत दी कि लोगों के गर्मी या जाड़े के वस्त्र, खाने का सामान, सवारी के पशु मत वेचना, और न टैक्स वसूल करते हुए किसी को कोड़े लगाना।

इस्लामी अर्थव्यवस्था न्याय और संतुलन पर आधारित है। यहाँ धनसग्रह को न्याय, ईमानदारी, मेहनत, सयम की सीमा मे ही उचित ठहराया गया है। धन सम्पत्ति मे से खैरात करना, सदका, जकात आदि देना भी आवश्यक घोषित किया है। इस्लामी समाजवाद की अपनी एक अलग अर्थव्यवस्था है, यहाँ सूद, जुआ, सट्टा, शराव या अन्य नशीले पदार्थों के द्वारा धन कमाने को 'हराम' (वर्जित) घोषित किया गया है। राज्य के लिए यह सव हराम माने गये हैं। इस्लाम में तो मेहनत की कमाई को हलाल (उचित) माना गया है। पैगम्बरे-खुदा का इर्शाद है—

"खुदा के सामने प्रतिष्ठित, आदरणीय वह है जो ज्यादा परहेजगार है।"

"परहेजगारी के सिवाय और किसी वस्तु की विना पर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर फजीलत नही है। सव लोग आदम की औलाद हैं और आदम मिट्टी से वने थे।" एक उदाहरण देखिए—जैसे मनुष्य काँटो से अपना दामन

बचाकर चलता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति बुराई से, गुनाह से अपना दामन बचायेगा वही परहेजगार कहलायेगा।

इस्लाम में सम्पत्ति एकत्रित करना अनुचित माना गया है। धन संग्रह करना, उसे छिपाकर रखना या खर्च न करना इस्लाम के विरुद्ध है। ऐसा करने से समाज की अर्थव्यवस्था बिगडती है और मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्बन्धों मे दरार पड़ती है, साथ ही मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध भी प्रभावित होते हैं। धन लिप्सा मनुष्य को ईश्वर से विमुख करती है। मनुष्य से पूछा जायेगा कि उसने यह माल-दौलत कैसे प्राप्त की और कैसे खर्च की ? इस्लाम में भिक्षावृत्ति को अच्छा नही समझा, लेकिन धन को अनाथों, मिस्कीनों, गरीबों, मुसाफिरों में बाँटना उचित ठहराया। इस्लाम का अपरिग्रह-विचार का सम्बन्ध दोनों लोकों से, जहाँ इहलोक को सुविधाओं, सुख-साधनों से पूर्ण बना सकते हैं, वहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसका महत्त्व है। यह मोक्ष का, नजात का साधन बन सकता है। □□□

खलीफ़ा का वज़ीफ़ा

खलीफा का वजीफा तय करना निहायत मुश्किल काम था। लोग सोच न पाये कि उन्हे कितना वजीफा दिया जाय। जब कोई हल न सूझा तो उन्होंने निर्णय किया कि खलीफा से ही कहा जाए कि वे अपना वजीफा बाँध लें।

वे सब मिलकर खलीफा के पास पहुँचे। उन्हें परेशान देखकर खलीफा ने पूछा, "आप सब लोग किस बात से परेशान है ?" लोगों ने अपनी परेशानी बताई, तो वे हँस पड़े, "इतनी सी बात। अच्छा यह बताइये, मदीना में किसी मजदूर को आप रोजाना कितनी मजदूरी देते है ?"

"मजदूर की रोजाना मजदूरी तो बहुत कम है। न तो उससे आपका गुजारा होगा और न वह आपके रुतबे के लायक होगी।"

"रुतबे से मजदूरी का क्या ताल्लुक। फिर एक बात और है। मजदूर जितनी मजदूरी लूंगा, तो मुझे यह भी मालूम होगा कि एक मजदूर उतने में किस तरह गुजारा करता है। यदि मुझे लगेगा कि वह कम है, तो मै मजदूरों की तनखाह बढाने की कोशिश करूँगा। इससे मेरा वजीफा भी बढ जाएगा।"

ये खलीफा और कोई नही हजरत अबूबकर थे।

—डॉ० भैरूंलाल गर्ग

३५

परिग्रह-त्याग का क्रम

□ श्री श्रीचन्द गोलेछा

परिग्रह का सामान्य अर्थ किसी वस्तु का ग्रहण करना है। जैन धर्म के अध्यात्म अर्थ में कर्मो का ग्रहण तथा ग्रहण करने के साधनों व कारणों को परिग्रह कहा गया है। कर्मरूपी परिग्रह का क्षेत्र बहुत व्यापक है। परिग्रह के इस भावात्मक (आभ्यतरिक) रूप के बुद्धि द्वारा भेद करें तो अनन्त भेद हो सकते है। इन भेदों अथवा अवस्थाओं को हम मुख्य रूप से छह भागो में बांट सकते है:—

१. **असंयत अवस्था**—मिथ्यात्व से लेकर अविरति सम्यक्‌दृष्टि गुणस्थान तक यह अवस्था होती है। इस अवस्था मे भोग (परिग्रह) त्यागने योग्य है, यह अनुभूति तो होती है परन्तु भोग त्यागा नही जाता।

२. **संयत-असंयत अवस्था**—इस अवस्था में इन्द्रियो पर क्रमशः नियंत्रण करते हुए विषय-त्याग की ओर बढा जाता है। ज्यों-ज्यों विषय-त्याग होता जाता है त्यो-त्यो बाह्य भोगो के साधन और कारण छूटते जाते है।

३. **प्रमत्त संयत अवस्था**—इस अवस्था में इन्द्रिय-नियत्रण एवं भोग-सामग्री के त्याग के साथ-साथ चित्तवृत्ति पर भी नियन्त्रण होता जाता है। जिससे प्रमत्तता मे कमी आती है।

४. **संयत अवस्था**—इस अवस्था में इन्द्रियों पर नियत्रण होने के फलस्वरूप विषय-सुख की अभिलाषा पर नियत्रण करने का सामर्थ्य बढता जाता है।

५. **मोह-विजय अवस्था**—इस अवस्था में चैतसिक संस्कारो के कारण उत्पन्न क्रोध, मान, माया आदि विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए मोह कर्म को क्षय किया जाता है। इस अवस्था में किंचित् लोभ के संस्कार शेष रह जाने से इन्द्रियों में जो उत्तेजना होती है, वह सस्कार नाश के साथ समाप्त हो जाती है।

६. **सयोगी केवली अवस्था**—इस अवस्था में मोह के क्षय हो जाने के कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतराय कर्म पूर्ण क्षय हो जाते है। यहां इन्द्रियां पदार्थो के सम्पर्क में आने पर भी उनसे किंचित् भी प्रभावित नहीं होती। यह अपरिग्रह-जीवन की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। □□□

द्वितीय खण्ड



अपरिग्रह : व्यवहार

३६ तेते पाँव पसारिए

☐ युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

सरोवर मे जिस प्रकार जल आने के मार्ग होते है उसी प्रकार जल के निकलने के भी मार्ग होते है। यदि किसी सरोवर में जल आता तो रहे, परन्तु जाने का कोई मार्ग न हो तो सरोवर की क्या स्थिति होगी ? पाल टूट जायेगी, तट टूट जावेंगे और जल ऊपर से बह निकलेगा। और यदि जल बहता ही बहता रहे, आने के रास्ते बन्द हो गये हो तो ? धीरे-धीरे सरोवर सूख जावेगा।

गृहस्थ जीवन भी एक सरोवर है। जल की तरह उसमें भी धन आने-जाने के रास्ते बने होते है जिन्हे 'आय' और 'व्यय' कहते है। यदि केवल आय ही आय हो, धन आता रहे, पर व्यय का कोई समुचित कार्य न हो तो गृहस्थ जीवन की मर्यादा टूट जायेगी और यदि व्यय ही व्यय होता रहे, आय का द्वार बन्द हो गया तब भी जीवन का सरोवर सूख जावेगा, दरिद्रता छा जावेगी। इस प्रकार गृहस्थ जीवन में आय और व्यय के दोनो मार्ग समुचित रूप से चलते रहने चाहिये। आय के अनुसार व्यय और व्यय के अनुकूल आय ये दोनों स्रोत जब व्यवस्थित रहते है तो जीवन का सरोवर सदा हरा-भरा और परिपूर्ण रहता है। इस सिद्धान्त को आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने, जो स्वयं एक महान् नीतिज्ञ आचार्य थे, इस प्रकार व्यक्त किया है—

व्ययमायोचित कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः।

गृहस्थ आय के अनुसार व्यय करता हुआ और वैभव के अनुरूप रहन-सहन रखता हुआ सुखी होता है।

चार पुरुषार्थो की जीवन-दृष्टि

सद्‌गृहस्थ की मर्यादा को बताने वाले ये दो सूत्र-जीवन की आर्थिक नीति के आधार स्तम्भ कहे जा सकते है। जीवन में चार प्रकार के पुरुषार्थ बताये गये है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म सबसे पहला पुरुषार्थ है, जीवन के अभ्युदय एवं श्रेयस् का यह मूल आधार है। धर्म की व्याख्या ही आचार्यो ने की

है—यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः[1] । जिससे जीवन का भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास हो, वह धर्म है । धर्म के वाद जीवन में अर्थ का महत्त्व है। इसमें भी दो दृष्टियां है पहली दृष्टि यह है कि अर्थ से ही जीवन के व्यावहारिक कार्य सिद्ध होते है । अर्थ गृहस्थ जीवन की धुरी है, इसी के आधार पर सव व्यवहार वनते है और चलते है । आचार्य सोमदेव ने अर्थ की परिभाषा करते हुए कहा है—

यतः सर्वप्रयोजन् सिद्धिः सोऽर्थः[2] ।

जिससे सव अर्थ (प्रयोजनों) की सिद्धि हो सकती हो वह है अर्थ । अर्थ के विना सव व्यर्थ है । इसलिये भौतिक जगत् में अर्थ का सवसे महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि आध्यात्मिक जगत् में धर्म का है । इसलिये अर्थ के वाद धर्म को महत्त्व दिया है ।

दूसरी दृष्टि यह —कि जीवन में अर्थ का महत्त्व तो है, किन्तु अर्थ ही सव कुछ नहीं है । अर्थ वही सार्थ (सफल) है जो धर्म से प्राप्त हो, जो न्यायनीति एवं मर्यादा के अनुसार प्राप्त हो सके वही अर्थ जीवन मे सुख एवं आनन्द दे सकता है । इसलिये धर्म के वाद अर्थ को रखने का अभिप्राय है धर्म से अनुवंधित अर्थ । धर्म रहित अर्थ-अनर्थ होता है—"अर्थोह्यनर्थमूलं" जैसा शंकराचार्य ने कहा है, वह उसी धर्म भावना रहित अर्थ के लिये कहा है ।

अर्थ के वाद "काम" वताया गया है, इसका भी भाव यही है कि अर्थ जव होगा तभी तो "काम" होगा । काम का अर्थ है—इन्द्रियों की तृप्ति—'सर्वेन्द्रिय प्रीतिः स कामः'[3] । समस्त इन्द्रियों की प्रीति-प्रसन्नता, वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त तृप्ति—यह है काम । अर्थ के विना काम सघ नहीं सकता । पास में पैसा होगा तभी मनुष्य उसका उपभोग कर सकेगा । पास में फूटी कौड़ी न हो, ठनठनपाल मदनगोपाल हो और रोज रवड़ी रसगुल्ला उड़ाना चाहे तो ! कोई हलवाई काका-मामा है जो मुफ्त मे देता रहे । विना पैसे के मनुष्य इच्छा पूर्ति नही कर सकता, इसलिये अर्थ के वाद "काम" को पुरुषार्थ वताया गया है। आचार्यो ने कहा है—"अर्थ" धर्म के अनुकूल रहना चाहिये और काम-धर्म एवं अर्थ दोनों के अनुकूल होना चाहिये—धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखीस्यात्[4] धर्म एव अर्थ को ध्यान मे रखकर जो "काम" का सेवन करता है, वह जीवन में कभी दु.खी नही होता ।

१—वैशेषिकदर्शन, सूत्र १

२—नीतिवाक्यामृत (अर्थ समुद्देश १)

३—नीतिवाक्यामृतत (काम समुद्देश १)

४—नीतिवाक्यामृत (काम समुद्देश २)

मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ है, वह तीनो पुरुषार्थों का अन्तिम प्राप्तव्य है, मंजिल है। तीनों पुरुषार्थ जब इस मंजिल की ओर बढ़ते है, तभी वे महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने यहाँ तक कह दिया है कि— मोक्ष के अभिमुख चलने वाले धर्म, अर्थ एवं काम परस्पर विरोधी नही, किन्तु सहयोगी हो सकते है और जिन शासन मे उनका निषेध नही है।[1]

धन का नियोजन

अब प्रश्न यह है कि नीतिपूर्वक कमाये हुए धन का नियोजन किस प्रकार करे कि आय-व्यय का सन्तुलन बना रहे और जीवन की गाड़ी में रुकावट न आये।

कौटिल्य अर्थशास्त्र और प्राचीन सूत्रों आदि मे भी इस विषय का वर्णन मिलता है कि गृहस्थ सर्वप्रथम अपनी आय पर विचार करे कि वह कितना कमाता है और कैसे कमाता है? अन्याय से कमाया हुआ एक पैसा भी उसके धन में मिलना नही चाहिये, नही तो जैसे मन भर दूध को काजी की एक बून्द फाड़ डालती है वैसे ही समस्त धन दूषित हो जाता है।

कमाई के शुद्ध उपायो पर विचार करके फिर यह सोचना चाहिये कि जितना वह कमा रहा है उससे उसके परिवार का भरण-पोषण किस प्रकार हो, धर्म एवं परोपकार के कार्य कैसे सध सकें, घर पर आये अतिथि की सेवा कैसे हो, व्यापार आदि का संचालन किस प्रकार करे और भविष्य मे समय पर काम आने के लिये कुछ पचाकर कैसे रखे? इन सब व्यवस्थाओं को सोचकर समुचित प्रबन्ध करना ही अर्थ का उचित नियोजन कहलाता है। प्राचीन समय में अर्थ का नियोजन चार प्रकार से किया जाता था।[2]

१. धन का एक भाग व्यापार में लगा रहता था।

२. एक भाग से घर की व्यवस्था, अतिथि-सेवा तथा दान आदि कार्य किये जाते थे।

३. एक भाग अपने आश्रित व्यक्तियों के भरण-पोषण में लगाया जाता था।

४ एक भाग भविष्य के लिये, निधि रूप में सुरक्षित रखा जाता था।

१—धम्मो अत्थो कामो भिन्नेते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयणे मि उ तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति २६२

२—देखिए—उपासकदशांग व रायपसेणी सूत्र

तो लोमड़ी का फल खाना क्या भाव पड़ा ? पाप की कमाई भी इसी तरह की है। वह एक बार दिखावा लाती है पर कुछ ही दिन में व्याज सहित वापस जाने मे भी देर नही लगाती।

खर्च की व्यवस्था

मैं बता रहा था—गृहस्थ जीवन में आय का स्रोत सबसे महत्त्वपूर्ण है, वह जितना शुद्ध और सुदृढ होगा उतना ही वह धन चिरस्थायी होगा। इसीलिये व्यापार नीति भी शुद्ध होनी चाहिये, विवेकपूर्ण होनी चाहिये। खरी कमाई सदा बरकत करती है और खोटी कमाई तकलीफदेह होती है।

आय का स्रोत शुद्ध होने के बाद गृहस्थ अपने व्यय के स्रोत पर भी विचार करता है। व्यय के सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह सोचता है कि उसकी आय से व्यय कम होना चाहिये। जैसा कि पहले बताया है—आय का एक भाग भविष्य के लिये सुरक्षित रखना चाहिये। नीति का कथन है—'आपदर्थं धन रक्षेत।' आपत्ति काल के लिए कुछ धन बचाकर रखना चाहिये। गृहस्थ के पीछे परिवार है, माता-पिता, पत्नी-पुत्र और नौकर-चाकर आदि अनेक व्यक्तियों का सम्बन्ध उसके साथ जुड़ा रहता है। बीमारी, विवाह, शिक्षा आदि अनेक ऐसे आकस्मिक प्रसंग आते है जिन पर उसे एक साथ अधिक खर्च करना पड़ता है। अब यदि उसके पास कुछ सुरक्षित निधि नहीं है, थोड़ी बहुत पूँजी जमा नही है तो क्या हालत होती है, आप ही जानते है।

भविष्य के लिये बचाने के बाद जो बचता है, उसी मे से गृहस्थ अपने चालू खर्च की व्यवस्था करता है। यदि खर्च कम और आमदनी अधिक है तब तो कोई चिन्ता की बात नही, किन्तु यदि इससे उलटा है तब अवश्य ही चिन्ता की बात है। नीति का कहना है—'आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽपि श्रमणायते।' आय का विचार किये बिना अर्थात् आय से अधिक व्यय करने पर तो कुबेर भी भिखारी बन जाता है, कारूं का खजाना भी खाली हो जाता है तो साधारण गृहस्थ की बात तो क्या ? राजस्थानी में एक कहावत है—

दीवालो काढे तीन जणा, हुण्डी, चिट्ठी विणज घणा।
तू क्यों रोवे चौथा जणा ? म्हारे आमद कम, खर्चा घणा ॥

हुण्डी, चिट्ठी और व्यापार वाले तीन आदमी फिकर में घूम रहे थे। उन्होने जब एक चौथे आदमी को मुँह लटकाये बैठे देखा तो पूछा—"भाई ! क्या बात है, हम तो रोए तो रोएं, तू क्यो रोता है ?"

उसने कहा—"भाई ! क्या करूँ ? मेरे तो खर्च ज्यादा है, आमदनी कम है। बस, इसी फिकर मे रात-दिन रोना आता है।"

इस तरह आमदनी से ज्यादा खर्च वाला हमेशा चिन्तित रहता है। इसलिये पुराने सत कहा करते है—

"तेते पॉव पसारिए, जेती लांबी सौड़ ।"

अर्थात् जितनी लम्बी रजाई हो उतने ही पॉव फैलाने चाहिये। रजाई छोटी हो, और पैर रात में इधर-उधर बाहर निकालोगे तो सर्दी में ठिठुर कर ठाकुर बन जाओगे। उसी प्रकार आमदनी कम हो, और खर्चा ज्यादा करोगे तो गाड़ी चल नही सकेगी।

कंजूसी नहीं, किफायतशारी

मै देखता हूँ, आज के युग में साधारण परिवारों की स्थिति बडी नाजुक है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि संसार में भारत के आदमी की प्रति व्यक्ति औसतन आय सबसे कम है। अमेरिका का एक व्यक्ति जहा दस रुपये रोज कमाता है वहां भारत का एक व्यक्ति प्रतिदिन दो आने से आठ आने तक औसतन कमाता है। यह आँकड़ा अवश्य ही भारतीयों की कम आय का सूचक है। किन्तु यह भी तो बात है कि भारतवासियो का जीवन स्तर या रहन-सहन का खर्च भी संसार में, शायद सबसे कम है। आय में जितना अन्तर है, उतना ही रहन-सहन के स्तर मे भी अन्तर है, इस कारण यह विषमता इतनी दु:खदायी भी नही है। फिर ससार के अन्य देशों में आज जितनी फैशन और फिजूलखर्ची बढी है, भारत मे अब भी उतनी नही है। हाँ, अब भारत मे धीरे-धीरे फैशन और फिजूलखर्ची का रोग बढ रहा है, और इसी कारण सामान्य गृहस्थ का जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा है।

गाँधीजी ने एक जगह लिखा है—"मनुष्य अर्थ की कमी के कारण उतना परेशान नही है जितना आर्थिक अव्यवस्था के कारण। वास्तव में यह एक तथ्य है। मनुष्य अपनी आमदनी के अनुसार व्यवस्था रखे, ठीक से बजट बनाकर चले तो वह अनेक परेशानियो और फिजूलखर्चियो से बच सकता है। यह ठीक है कि खर्च-वर्च में कजूसी करना भी बुरा है, रहन-सहन का स्तर नीचा रखना भी उचित नही और अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा एव पद के अनुसार उसे समय पर खर्च करना तो पड़ता है, पर आप जानते हैं—कजूसी और चीज है व किफायतशारी और चीज। कंजूसी बुराई है, किफायतशारी गुण है। इसी प्रकार फैशन और फिजूलखर्ची दुर्गुण है, किन्तु सफाई, स्वच्छता तथा उदारता सद्गुण है। आज के युग मे आप लोग कहते है—महगाई से परेशान हो गये। किन्तु मै सोचता हूँ वास्तव में लोग महगाई से उतने परेशान नही है, जितने कि फिजूलखर्ची से है। खाने-पीने मे, रहन-सहन मे, शादी-विवाह में जिस प्रकार अव्यवस्थित एवं अनावश्यक खर्च किये जाते है, उन पर यदि सोचा जाय और कुछ नियंत्रण किया जाय तो सम्भव है महंगाई की पीड़ा इतनी नही सताये। □

तो मेवाड भूमि को परतन्त्र होने से कभी नही वचा सकते थे। यह गृहस्थ मे रहते हुए अपरिग्रह वृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है।

दूसरा अपरिग्रह वृत्ति का उपाय है—धन-सम्पत्ति या साधन-सामग्री या सम्वन्धों से निर्लिप्त रहना, निर्मोही रहना। यद्यपि निर्मोही या निर्लिप्त रहना वहुत ही कठिन है, परन्तु जिसे अपरिग्रह वृत्ति अपनानी है, जिसका लक्ष्य अपरिग्रह होता है, वह संसार मे रहता हुआ भी, सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी अन्तर से निर्लेप या निर्मोही रहता है। इस सम्वन्ध मे भरत चक्रवर्ती का उदाहरण प्रसिद्ध है।

भरत चक्रवर्ती के पास ऋद्धि, समृद्धि, सत्ता, साधन, सामग्री आदि सांसारिक सुख-साधनो का कोई ठिकाना नही था। फिर भी अन्तर मे वे यही मानते थे कि ये सब साधन मेरे नही है। मैं उनका नही हूँ। मेरा तो यह शरीर भी अपना नही है।

वस्तुतः भरत चक्रवर्ती की अपरिग्रह वृत्ति का आदर्श विरले ही गृहस्थो में मिलता है। काजल की कोठरी मे रहते हुए भी काला धव्वा न लगने देना, कितना कठिन कार्य है। मगर इतना कठिन होते हुए भी यह असम्भव एव अव्यवहार्य नही है। जनक (नमिराज) विदेही का नाम भी इसी कोटि के महान् पुरुषो मे लिया जाता है, कि वे राज्य ऋद्धि और वैभव के वीच रहते हुए निर्लेप एव निरासक्त थे।

तीसरा व्यावहारिक रूप यह है कि गृहस्थ का सर्वथा परिग्रह मुक्त होना अतीव दुष्कर है, फिर भी वह जितना परिग्रह रखना चाहता है, उसकी सीमा बांध ले, उसका परिमाण करले। परिग्रह की जब मर्यादा बांध ली जाती है तो उस गृहस्थ को उससे अधिक वस्तुओं या धन का सग्रह करने की इच्छा नही होती। उसकी लालसाओ, इच्छाओं या तृष्णा पर ब्रेक लग जाता है। वह अपनी इच्छा से अपने परिग्रह साधन-सामग्री की सीमा कर लेता है। साथ ही जितनी वस्तुओ (धन-धान्य आदि) की सीमा करता है, उस सीमित परिग्रह पर भी वह अपना ममत्व एव स्वामित्व स्थापित न करने का अभ्यास करता है। यद्यपि वह अपने परिमित परिग्रह के प्रति ममत्व और स्वामित्व के त्याग करने में पूर्णतया सफल नही होता तथापि उसका लक्ष्य अपरिग्रह वृत्ति की ओर जाने का होता है। व्रती श्रावक का यह मनोरथ होता है कि वह दिन धन्य होगा, जिस दिन मैं आरम्भ एव परिग्रह से सर्वथा मुक्त वनूँगा। यही मेरे जीवन का आदर्श होगा। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिये ही वह अपरिग्रही त्यागी श्रमणो का उपासक वनता है, परिग्रह, परिमाण व्रत को स्वीकार करता है। इसे शास्त्रकारो ने इच्छा—परिमाण व्रत कहा है। इसका रहस्य यह है कि

व्रती श्रावक ने परिग्रह वस्तुओं की जितनी सीमा रखी है, उतनी सीमा तक वह नही पहुँचना चाहता है। उसकी इच्छा परिग्रह वृद्धि की नही होनी चाहिये तभी यह व्रत निभ सकता है। आवश्यकताएँ और कभी-कभी कल्पित आवश्यकताएँ मनुष्य बढा लेता है। किन्तु यह निश्चित मानिए कि मनुष्य जितनी-जितनी आवश्यकताएँ बढाता है, उसकी चिन्ता भी उतनी ही अधिक बढ़ती है, उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने की। और फिर एक बार आवश्यकता बढाने और अधिक खर्च करने की आदत हो गई तो फिर मनुष्य इतना आदी हो जाता है कि उतने से कम में निर्वाह नही कर सकता। अगर बरबस निर्वाह करना भी पड़े तो वह मन-ही-मन चिन्तित और दुःखित होता है। दूसरों की समृद्धि देख कर जलता है। इसलिये इच्छाओं पर कन्ट्रोल करना परिग्रह परिमाणव्रती श्रावक के लिये अनिवार्य बताया है।

परिग्रह परिमाणव्रत का प्राण

कई लोग यह कहा करते है कि हमारे पास चाहे ५ हजार की पूंजी या साधन-सामग्री हो, लेकिन हम अपनी परिग्रह मर्यादा करते समय ५ लाख या ५० लाख की कर देंगे। इसमें भी अधिक पूंजी बढ़ गई तो स्त्री-पुत्रों के नाम से अलग-अलग कर देंगे। परन्तु ऐसा करना परिग्रह परिमाण व्रत का उद्देश्य नही समझना है। परिग्रह परिमाण व्रती का उद्देश्य परिग्रह को घटाने का होना चाहिये, बढाने का नही। और मर्यादा भी इतनी अधिक रखना ठीक नही। जितने से निर्वाह हो सके, उतनी ही, बल्कि परिवार बुद्धि की सम्भावना को देखकर उससे कुछ अधिक परिग्रह मर्यादा रखी जाये तो श्रावक के परिग्रह परिमाण व्रत का आदर्श रह सकता है। परिग्रह परिमाण व्रत का प्राण भी यही है कि जितना भी परिग्रह पास मे हो, या पास में होने से परिवार के निर्वाह होने की सम्भावना हो, उतनी ही परिग्रह की मर्यादा रखी जाये। और मर्यादा में रखे हुए परिग्रह पर भी ममत्व एवं स्वामित्व को त्याग करने का अभ्यास किया जाए। खासतौर से अपनी दौड़ती हुई इच्छाओं, आवश्यकताओं पर संयम किया जाए, अपने अनावश्यक खर्च में कटौती की जाए। परिग्रह परिमाण व्रत लेकर अनापशनाप खर्च करते जाना, आवश्यकताओं पर कोई नियन्त्रण न करना व्रत के प्रति वफादारी नही है।

अपरिग्रह वृत्ति की ओर जाने के लिये सर्व प्रथम आवश्यकताओं का विश्लेपण करना आवश्यक है कि वह आवश्यकता वास्तव मे अनिवार्य है क्या? क्या इसके बिना मेरा या मेरे परिवार का काम ही नही चल सकता? क्या इस आवश्यकता के बिना भी मेरा काम चल सकता है या यह आवश्यकता कल्पित और अपनी विलासी मनोवृत्ति की प्रतीक है? इसके बाद संयम और तप की दृष्टि से तथा अहिसा के दृष्टिकोण से उन आवश्यकताओं पर विचार करना

चाहिये कि इस आवश्यकता की पूर्ति से मेरे इन्द्रिय-संयम और तप में कोई आँच तो नही आएगी ? इस पदार्थ का सेवन न करूँ तो क्या हानि हो सकती है ? इस आवश्यकता की पूर्ति से सप्त कुव्यसनों में किसी कुव्यसन की पूर्ति तो नहीं होती ? अगर होती है तो यह आवश्यकता त्याज्य है। अथवा यह भी सोचा जाए कि इस आवश्यकता की पूर्ति से कोई त्रस जीवों की हिंसा या स्थावर जीवो का अतिवध तो नही होगा अगर त्रसजीवों की हिंसा से वह आवश्यक चीज निष्पन्न होती हो, और आपकी आवश्यकता उसी चीज की है तो आपके अहिंसाणुव्रत के भंग होने की सम्भावना है, उस आवश्यकता की पूर्ति से। उदाहरणार्थ—मान लो, आप समाज मे अपनी प्रतिष्ठा वरकरार रखने के लिये विवाह जैसे प्रसगों पर वहुत वडा भोज देते है, इतनी अधिक बिजली का उपयोग करते है, वहुत वडा शो करते है, इतनी अधिक भट्टियाँ जलाते है, जिनकी कोई आवश्यकता नही है, साथ ही शराव का दौर भी चलाते है अथवा शहतूत के कीड़ो को मार कर वने हुए रेशमी कपडो का उपयोग करते है, तो इन सव में त्रस जीवो की अत्यधिक हिसा होने की सम्भावना है। अतः दो करण तीन योग से संकल्पी हिंसा का त्याग करने वाले श्रावक के लिये इस प्रकार हिंसाजन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के समय अपना हाथ पीछे खीच लेना चाहिये। प्रतिष्ठा अनावश्यक खर्च करने से नही वढती। प्रतिष्ठा वढ़ती है, परोपकार एव स्व-परकल्याण के कार्य करने से।

इसलिये अपरिग्रह वृत्ति को सुदृढ वनाने के लिये विवेकी सद्गृहस्थ को परिग्रह परिमाण व्रत ग्रहण करने पर भी इस फिजूलखर्ची से वचना चाहिये। अगर आपके पास पैसा ज्यादा है तो उसका प्रदर्शन मत कीजिए। व्यर्थ के कार्यो मे, हिंसाजनक आरम्भ समारम्भो में, व्यर्थ के दिखावो मे खर्च मत कीजिए। खर्च करना ही हो तो जन कल्याण के कार्यो मे अपने धन का सदुपयोग कीजिए, सघ की सेवा में, दीन-दुःखियो और मूक पशुओ की दया के कार्यो में अपने धन को लगाइए। अपने धन पर से ममत्व हटाकर उसे सार्वजनिक सेवा कार्यो में खर्च कीजिए। वदले में किसी प्रकार की प्रसिद्धि या नामवरी की कामना मत रखिए।

आज समाज मे कई कुरूढियो और कुरीतियो का वोलवाला है। आए दिन समाज की वलिवेदी पर हजारों मासूम लड़कियो की वलि होती है—दहेज के नाम पर, प्रदर्शन के नाम पर, तिलक, वीटी आदि के नाम पर। दहेज कम देने पर वेचारी लड़की को ससुराल वालों की ओर से नाना प्रकार की यातनाएं दी जाती है, उसे आत्म-हत्या के लिये विवश कर दिया जाता है। कई लडकियों पर उनके ससुराल के अहिसकनामधारी क्रूर लोग मिट्टी का तेल छिड़क कर जला देते है। यह मानव हत्या को प्रेरित करने वाली दहेज-पिशाची वय

अहिसक श्रावक के लिये आवश्यकता के नाम पर उपादेय है, अपनाने योग्य है ?

इसी प्रकार राजस्थान में कई जगह मृत्युभोजों की कुप्रथा है। किसी के सगे-सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर जाति के पच उस परिवार के लोगों पर दबाव डाल कर मृत्युभोज (मौसर, औसर या किरियावर) करने के लिये वाध्य करते है। उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर हो, वह बेरोजगार हो, उसके घर मे कोई कमाने वाला न हो, फिर भी इस प्रकार की बेसिर-पैर की कुरूढि का पालन कराया जाता है। मै तो स्पष्ट कहूँगा, मृतभोज सरासर मानव हिसा को उत्तेजना देने वाला है। हिसा केवल जान से मारने से ही नही होती। १० प्राणो मे से मनबल प्राण, कायाबलप्राण आदि को दबाना, सताना भी प्राणातिपात है, हिसा है, इसलिये आप लोग बेखबर नही होगे। अतः समाज में जो भी फिजूलखर्ची कराने वाली कुरीतियाँ या कुरूढ़ियाँ है, वे आवश्यक नहीं है, उन्हे अनावश्यक समझकर उनका त्याग करना चाहिये।

आज तो फैशन का भूत इतना सवार हो गया है कि खानपान और रहन-सहन, पोशाक और देशाटन सर्वत्र लोग व्यर्थ खर्च करते है। इनमें वहुत सा खर्च तो देखा-देखी होता है। ब्याह-शादियों में लोग खान-पान के पीछे अनापशनाप खर्च करते है, वे आगा-पीछा नही सोचते कि हमारी देखा-देखी जाति के गरीब आदमी को भी इसी प्रकार पिसना पड़ेगा, कर्जदारी के कारण उनकी कमर टूट जावेगी। वहुत से लोग घर पर भोज देने के बदले आलीशान खर्चीले होटल मे भोज देते है। एक भोज पर ४०-५० हजार खर्च कर देना आम बात है। महापरिग्रहियो की इस वृत्ति-प्रवृत्ति को देखकर अपरिग्रह वृत्ति को प्रोत्साहन कैसे मिल सकता है ? जो अपरिग्रह की ओर बढना चाहते है, वे भी ऐसी प्रवृत्तियाँ देखकर हतोत्साह हो जाते है।

सादी साडियो से भी काम चल सकता है किन्तु ५०० से लेकर १००० रुपये की एक-एक साड़ी खरीदेगे, भेट देगे या घर की स्त्रियाँ पहनेगी। क्या अपरिग्रह वृत्ति की ओर बढने वाला व्यक्ति इस अनावश्यक खर्च पर कंटौती नही कर सकता ? क्या काली-महाकाली, कृष्णा, चन्दनबाला, मृगावती साध्वियों की त्यागपूर्ण कथा सुनने वाली बहनें सादी साड़ी से काम नही चला सकती ? प्रतिष्ठा तो त्याग और सादगी से मिलती है, और वह स्थायी भी होती है।

मेरे इशारे को आप समझिए और अपरिग्रह वृत्ति की ओर बढने के लिये समाज में प्रचलित अहितकर और अपव्ययवर्द्धक ऐसी अनावश्यक कुरूढ़ियों-कुरीतियों को चुन-चुन कर धक्का देकर निकालिए। आप स्वय इनका त्याग कीजिए और लोगो को भी प्रेरित कीजिए।

सैर-सपाटों के नाम पर भी आए दिन अपरिग्रही भगवान् महावीर के उपासक लाखों रुपये व्यर्थ ही खर्च कर देते है। सैर-सपाटा ही करना हो तो पद यात्राओ का आयोजन कीजिए, जिससे आपको देश और दुनिया का अनुभव हो या फिर वाहन आदि की व्यवस्था करके कम खर्च में भी यात्राएँ की जा सकती है। मनोरंजन और स्वार्थ त्यागी महापुरुषों के दर्शन तथा सत्संग आदि की दृष्टियों से धर्म यात्रा हो तो उससे द्रव्य और भाव दोनों तरह से लाभ होगा। अपरिग्रह वृत्ति की ओर बढ़ने के लिये इस वारे मे भी पूरा विवेक रखना चाहिये।

कई लोग कहते है कि लोगों के पास दो नम्बर का पैसा अधिक जमा हो गया है, उसका उपयोग कहाँ करें? जैसा कि अमेरिका आदि विदेशों के लोग कहते है कि हमारे पास पैसे और साधनो की कोई कमी नही, परन्तु उसका उपयोग कहाँ और कैसे करें? यह हम नही जानते। आमतौर पर ऐसे अनावश्यक धन का उपयोग भोग-विलास और आमोद-प्रमोद मे, या दुर्व्यसनो के पोषण अथवा फैशन में अथवा लड़के-लड़की के विवाह मे खुल कर खर्च किया जाता है। परन्तु आपसे वढ़ कर धन तो भगवान् महावीर के आनन्द, कामदेव आदि १० श्रावको के पास था किन्तु वे सामाजिक कुरूढ़ियो, सैर-सपाटों में या दुर्व्यसन अथवा फैशन में खर्च नही करते थे। समाज के दीन-हीन, असहाय, विधवा, निर्धन, अपाहिज, वृद्ध आदि लोगों की सेवा मे, या परोपकार में उनका धन खर्च होता था। आप 'उपासकदशांग' सूत्र उठा कर देखिए। उन्होने वस्त्र कितने सीमित रखे थे—

"नन्नत्थ एगेण खोमजुयलेणं अवसेसं सव्वं वत्थविहि पच्चक्खामि।"

सिर्फ एक जोड़ कार्पासिक-कपास से बने हुए वस्त्र के सिवाय सव वस्त्रों का प्रत्याख्यान-त्याग करता हूँ। वताइये, आनन्द जैसा वारह करोड सोनैयों का मालिक और सिर्फ एक जोड़ी वस्त्र पहिनने के लिये! आनन्द श्रमणोपासक के पास श्रावक व्रत ग्रहण करने से पहले भी वारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओ की सारी मिल्कियत थी और व्रत ग्रहण करने के वाद भी उतनी ही मिल्कियत की परिग्रह मर्यादा रखी। अपनी मर्यादा वढाई नही, वल्कि पहले की जितनी ही रखी, फिर भी उन्होने अपनी आवश्यकताएँ वढ़ाई नही, घटाई ही। धन का सदुपयोग समय-समय पर वे करते रहते थे, परन्तु अनावश्यक रूढियों मे या फैशन में, फिजूल खर्च नही करते थे। क्या अपरिग्रहवृत्ति का यह आदर्श प्रेरणादायक नही है?

आनन्द का अपरिग्रह वृत्ति का आदर्श

इसके अतिरिक्त जिन्दगी की संध्या के समय आनन्द श्रमणोपासक ने

ापने घरबार, धन-सम्पत्ति और कारोबार से मोह ममत्व छोड़ दिया था। ापना घर बार, सम्पत्ति और कारोबार अपने बड़े लड़के को अपनी बिरादरी ; लोगों की उपस्थिति में सौप कर स्वयं ने श्रावक प्रवृत्ति (निवृत्ति) ग्रहण ;र ली। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे धर्म-ध्यान एवं आत्म-शुद्धि में सलग्न ;हे। उन्होने भारतीय संस्कृति के 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' (अन्तिम समय मे ोग मार्ग मे रहते हुए शरीर त्याग करने) के आदर्श को जीवित रखा, अपरिग्रह ृत्ति के आदर्श को पाया। क्या आज के वृद्ध सद्गृहस्थ भाई-बहन (श्रावक-ाविका) आनन्द श्रमणोपासक के इस आदर्श से प्रेरणा नही लेगे ? पर मैं ेखता हूँ कि हमारा श्रावक वर्ग इस बारे में बहुत ही पिछडा हुआ है। वह धन कमाने और जोड़-जोड़कर रख जाने मे तो बहुत आगे है, परन्तु आत्मा के लिये अपरिग्रह धर्म रूपी धन कमाने में बहुत ही दुर्बल है, असावधान है। इस ओर की चिन्ता बहुत कम लोगों को है।

ये और इस प्रकार के कुछ उपाय अपरिग्रह वृत्ति के है। यही अपरिग्रह की व्यावहारिक भूमिका है। जिस व्यक्ति के जीवन में सन्तोष आ जाता है, जो आत्म स्वभाव मे लीन हो जाता है, जिसे आध्यात्मिक जीवन का आनन्द आ जाता है, उसकी वृत्ति परिग्रह घटाने, इच्छाओं और आवश्यकताओ को अल्पाति-अल्प करने की रहती है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में अपरिग्रह वृत्ति की झलक होगी, उसके कण-कण में अपरिग्रह वृत्ति रम जाएगी।



त्याग

इन्दौर में बापू के सभापतित्व में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ। सेठ हुकमचद ने बापू तथा उनके सहयोगियों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। सबके लिए शानदार आसन, चादी की थालियाँ, कटोरियाँ और अन्य पात्र बडे करीने से सजाये गये थे। यह सब देखकर बापू थोड़ा हँसे, उनके लिए तो सभी पात्र सोने के रखे गये थे। फिर बापू ने कस्तूरबा से झोली माग कर उसमें से अल्युमीनियम के बरतन निकाले और सोने के बरतनो के स्थान पर जमा दिये।

सेठजी ने बापू से सोने के बरतनो में ही भोजन करने की प्रार्थना की। इस पर बापू ने कहा—"यदि अल्युमीनियम के बरतनो से ही काम चल सकता हो तो सोने के बरतन क्यो काम मे लाये जाये। हाँ, यदि आप गरीबों की सेवा के लिए देना चाहे तो ले सकता हूँ।" दीन-दलितो के बन्धु के सामने सेठजी का सिर झुक गया।

—डॉ० भैरूंलाल गर्ग

श्रमी वर्ग यदि श्रम के वदले में उदारता का सम्पादन करे तो उससे उत्पादित वस्तुएँ उन्हे भेंट हो सकती है, जो उत्पादन नही कर सकते। इसका वड़ा ही सुन्दर परिणाम यह होगा कि जव वह वर्ग, जिसे उदारतापूर्वक वस्तुएँ भेंट की गई थी समर्थ होगा तव उसके स्वभाव मे भी उत्पादित वस्तुओं को भेंट करने की सद्भावना जागृत होगी, जिससे प्रेरित होकर परम्परा मे उदार चरित्र मानव उत्पन्न होते रहेगे। जिस वर्ग तथा समाज मे चरित्र व्यक्तियों की उत्पत्ति अधिक होती है, वह वर्ग तथा उदार समान व्यापक हो जाता है। इतना ही नही, वह किसी अन्य वर्ग तथा समाज से शासित नही रहता। कारण कि राष्ट्र प्रणाली की माँग समाज को तभी होती है जव मानव समाज उत्पादित वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उदारतापूर्वक सद्व्यय नही करता। उदारता व्यक्ति मे करुणा तथा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करती है। करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि तथा नीरसता का नाश होते ही जीवन मे निर्विकारता आ जाती है, जिसके आते ही दिव्य-चिन्मय-जीवन से अभिन्नता हो जाती है और पारस्परिक सघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इस दृष्टि से श्रमी वर्ग को उदारता अपना लेना अनिवार्य है।

अव यदि कोई यह कहे कि उदारता तो उन्हे अपनानी चाहिये जिन्होने सिक्कों का संग्रह किया है। यह वात स्थूल दृष्टि से तो ठीक ही मालूम होती है परन्तु यदि हम गंभीरतापूर्वक विचार करे तो यह स्पष्ट विदित होता है कि संग्रही के आस-पास जो श्रमी वर्ग है, उसने भी सिक्के के महत्त्व को ही अपना लिया है। तभी वह वहुत से साथियो के अधिकारो का अपहरण संग्रही द्वारा कराता रहता है। यदि श्रमी वर्ग मे उदारता आ जाय तो संग्रही वेचारा विवश होकर सग्रह का सदुपयोग करने लगे। अपने-अपने पद को सुरक्षित रखने के लिए शारीरिक तथा वौद्धिक श्रमी संग्रही के आधीन हो जाते है। यह श्रमी वर्ग का प्रमाद है।

इसका अर्थ कोई यह न समझे कि यह विचारधारा तो संग्रही को निर्दोष सिद्ध करती है। पर वात ऐसी नही है क्योकि संग्रह ज्यो-ज्यो वढता जाता है त्यों-त्यों संग्रही की चेतना जड़ता से आच्छादित होती जाती है। सग्रही की अपेक्षा श्रमी मे चेतना अधिक रहती है। प्राकृतिक नियमानुसार सुधार का आरम्भ उसी से होता है जिसमें चेतना अधिक है। अत: श्रमी वर्ग के सुधार में ही समाज का सुधार निहित है। आज तक किसी भी संग्रही के द्वारा समाज का उत्थान नही हुआ। एक-एक उदात्त चरित्र मानव के पीछे करोड़ो व्यक्ति चले। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वौद्धिक श्रमी के द्वारा शारीरिक श्रमी का उत्थान और इन दोनों के उत्थान मे ही समाज का उत्थान है। यदि मिल के मैनेजर, इजीनियर और रसायनज्ञ (Chemist) अपनी उत्पादित वस्तुओं का दुरुपयोग न करने दें तो कोई भी संग्रही दुरुपयोग करने में प्रवृत्त ही नही हो सकता।

परतु श्रमी वर्ग के मन में सिक्के का इतना प्रलोभन हो गया है कि वह सोचने लगता है कि यदि सग्रही के मन की बात पूरी न की तो मुझे निकाल दिया जायेगा और मेरे स्थान पर अनेक साथी आ जायेंगे। इस भय से भयभीत होकर श्रमी वर्ग संग्रही के अन्याय का समर्थन करने लगता है। अब निष्पक्ष भाव से विचार करो कि सुधार का दायित्व श्रमी वर्ग पर अधिक है अथवा सग्रही पर ?

श्रमी संग्रही के बिना रह सकता है किन्तु सग्रही श्रमी के बिना नही रह सकता। पर आज श्रमी अपने महत्त्व को भूल गया है और श्रम के बदले में अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं पर ही ध्यान देता है। व्यक्तिगत सुख लोलुपता का प्रलोभन, सर्व हितकारी सद्भावनाओं को सबल नही होने देता। उसी का यह परिणाम हुआ है कि श्रम संग्रह के आधीन है। संग्रह का महत्त्व श्रमी के प्रमाद से बढा है। यदि श्रम का महत्त्व बढाना है तो श्रमी को अपना सुधार करना होगा। जो व्यक्ति, वर्ग तथा समाज अपने विकास तथा ह्रास का कारण अपने से भिन्न को मानता है उसका न तो विकास ही होता है और न ह्रास ही रुकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मानव अपने विकास मे स्वाधीन है। पर कब ? जब मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु का दुरुपयोग न करे। व्यक्तिगत रूप से जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह उस वर्ग का है, जिसमें अभाव है। मिला हुआ देने पर ही और मिलेगा। देकर न माँगना ही प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने विकास का साधन है। पर इस रहस्य को कोई विरले तत्त्वदर्शी ही जानते है।

न माँगने का अर्थ भूखा, नंगा रहकर मर जाना नही है। न मागने का अर्थ है देने वाले की प्रसन्नता के लिए आवश्यक वस्तु स्वीकार करना अथवा यो कहो कि अधिकार लालसा से रहित कर्तव्यनिष्ठ होना। कर्तव्य का ज्ञान मानव मात्र के निज-विवेक में विद्यमान है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग से ही श्रम का महत्त्व बढ सकता है और श्रम का महत्त्व बढ़ने से ही सिक्के का महत्त्व घट सकता है, जिसके घटते ही संग्रह की रुचि मिट सकती है और आलस्य, अकर्मण्यता तथा विलास का अन्त हो सकता है, जिसके होते ही शरीर और विश्व मे, व्यक्ति और समाज में, दो वर्गो में, दो देशों मे, वास्तविक एकता हो सकती है।

स्वाधीन व्यक्तियों के प्रादुर्भाव से ही समाज में स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। स्वाधीन समाज न तो किसी से भयभीत होता है और न किसी को भय देता है। भयभीत समाज ही युद्ध सामग्री का संग्रह करता है। यदि श्रमी वर्ग युद्ध की भावना में सहयोग न दे तो युद्ध सामग्री ज्यो की त्यो, जहाँ की तहाँ रखी रहेगी, उसका कोई उपयोग न होगा। परस्पर का सघर्ष युद्ध सामग्री के बल पर नही रोका जा सकता। मानव में यदि विद्यमान मानवता का विकास हो जाय तो संघर्ष का नाश हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव पर मिली हुई वस्तु,

योग्यता तथा सामर्थ्य के सदुपयोग का दायित्व है। कर्तव्यपरायणता कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के जीवन से व्यापक होती है। उसे वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा नही फैलाया जा सकता। भयभीत समाज कभी भी संघर्ष का अन्त नहीं कर सकता। निर्भयता की अभिव्यक्ति तभी होती है जब अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा में तत्परता बनी रहे। अत. यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश के हित मे व्यय करे और विनाशकारी सामग्री का उत्पादन न करे।

श्रमी वर्ग सिक्के के प्रलोभन से रहित होकर विनाशकारी वस्तुओं के उत्पादन से असहयोग कर अपने श्रम द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करे किन्तु उन्हें व्यक्तिगत न माने। ऐसे साधक ही व्यक्ति और समाज की एकता का दर्शन कर श्रम के महत्त्व से सिक्के का महत्त्व घटाकर, संग्रह की भावना को मिटाकर, शान्ति की स्थापना द्वारा परस्पर एकतापूर्वक सघर्ष का नाश कर सकते है। यह निर्विवाद सत्य है।

सिक्के की उपयोगिता एकमात्र सुविधापूर्वक वस्तुओ के आदान-प्रदान में है। वास्तव में तो जीवन में सिक्के की कोई आवश्यकता ही नही है। जीवन मे आवश्यकता वस्तु की है। परन्तु जब मानव समाज वस्तु का महत्त्व व्यक्ति से अधिक मान लेता है तभी व्यक्ति का निर्माण रुक जाता है। व्यक्ति को स्वयं सुन्दर बनने के लिए वस्तुओ का महत्त्व व्यक्तियो से कम करना होगा अर्थात् सिद्धान्त रूप से यह बात माननी होगी कि वस्तु व्यक्ति के विकास के लिए है। जब जीवन मे वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व अधिक हो जाता है तब निर्लोभता की अभिव्यक्ति होती है। जिसके होते ही प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं का अभाव मिट जाता है। यह भौतिक विज्ञान का नियम है। पर आज इस नियम पर सर्वसाधारण की दृष्टि ही नही जाती। उसका बड़ा ही दुष्परिणाम हुआ है। निर्लोभता प्रकृति का वह विधान है जो आवश्यक वस्तुओ को अपने आप उत्पन्न करता है। इसका अनुभव मानव मात्र कर सकता है। यह ऐसी बात नही है, जिसका अनुभव प्रयोग सिद्ध न हो। निर्लोभता आते ही प्राप्त वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियो की सेवा स्वभाव से ही होने लगता है। संग्रह की रुचि का जन्म ही नही होता और न वस्तुओ मे ममता ही होती है। अप्राप्त वस्तुओ की कामना की तो कौन कहे, लोभ रहित होते ही वस्तुओ से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है अर्थात् निर्लोभता मानव को विवेकयुक्त जीवन से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना हितकर ही सिद्ध होता है।

व्यक्ति से वस्तु को अधिक महत्त्व देने से व्यक्तियों में वस्तुओं की दासता उत्पन्न होती है। वस्तुओ की दासता वस्तुओ का सदुपयोग

नही करने देती और न विवेक का आदर ही रहता है। विवेक का अनादर होते ही अविवेक की उत्पत्ति हो जाती है और फिर अकर्तव्य का जन्म हो जाता है। अकर्तव्य ही परस्पर संघर्ष का कारण है। सघर्ष से वस्तु और व्यक्ति दोनों ही का विनाश होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति व्यक्तियों के हितार्थ होती है। उन वस्तुओं का महत्त्व व्यक्तियों से अधिक कर देना मंगलमय विधान का हनन करना है। विधान का विरोध किसी के लिए भी, कभी भी हितकर सिद्ध नही होता। अतः वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है।

वस्तुओं की दासता से रहित मानव न तो वस्तुओं का दुरुपयोग ही करता है और न वस्तुओं के आश्रय के आधार पर अपना महत्त्व मानता है क्योंकि वस्तु-युक्त होने से व्यक्ति का महत्त्व नहीं है। व्यक्ति का महत्त्व विवेक-वित् होने में निहित है। इस दृष्टि से विवेकी मानव को अविवेकियो की अपेक्षा कही अधिक महत्त्व देना है। इतना ही नहीं, अविवेकी मानव, मानव के भेष में अमानव है। अमानव को पशु कहना पशु की निन्दा है, कारण कि पशु में विवेक जाग्रत नही है। इससे उस पर विवेकी होने का दायित्व नही है किन्तु मानव मात्र में विवेक जागृत है, इस कारण उस पर दायित्व है कि वह विवेकी का अनादर न करे अर्थात् प्रत्येक वर्ग, समाज तथा देश का वही मानव आदरणीय है, जो विवेकी है। व्यक्ति के महत्त्व को इतना न बढ़ा दिया जाय कि अपने मत, सम्प्रदाय, वर्ग तथा देश का अविवेकी मानव भी अन्य मत, सम्प्रदाय, वर्ग और देश के विवेकी के समान मान लिया जाय। अनेकों अविवेकियों की अपेक्षा एक विवेकी कही उच्चकोटि का मानव है। इतना ही नही, विवेकी कोई भी हो उसके परामर्श को आदर देना और अन्य की तो कौन कहे, अविवेकी माता-पिता, नेता आदि की भी बात को न मानना हितकर सिद्ध होता है, अनेक घटनाओ से ऐसा अनुभव हुआ है। इस कारण विवेकवित् होने पर ही व्यक्ति आदर-णीय है।

यह नियम है कि जब तक जीवन मे विवेक का साम्राज्य रहता है तब तक जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य नष्ट नही होती। प्राकृतिक नियमानु-सार जानें हुए असत् के त्याग में ही समस्त विकास निहित है। इस दृष्टि से मानव मात्र को विवेक का आदर करना है। विवेक वह प्रकाश है, जिसमे बुद्धि-दृष्टि द्वारा मानव इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त करता है। विवेक के प्रकाश से बुद्धि मे सामर्थ्य आती है और फिर वह अनावश्यक और अशुद्ध सकल्पों को पूरा करने का समर्थन नही करती, जिससे अनावश्यक और अशुद्ध सकल्प पूरे हुए बिना अपने आप मिट जाते है और आवश्यक एव शुद्ध सकल्प पूरे होकर मिट जाते है, जिनके मिटते ही बुद्धि भगवती विश्राम पाती है और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे निर्विकल्पता सुरक्षित रहती है। निर्विकल्पता से असंग होना भी विवेक-

सिद्ध ही है। निर्विकल्पता से असंग होते ही वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर करने मे विवेक ही मुख्य साधन है।

विवेक का महत्त्व सत्य की ओर अग्रसर होने में है, विवाद में नही। विवेक साधन है, साध्य नहीं। साधन का अनुसरण सिद्धिदाता है किन्तु साधन की ममता साधन के रूप में असाधन है। साधन को ममता से रहित न होने मे ही साधन की पूर्णता निहित है। अत: विवेक का महत्त्व व्यक्ति से बहुत ऊँचा है, परन्तु विवेक का उपयोग सत्य की खोज में है, विवेकी कहलाने में नही। विवेकी कहलाने की रुचि में विवेक का अनादर है, इस कारण विवेक से भी अपने साध्य को अधिक महत्त्व देना है क्योंकि साध्य में अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही मानव की वास्तविक मांग है। अत: सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक और विवेक से अपने साध्य को अधिक महत्त्व देना है। उद्देश्य पूर्ति तथा संघर्ष का अन्त एवं शान्ति की स्थापना करने के लिए उपर्युक्त क्रम स्वीकार करना प्रत्येक मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है।



जन्नत और दोज़ख़

बगदाद में उन दिनो संत फलीज की धूम थी। लोग उनके ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान से अत्यन्त प्रभावित थे। उनकी प्रशसा बगदाद के खलीफा हारुन-उल-रशीद तक भी पहुँची। उनके हृदय मे भी संत के दर्शन की इच्छा जागी। एक दिन वे अपने एक खास वजीर के साथ संत फलीज के पास पहुँचे। संत की असाधारण विद्वत्ता से खलीफा बहुत प्रभावित हुए। ज्ञान चर्चा के बाद जब वे चलने लगे तो उन्होंने एक हजार दीनारो की थैली संत के चरणों पर रख दी।

सत ने मुस्कराकर थैली लौटा दी और कहा—"जहांपनाह ! मैंने आपको जन्नत तक जाने का रास्ता बताया। बदले में आप मुझे दोजख की राह पर क्यो धकेल रहे हैं ?"

☐ डॉ. भेरूलाल गर्ग

३९

परिश्रम और धर्म्य वेतन

☐ श्री केदारनाथ

मनुष्य समूह में रहने वाला प्राणी है। इसलिए उसे केवल व्यक्तिगत सुख-सुविधा की अभिलाषा न रखकर सुख-दुःख, लाभ-हानि, उन्नति-अवनति आदि हर बात का सामूहिक दृष्टि से विचार करना सीखना चाहिये। जिन सुख-सुविधाओं का हम आज उपभोग करते है, वे हमारे या और किसी अकेले की पैदा की हुई नही है। वे समग्र मानव जाति के परिश्रम से, ज्ञान से, सद्‌गुणों से निर्माण होकर हम तक पहुँची हैं। परमात्मा द्वारा निश्चित प्रकृति के धर्मो या गुणों, निसर्ग की शक्ति और मानव समाज की शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक शक्तियों के समुच्चय से और सहायता से हमारे धारण, पोषण और रक्षण के तथा सुख-सुविधाओं के सारे साधन पैदा होते रहे है। मनुष्य के साथ रहने वाले गाय, घोड़ा, बैल जैसे जानवरों के परिश्रम का भी इसमें बड़ा हिस्सा है। यह बात भी ध्यान मे रखकर हमें परमात्मा के प्रति, मानव-जाति के प्रति और अपने साथ रहने वाले प्राणियो के प्रति सदा कृतज्ञ रहना चाहिये। हम मानव-परिश्रम से पैदा होने वाले साधनों पर जीते है। इसलिए इस परिश्रम में हमें कर्तव्य-बुद्धि से परिश्रम के रूप में अपना हिस्सा सदा सन्तोषपूर्वक देना चाहिये। ऐसा किये बिना हमारा जीना, दुनिया की मेहनत से पैदा हुई साधन-सम्पत्ति का उपयोग करना, इससे मुफ्त लाभ उठाना निरा मानवद्रोह है, अधर्म है। उसमें कृपणता, चोरी, जड़ता, कृतघ्नता, स्वार्थ, अन्याय वगैरा अनेक दुर्गुणो और पापों का समावेश होता है।

श्रम विभाजन का सिद्धान्त

जीवन निर्वाह के लिए प्रत्येक मनुष्य सब तरह के परिश्रम खुद नही कर सकता। परन्तु सबके परिश्रम का सब लोग न्यायपूर्वक उपयोग करे, तो सबका जीवन सुव्यवस्थित रूप से चल सकता है। इस प्रकार के न्याय और सुव्यवस्थित नियमन से समाज कई तरह से सम्पन्न और समर्थ बनता है। जीवन के लिए सब प्रकार के जरूरी परिश्रम प्रत्येक मनुष्य अकेला अलग-अलग करने बैठे, तो मानव का विकास नहीं हो सकेगा। जिससे मनुष्य की सामाजिकता नष्ट हो जायगी और सम्भव है सारी मानव जाति ही नष्ट हो जाय। इसलिये समाज की सुख-सुविधा और उन्नति के लिए श्रम की तरह ही श्रम विभाजन भी जरूरी है।

समाज के धारण, पोपण, रक्षण और उन्नति के लिए आवश्यक साधन-सम्पत्ति पैदा करने की जिम्मेदारी प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म के रूप में सन्तोपपूर्वक स्वीकार करनी चाहिये। यह धर्म मानव-जीवन का प्राण है। मानव-धर्म के न्याय श्रम विभाजन की दृष्टि से यह सिद्धान्त निकलता है कि इस धर्म का आचरण किये विना शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक किसी भी प्रकार के मानव परिश्रम से निर्मित किसी भी साधन-सम्पत्ति का या सुख-सुविधा का अपने जीवन में किसी को भी उपयोग करने का हक नहीं है।

धर्म्य जीवन की महत्त्वाकांक्षा

इस धर्म के लिए जो विद्यायें और कलायें जरूरी है, उनमें प्रवीणता प्राप्त करके सबके हित की दृष्टि से उनका सदा उपयोग करते रहना ही हमें अपना जीवन कार्य समझना चाहिये। परमात्मा की ओर से कुदरती तौर पर ही प्राप्त हुई हमारे अंग-प्रत्यग की सारी शक्तियों का विकास करके और उन्हे शुद्ध करके उनका सतत उपयोग करने से हमारी शक्तियाँ सतेज और शुद्ध रहती है। कोई भी शस्त्र या हथियार काम में लेते रहने से ही तीक्ष्ण और तेजस्वी रहता है, नहीं तो जग लगकर खराब हो जाता है। इसी तरह हमारी शक्तियो को उचित गति देते रहने से और उनका सत्कार्य मे उपयोग करते रहने से हमारे अंग-प्रत्यंग और उनकी शक्तियाँ, हमारी वुद्धि और हमारा मन शुद्ध रहता है। नहीं तो ये सव निकम्मे हो जाते है और जड़ता, आलस्य आदि दुर्गुणो से हमारा नाश हो जाता है। केवल अपनी सुख-सुविधा या अर्थोत्पादन के लिए उनका उपयोग करना जीवन की उदात्तता और व्यापकता की दृष्टि से अत्यन्त हीन वस्तु है। सबके हित की दृष्टि रखकर अपने व्यवसाय मे से अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी या मेहनताना लिया जाय, उससे ज्यादा अर्थलाभ या लोभ का उद्देश्य कभी न रखा जाय। हम सब इस प्रकार के पवित्र और धर्म्य जीवन की महत्त्वाकांक्षा रखें तो हमारे जीवन सार्थक होंगे और तभी किसी समय मानव जाति के सम्पूर्ण सुखी होने की आशा रखी जा सकती है।

न्याय और अन्याय विभाजन के परिणाम

यह महत्त्वाकांक्षा पूरी हो, इसके लिए हममें श्रम विभाजन की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे किसी भी व्यक्ति या वर्ग पर दूसरे से ज्यादा भार न पड़े और किसी भी व्यक्ति या वर्ग को दूसरे व्यक्ति या समाज के परिश्रम का फल दूसरों में ज्यादा न मिले। इस प्रकार जिस समाज में समता के सिद्धान्त पर मेहनत और फल का बंटवारा होता है, वह समाज अनेक प्रकार से समर्थ, सम्पन्न और स्थायी वनता है। उस समाज में सबका परस्पर पोष्य-पोपक संबंध होता है। परन्तु जिस समाज मे इस प्रकार श्रम-विभाजन की न्याय व्यवस्था

नहीं होती, उसमें एक ओर गुलामी और खुशामद तथा दूसरी ओर विकास और सुख-सुविधा के नाम पर स्वार्थ, अत्याचार, जुल्म, दुष्टता, ऐश आराम, विकार-वशता, मुफ्तखोरी, जड़ता और आलस्य वगैरा दुर्गुण बढते रहते हैं। इस कारण समाज में शोषित और शोपक वर्ग निर्माण होते है। व्यक्ति-व्यक्ति और वर्ग-वर्ग मे परस्पर भक्ष्य-भक्षक का सम्बन्ध बढता जाता है। सारा समाज दिनों-दिन अवनत होता जाता है और फिर थोड़े ही समय में वह किसी बलवान समाज का गुलाम बन जाता है। जिस समाज में परिश्रम करने वालों से परिश्रम द्वारा पैदा होने वाली साधन-सम्पत्ति का मुफ्त लाभ उठाने वाले वर्ग की संख्या अधिक होती है या उसे समाज में ज्यादा महत्त्व और प्रतिष्ठा मिलती है, वह समाज छिन्न-भिन्न हुए बिना नही रहता। धर्म और अध्यात्म की भ्रामक कल्पनाओं, कला के नाम पर विलास को मिले हुए महत्त्व, धन को दी गई अनुचित प्रतिष्ठा वगैरा के कारण श्रम-विभाजन का और उसके फलो के न्याय वितरण की पद्धति का समाज में लोप हो जाता है इसके कारण पुरुषार्थहीनता, दभ, स्वच्छंदता आदि बढती जाती है और कुल मिलाकर सारा समाज पतन की ओर जाता है।

धर्मनिष्ठ समाज

इस दृष्टि से विचार करें तो समाज की सुस्थिति के लिये परिश्रम, श्रम का उचित विभाजन और समता के सिद्धान्त पर उसके फल का उचित बंटवारा—ये तत्त्व हर व्यक्ति को जंचने चाहिये और तदनुसार उसे आचरण करना चाहिये। सदा कार्यरत रहकर उससे तैयार होने वाली साधन-सम्पत्ति में से अपने गुजारे से जरा भी ज्यादा की उम्मीद न रखने का सिद्धान्त सबको मजूर होना चाहिये। इस तरह के तत्त्वनिष्ठ समाज को ही धर्मनिष्ठ समाज कहा जा सकता है। समाज में इस प्रकार की तत्त्वनिष्ठा और सद्गुणो की वृद्धि के लिए हमें खुद तत्त्वनिष्ठ और सद्गुणी बनना चाहिये। इसी निष्ठा पर मानव जाति का उत्कर्ष और उन्नति अवलम्बित है।

एक जमाने में भारतवर्ष के लोगों में इस प्रकार की तत्त्वनिष्ठा थी। उस समय यह माना जाता था कि जीवन केवल धर्म के लिए है। उस समय समाज में यह भावना थी कि हम परमेश्वरी शक्ति के, पूर्वजों के, ज्ञानी पुरुषों के, मनुष्य मात्र के और मनुष्य के साथ रहने वाले तमाम प्राणियो के ऋणी है। उस जमाने के लोगों की दिनचर्या ऐसी थी, जिससे सदा इस बात का तीव्र भान रह सके कि अन्नाहुति के निमित्त से इन सबके प्रति कृतज्ञता-बुद्धि प्रकट किये बिना हमें भोजन करने का हक नही है। उस समय प्रजा मे इस प्रकार की सामूहिक धर्मनिष्ठा थी कि जीवन मे जो भी चीज हमे प्राप्त होती है, वह हमारे अकेले के परिश्रम या ज्ञान का फल नहीं है, बल्कि सबके परिश्रम और ज्ञान का फल है, और उनके

है। इससे ये चीजे लगभग समूची ही एक साथ काम में आती है व एक ही साथ घिसती भी जाती है। अतः वे एक वार ही नही बल्कि वर्षो तक काम मे आती रहती है। हम चाहे परिग्रह के सिद्धान्त को मानते हों, चाहे अपरिग्रह का व्रत धारण किये हों, यदि ऐसे पदार्थो के विषय मे हमारी आदतें निश्चित हो गयी हो तो उनके सम्बन्ध में हमारी नीति एक ही रहती है, और वह यह है कि ये पदार्थ जिस तरह ज्यादा समय तक अच्छी हालत मे रखे जा सके उसी तरह रख कर सावधानी से उनका उपयोग करना। घरो और सस्थाओं में भी कुछ लोग ऐसे होते है कि जो चीज वे इस्तेमाल के लिये लेते है, उसे फिर सभाल कर उसकी जगह नही रखते। इस आदत को हम अच्छी नही समझते, बल्कि लापरवाही कहते है। सब बड़े-बूढे उन्हे ऐसी आदतो के लिये टोका करते है। बड़े-बड संत भी जो अपरिग्रह व्रत का पालन बड़ी कठोरता से करते है, इस आदत को वुरी ही कहते है। इस्लाम मे कही पढा है कि हजरत मुहम्मद ने इस बात पर वड़ा जोर दिया है कि चीजो का उपयोग हाथ रोककर ही करना चाहिये।

अब तीसरे प्रकार के संग्रह का विचार करे। सोना, चांदी आदि धातुओ तथा हीरा, माणिक आदि का संग्रह तीसरे प्रकार का परिग्रह है। वर्षो तक पडे रहकर भी ये पदार्थ बहुत कम काम में लाये जाते हैं। गहने, बरतन या औजारो के रूप में ही ये काम में आ सकते है, किन्तु ये चीजे पड़े-पड़े विगड़ती नही। इससे जहां मालिकाना हक मान लिया जाता है, वहाँ ये भी मूल्यवान हो जाती है। फर्ज कीजिए कि मेरे पास १० मन अनाज है। मैं समझता हूँ कि शायद मुझे उसकी जरूरत न पडे। इसे मैं अपनी निजी सम्पत्ति समझता हूँ। आपको इस गल्ले की जरूरत है लेकिन आपके पास सोना-चादी का संग्रह है। उसे आप अपनी भी निजी चीज समझते है। मेरा संग्रह आपके संग्रह की अपेक्षा अधिक नाशवान है। यदि मै अपने गल्ले को न निकाल डालूं, तो उसके खराव हो जाने का अन्देशा है। अब यदि स्वामित्व का ख्याल मेरे मन में न हो तो मै आपसे कहूँगा कि मेरा यह अनाज खराव हो जायेगा। फिर या तो मुझे उसे जलाना पडेगा या फैंकना पडेगा या गाडना पडेगा। अतएव यदि आप इसे ले जाये, तो मुझ पर वडी मेहरबानी होगी। परन्तु चूंकि मुझ मे स्वामित्व का भाव है, मै ऐसा नही करता। बल्कि मै कहता हूँ कि यह अनाज मेरा है, कोई इसे छू नही सकता। अगर मै इसकी सभाल नही कर सकता तो मै इसे जला डालूँगा या जमीन मे गाड दूँगा। यदि आपको इसकी जरूरत है तो आप अपना सोना-चांदी इसके बदले मे दीजिये तो मै सोचूँगा। क्योकि आप खुद भी ऐसे ही मालिकाना हक को मानते है, इससे मेरी इस वात मे आपको कोई अनौचित्य नही दिखाई देता।

इस तरह यह स्थिति ससार-व्यवहार का नियम वन गयी है। यदि स्वामित्व का अधिकार और उससे उत्पन्न लेन-देन का व्यवहार न हो, लेकिन

सिर्फ परिग्रह या संग्रह की ही भावना हो तो मनुष्य घर, अनाज, कपड़े, बरतन आदि को सभाल कर रखें, एहतियात से काम में लें और जो ज्यादा हो, उसे बिगड़ने न दे। फिर वे सोना-चांदी या सिक्के या पाटों से भण्डार नही भरेगे। लेन-देन के व्यवहार के बिना इन चीजों की खपत बहुत कम—गहने, बरतन या औजारों के लिये ही होती है। और गहने आदि चाहे जितने ही बनाये जाये पर उनकी एक सीमा तो होगी ही।

इस प्रकार परिग्रह में दो भाव मिले हुए हैं—भविष्य की आवश्यकता के लिये संग्रह और हिफाजत तथा स्वामित्व का हक। श्रेयार्थी की दृष्टि से इन दोनो में भेद रहता है।

अब एक और दृष्टि से भी हमें परिग्रह का विचार करने की आवश्यकता है।

ऊपर जो परिग्रह के प्रकार बताये गये है, वे थोड़े या ज्यादा समय में नष्ट हो जाने वाली किन्तु बाह्य सम्पत्ति के ही है। यह सम्पत्ति ऐसी है कि परिग्रही स्वय उसका उपयोग न कर सके तो दूसरे कर सकते है। परिग्रही यदि मर जाय तो उससे परिग्रह नाश नही हो जाता।

किन्तु इस बाह्य सम्पत्ति के अलावा मनुष्य के पास दूसरी स्वाधीन सम्पत्ति भी होती है, और वह भी उसके निर्वाह-साधन में उतनी ही सहायक होती है, जितनी कि बाह्य सम्पत्ति। यह है उसका शारीरिक बल, बुद्धि, विद्या, चरित्र आदि। ऐसी कोई भी विशेषता जिसके पास होती है, उसे उस अश तक बाह्य सम्पत्ति के सग्रह का महत्त्व कम मालूम होता है, और यह विश्वास तथा निश्चिन्तता रहती है कि मेरा निर्वाह किसी तरह हो ही जायेगा। एक तरह से यह सम्पत्ति सोना-चांदी के संग्रह जैसी है, क्योंकि यह खाद्य वस्तु नहीं है परन्तु जिसके द्वारा खाद्य वस्तु मिल सकती है। दूसरी दृष्टि से इसका महत्त्व सोने-चादी के भण्डारो से भी बहुत ज्यादा है, क्योंकि यह बाहरी वस्तु नही है, न चोरी जा सकती है न उपभोग से कम ही होती है। तीसरी बात यह है कि वह खुद अपने ही काम में आ सकती है, वारिसो या दूसरों को दी नही जा सकती।

इन सब में भी चरित्र धन सबसे अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति है, क्योंकि शरीर-बल, वृद्धावस्था और रोग से नष्ट हो जाता है, बुद्धि को भी वीमारी लग सकती है, विद्याओ के भूल जाने अथवा जमाना बदलने पर निरुपयोगी हो जाने की संभावना रहती है, परन्तु चरित्र इन समस्त आपत्तियों से परे है।

विविध दृष्टियाँ

परिग्रह का निषेध करने मे और उस पर प्रहार या कटाक्ष करने में

सत्पुरुषों की भूमिका एकसी दिखाई नही देती है । कहीं उन्होने परिग्रह के नाम पर सिर्फ स्वामित्व की भावना का ही निषेध करना चाहा है । कभी-कभी अतिरिक्त अथवा अमर्याद परिग्रह का भी निषेध किया है । कही-कही निर्वाह के लिये किये जाने वाले श्रम का भी निषेध किया गया है और कही तो दिगम्वर दशा का आदर्श उपस्थित किया गया है ।

हमें चाहिये कि हम इन सब वचनों का महत्त्व एकसा न समझें ।

अपरिग्रह के मूल में यह दृढ़ श्रद्धा रहती है कि परमेश्वर सब प्राणियों का पालक और पोषक है—'जब दांत न थे तब दूध दियो, अब दांत दिये कहा अन्न न दे है' फिर अन्न भी वह इतना ही नही देगा कि केवल प्राण शरीर में टिके रहे, बल्कि सब वास्तविक जरूरतें पूरी कर देगा । गरीब और अमीर का भेद देखकर आमतौर पर हम ऐसी शिकायत करते है कि समाज मे न्याय-नीति नही है, किन्तु अपरिग्रही साधु इस विषय में दो प्रकार के विचार प्रदर्शित करते हैं । कुछ तो कहते है :—

राम झरोखे बैठ कर, सबका मुजरा लेत ।
जितनी जाकी चाकरी, उतना वाको देत ॥

अर्थात् राम प्रत्येक को उसकी पात्रता के हिसाब से देता है । फिर कई बार वे यह भी कहते है कि परमेश्वर "चींटी को कन व हाथी कों मन" देता है। अर्थात् प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार देता है । सारांश यह कि किसी को ज्यादा व किसी को कम मिलता है, उसका कारण परमेश्वर का अन्याय नही, बल्कि उसकी दृष्टि मे उन व्यक्तियों की पात्रता या आवश्यकता इतनी ही है । अधिक उखाड-पछाड करने वाला वैसा करके भी अधिक प्राप्त नही कर सकता । इसके विपरीत ऐसा भी अनुभव होता है कि जो त्याग का प्रयत्न करते है, उन्हें कई बार अपनी इच्छा से अधिक स्वीकारना या भोगना पडता है। इसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर की दृष्टि में किसी की पात्रता या आवश्यकता अधिक हो, तो वह उसे जबरदस्ती भी अधिक उपभोग की सामग्री प्रदान करता है ।

कुछ लोगों को ये बातें अबुद्धि की लगेंगी । पर बात यह है कि आमतौर पर लोगों को यह अन्देशा रहता है कि यदि हम समय पर सम्पत्ति का सग्रह न कर लेंगे तो कठिनाई मे पड़ जायेंगे और इसलिये वे उसे बढ़ाने की चिन्ता करते रहते है, परन्तु कई मनुष्य अपना यह अनुभव बताते है कि उन्हे परिग्रह-त्याग से जीवन मे कभी कोई कठिनाई नही हुई । जंगल भी उनके लिये मंगल बन गया है । उनकी जरूरते अकल्पित रूप मे पूरी हो गयी है, और केवल मनुष्य ही नही बल्कि प्राणी और जड़ सृष्टि भी इस तरह उनके अनुकूल हो गयी है, मानो उनकी सेवा ही करना चाहती हो । अतएव उनका यह विश्वास हो गया है कि

जो लोग चिन्ता करते है और आशंका में रहते हैं वे ईश्वर के प्रति अपनी अश्रद्धा के कारण ही दुःख पाते हैं। जो लोग परमेश्वर पर विश्वास रखते है, उनकी चिन्ता वह खुद ही रखता है। किन्तु जो अपनी दीर्घदृष्टि, मितव्ययता, होशियारी, मेहनत आदि पर विश्वास रखते है, उनको भी देता तो वही है, परन्तु उनके द्वारा कल्पित तरीके से देता है। इससे उन्हे यह मालूम नही पड़ता कि हमें भी परमेश्वर ही देता है, बल्कि यह आभास होता है कि हमें वह अपने पुरुषार्थ से मिलता है।

चूंकि सन्तों को परमेश्वर के इस विश्वम्भत्व के विषय में बार-बार अनुभव हुआ है, उनके मन में व्यवहारी मनुष्य की परिग्रह-सम्बन्धी चिन्ताओ के प्रति अनादर रहता है। इसके विपरीत व्यवहारी मनुष्यों को कठिनाइयों और दु.खों का वार-बार अनुभव होता रहता है, और वे देखते है कि जिन लोगों ने ऐसे अवसरो के लिये परिग्रह रख छोड़ा है, वे मजे मे रहते है। अत. भक्तो की ऐसी वाणी में उन्हें केवल भावुकता मालूम होती है, इसके अलावा कई बार वे यह भी देखते है कि बहुत से साधु अपने तन का आलस्य ढाकने के लिये ही ऐसी बाते कहा करते है, क्योकि वे अपनी जरूरतों के लिये परिग्रही व्यक्तियो को तग किया करते है, और उनकी उदारता पर ही अपनी जिन्दगी बसर करते है। इससे सन्तों के ऐसे वचनों पर उनकी श्रद्धा जमने नहीं पाती।

परन्तु सच वात तो यह है कि सन्तों के पास दो प्रकार की सम्पत्तियाँ होती है, जिनकी खुद उन्हें भी पूरी जानकारी नहीं होती, न परिग्रह वालो को ही होती है। फिर भी दोनों को उनकी थोड़ी बहुत कल्पना व कीमत भी होती है। ये दो सम्पत्तियाँ है—चारित्र और संकल्प-बल। मनुष्य खुद चारित्रवान हो या न हो, परन्तु चारित्र के प्रति थोड़ा बहुत आदर व पूज्यभाव लगभग सब लोगों के मन में होता है। अतः जब किसी सन्त मे वे सचमुच चरित्र-धन देखते है, तब उनके मन मे उसकी सेवा करने की प्रेरणा उठती है। सन्त को तो अपने चरित्र का अभिमान होता ही नही, अत' वह यह नही मानता कि ये जो मान, पूजा, सुविधाएँ उसे मिलती है, वे उसके चरित्र के कारण है, वल्कि यह मानता है कि यह सब परमात्मा की दया से मिल रहा है।

इस चरित्र-धन को जुटाने मे सतों के पूर्वजन्म का व्यवहार भी अपना महत्त्व रखता है। या तो उनका पूर्वजीवन समृद्धि मे बीता होगा और उसे त्याग कर उन्होने गरीवी अख्तियार की होगी, अथवा जव वे भी परिश्रम करके अपनी जीविका चलाते थे, तब अतिशय प्रामाणिकता, उद्योगशीलता और सतोष उनके जीवन के स्पष्ट लक्षण रहे होगे। फिर जव उन्होंने स्वयं परिश्रम करके निर्वाह करने का मार्ग छोड़ा तव आलस्य के कारण नही, वल्कि किसी विशेष उदात्त उद्देश्य के लिये छोड़ा होगा। यह चरित्र-धन तथा अपने उच्च उद्देश्य को सिद्ध

करने का तीव्र संकल्प जीवन की आवश्यकताओं की प्राप्ति मे वहुत कारणीभूत होते है। क्योकि आखिर जीवन की समस्त प्राप्तियो का मूल कारण तो आत्मा की सत्य-संकल्पता ही है। अतएव जहाँ कही तीव्र संकल्प है, वहां उसे सिद्ध करने के लिये आवश्यक सामग्री निर्माण करने की शक्ति भी मौजूद ही रहती है। इस तरह अपरिग्रही साधु को जो अकल्पित रूप से अपनी जरूरते पूरी होने का अनुभव होता है, उसका कारण यह है कि कसी उदात्त हेतु को सिद्ध करने का संकल्प वह करता है और उसके लिये इन जरूरतों को पूरा होना लाजिमी हो जाता है।

इस प्रकार साधु पुरुषों को वाह्य परिग्रह की या निर्वाह के लिये मेहनत करने की आवश्यकता नही दिखाई देती और अपने अनुभव के वल पर वे दृढता पूर्वक कहते है कि जिसकी जो जरूरत होगी, वह उसे अवश्य मिल जावेगी।

तात्पर्य यह है कि संसारी और साधु दोनो के अनुभवों में सत्यांश है। ससारियों को संग्रह के अभाव मे विपत्तियो का जो अनुभव होता है वह निर्विवाद है, परन्तु इससे वे सग्रह का महत्त्व जरूरत से ज्यादा समझ वैठते हैं। इधर सतो को यह स्पष्ट अनुभव होता है कि वे जो चाहते है सो उन्हें जरूर मिल जाता है। इससे वे परिग्रह को ही नही वल्कि श्रम की भी कीमत कुछ नही समझते और इस वात को भूल जाते है कि उनकी जरूरतें पूरी करने के लिये किसी न किसी को परिग्रह और श्रम की चिन्ता करनी ही पड़ी है।

अधिक सत्यपूर्ण विचार इन दोनों के वीच में है, यानी

१. परिग्रह और मालिकाना हक में भेद करने की जरूरत है, और श्रेयार्थी पहले तो जितना हो सके स्वामित्व का भाव घटावे अर्थात् जिसको आवश्यकता हो उसे अपने परिग्रह का उपभोग करने की अधिक छूट दें। हाँ, आज की परिस्थिति में इस विचार की कार्यरूप मे परिणति एक सीमा मे ही हो सकती है, परन्तु इस दिशा मे प्रयास करने की आवश्यकता जरूर है।

२. परिग्रह और श्रम का भी भेद समझना जरूरी है। कोई व्यक्ति अपरिग्रह का आदर्श रखे तो हो सकता है कि उसमें न तो कोई वुराई हो और न समाज को ही कोई हानि पहुँचे, परन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसा विचार रखे और उसका प्रचार करे कि 'अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम', तो इससे समाज की अवश्य हानि पहुँचेगी और पाखण्ड तथा आलस्य की वृद्धि होगी। इसके विपरीत यह सिद्धान्त कि सिर्फ आज की ही रोटी कमा लो (अर्थात् मेहनत करके प्राप्त करो) श्रम-पोषक होते हुए भी अपरिग्रह का है और श्रेयसाधक भी है।

३. फिर परिग्रह और हिफाजत के भेद को भी समझ लेना चाहिए। जो चीज इस्तेमाल से आज ही घिस या विगड़ नही जाती उसे जतन से रखना

परिग्रह तो है, परन्तु यह एक सद्‌गुण है और आवश्यक है। ऐसा न करना दोष मे शामिल है। किन्तु केवल संग्राहक बुद्धि से ऐसी चीजों का जत्था बढ़ाते ही जाना अतिरेक है। ऐसा ही समझना चाहिये कि संतों ने जो परिग्रह पर प्रहार किया है, वह ऐसे अतिरेक पर है।

४. यह समझ लेने की आवश्यकता है कि अपरिग्रह तथा परिग्रह दोनों सिद्धान्त उड़ाऊपन के खिलाफ है। जिस चीज के उपभोग की आज जरूरत नहीं है उसको भी परिग्रह न रखने की दृष्टि से खर्च कर डालना अपरिग्रह नही, वल्कि पदार्थो पर अत्याचार है अथवा स्वेच्छाचारिता है। इसी तरह अपने उपभोग के लिये सृष्टि के समस्त रस-कस को अधिक से अधिक खीच लेने की वृत्ति रखना मनुष्य का प्रकृति पर अत्याचार है। अपरिग्रह के सूक्ष्म अर्थ का विचार करे तो मालूम होगा कि साहूकारों की स्थापित सर्राफे की दुकानों पर या निजी तिजोरियो पर विश्वास रखने के बदले ईश्वर के प्राकृतिक बैंक पर विश्वास रखना अपरिग्रह का आचरण है। परन्तु इस प्रकार मनुष्य के स्थापित बैंक में से जितना रुपया रोज उठाया जाय उतना फिर जमा करने की चिन्ता न की जाय, तो फिर एक दिन अपना खाता वहाँ से उठ ही जाता है। इसी तरह इस प्राकृतिक बैंक से रोज-ब-रोज जितना हम खीचते है उतना ही हमे जगत् की भिन्न-भिन्न रूप मे सेवा व श्रम के द्वारा फिर प्रकृति को लौटा देना चाहिए। जो ऐसा नही करता है उसका विश्वास "अपरिग्रह' के या "ईश्वर सबका पालन-पोषण करता है". इस सिद्धान्त पर नही बैठ सकता। अतः कुदरत का मितव्यय से उपभोग करना परिग्रही या अपरिग्रही दोनो के लिये समान रूप से आवश्यक नियम है। इससे यह भी समझ में आयेगा कि कुछ साधुओ के अपने हाथ मे आई मनुष्योपयोगी चीजो को चाहे जहाँ फैंक देने, या हर किसी को देकर उनको बरबाद करने, या उन्हें लुटाकर अपनी धन-सम्बन्धी उपेक्षा बताने में प्रायः अविवेक ही होता है। किसी भी वस्तु का त्याग उचित रीति से और उचित मात्रा में ही करना चाहिये।

५. चरित्र और उदात्त संकल्प भी एक प्रकार का धन ही है। अतएव हमें यह समझना चाहिये कि केवल बाह्य सामग्री एकत्र करने के लिए किये गये श्रम से ही निर्वाह नही होता, बल्कि उसके जुटाने में चरित्र व उदात्त संकल्प भी कारणीभूत होते है, और इसलिये उन्हें बढाने का प्रयत्न करना और उन पर विश्वास रखना भी सीखना चाहिये।

६. (हमारे परिग्रह और भोगो की एक सीमा होनी चाहिये। अपने समय मे उनकी क्या मर्यादा होनी चाहिये, इसका विचार सुज्ञजनों को स्वय करते रहना चाहिये।) समझना चाहिये कि भोगो की विविधता और रसिक वृत्ति जीवन का आदर्श नही बल्कि सादा, मेहनती व अल्पसाधन युक्त जीवन ही सच्चा जीवन है।

७. सोना, चादी, जवाहरात आदि को उनकी उपयोगिता के मुकावले में जरूरत से ज्यादा महत्त्व मिल गया है। सिक्के के तौर पर इनका उपयोग जो लाजिमी वना दिया गया है, वह बहुत अनर्थों का कारण हुआ है। किन्तु यह विषय अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। अतएव यहाँ उसकी चर्चा ज्यादा नहीं हो सकती। यहाँ तो इतना ही कह सकते है कि रसिक पुरुष गहने आदि के रूप में इनका व्यवहार करेंगे ही और संभव है इसका कोई इलाज हमें न भी मिले, परन्तु सिक्के के रूप मे इनका उपयोग लाजिमी कर देना अर्थ व श्रेय दोनों का विरोधी है। अत. श्रेयार्थी को इनका परिग्रह करने के मोह में न पडना चाहिये।



अपरिग्रह का आदर्श

यूनान के सत अफ़रायत का जीवन अत्यन्त सरल था, वे सादगी और पवित्रता में विश्वास करते थे। वे एथेन्स नगर के बाहर एक गुफा मे निवास कर ईश्वर चिन्तन करते थे। वे सूर्यास्त के वाद केवल एक रोटी खाकर अपनी क्षुधा शान्त करते थे। एक साधारण चटाई पर सोते थे। वे एक मोटा-सा वस्त्र धारण करते थे।

एक दिन वे अपनी गुफा से वाहर बैठे थे कि सम्राट फिलिप उनसे मिलने आया।

सत को भेट देने के लिये अपने साथ वह वेशकीमती वस्त्र भी लाया था। सम्राट ने संत का अभिवादन कर कहा—"ये वस्त्र उच्चकोटि के कारीगरों द्वारा निर्मित है, कृपया इन्हें स्वीकार करें।"

सत ने शान्त भाव मे उत्तर दिया—"फिलिप, क्या आप इसे ठीक समझते हैं कि एक पुराने स्वामिभक्त नौकर को इसलिये निकाल दिया जाय कि दूसरा नया व्यक्ति उससे ज्यादा खूवसूरत और काम करने वाला है।"

"नही, ऐसा तो कदापि उचित नही है।" सम्राट ने उत्तर दिया।

"तो फिर अपने वस्त्र वापस ले जाइये। मैंने जिस वस्त्र को वीस वर्षों से अनवरत धारण किया है उसके रहते दूसरा नही रख सकता। मेरी आवश्यकता इसी से पूरी हो जायगी।" सत ने कहा।

इस प्रकार संत की पवित्र अपरिग्रह वृत्ति मुखरित हो उठी। सम्राट फिलिप वस्त्र लेकर वापस चला गया।

☐ श्याम मनोहर व्यास

४१

अपरिग्रह का अर्थशास्त्र

☐ श्री भगवानदास केला

मनुष्य ने सम्पत्ति-निर्माण करने की योग्यता समाज से—अपने समकालीन समाज से ही नहीं, अपने पूर्वकालीन समाज से भी—प्राप्त की है। योग्यता प्राप्त करने के बाद भी आदमी अकेला किसी सम्पत्ति का निर्माण या उत्पादन नहीं कर सकता। उसे इस काम के लिए समाज का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य है, बिना इसके किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का निर्माण हो ही नही सकता। इससे स्पष्ट है कि सब सम्पत्ति समाज की मानी जानी चाहिये, उस पर समाज का ही अधिकार है, व्यक्ति विशेष का नही।

सम्पत्ति में व्यक्ति का हिस्सा

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सभी कुछ समाज का है तो क्या व्यक्ति का कुछ भी नही? व्यक्ति भी समाज का अंग है, और उसने भी सम्पत्ति उत्पन्न करने में कुछ भाग लिया है। इसलिए उत्पन्न सम्पत्ति में व्यक्ति का भी हिस्सा होना जरूरी है। अच्छा, उसको कितना हिस्सा मिले, अर्थात् व्यक्ति के हिस्से का परिमाण क्या हो? इसका निर्णय उत्पन्न सम्पत्ति के परिमाण और व्यक्ति की आवश्यकता का विचार करके किया जाना चाहिए। अब, सम्पत्ति के परिमाण का तो हिसाब लगाया जा सकता है, पर व्यक्ति की आवश्यकताओं का निश्चय कैसे हो? इसका भी निश्चय हो सकता है। अच्छा है, व्यक्ति स्वयं ही यह निश्चय करे। इसका विचार करते हुए उसे यह ध्यान रखना होगा कि जिस समाजरूपी परिवार का वह एक सदस्य है, उस समाज के दूसरे सदस्यों को वे पदार्थ कहाँ तक मिलते है?

इस विषय में यह स्पष्ट है कि प्राय: मनुष्यों की वास्तविक या बुनियादी आवश्यकताओं में कोई बहुत बड़ा अन्तर नही होता। हजारों में एकाध को अपवाद रूप छोड़ दे तो लोगो के खाने-पीने की सामग्री में थोड़ा ही फर्क रहता है। कोई आदमी दूसरों से दस-बीस गुना नही खाता। सर्दी-गर्मी से रक्षा करने के लिए लोगों को कपडा भी बहुत कुछ समान ही चाहिए। पर आदमी जीभ के स्वाद या शौकीनी के लिए बहुत अधिक परिमाण में भोजन करता है, और दिखाने के लिए जरूरत से ज्यादा कपड़ा पहनता है, और संग्रह करके रखता है। इसी तरह अन्य घरू सामान में परिग्रह की भावना होती है। कृत्रिम आवश्यकताओं के प्रति आकर्षण या मोह हटाने या अपरिग्रह रखने की जरूरत है।

परिग्रह की भरमार

प्राय: आदमी को जितनी चीज की उसे वास्तव में जरूरत होती है, उससे बहुत अधिक अपने पास रखता है। उसे आशंका रहती है कि पीछे यह चीज मिले या न मिले। वह सोचता है कि आज के लिए ही नही, कल के लिए भी, इसी माह के लिए नही, अगले माह के लिए भी, इसी साल के लिए नही, अगले साल के लिए भी तो चाहिये। यही नही, वह अगली पीढ़ी के लिए भी संग्रह करके रखना चाहता है। इसी प्रकार उसके संग्रह की सीमा नही रहती, उसकी अधिकाधिक की चाह बनी रहती है। यहाँ तक कि वह उस चीज की ठीक सार-सभाल भी नही कर पाता। वह यह नहीं सोचता कि मेरे पास जो चीज अधिक पड़ी है, उसकी समाज मे अन्य लोगों को कितनी जरूरत है।

संग्रह चोरी है

जो लोग बहुत अधिक संग्रह करके रखते है—अधिकांश आदमी अपनी असली जरूरत से ज्यादा सम्पत्ति रखते है वे समाज के प्रति कितने क्रूर, निर्दय और दोषी हैं, इसका वे विचार नही करते। सब लोग कहते है और मानते हैं कि चोरी नही करनी चाहिए, चोरी करना पाप है। पर विचार कर देखा जाय तो चोरी के अपराध से कौन मुक्त है, क्योंकि जिस चीज की मुझे आज जरूरत नही है, उसे अपने पास रखना और दूसरों को उसके उपभोग से वंचित करना चोरी ही है। कहा गया है—'मनुष्यो का अधिकार केवल उतने ही धन पर है जितने से उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्ति को जो अपनी मानता है, वह चोर है, और उसे दण्ड मिलना चाहिए। [भागवत ७/१४/८]

चोरी और अस्तेय : गाँधीजी के विचार

गाँधीजी ने कहा है—'दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना तो चोरी है ही, पर मनुष्य अपनी मानी जाने वाली चीज की भी चोरी करता है—जैसे एक बाप अपने बच्चो को जनाये बिना उनसे छिपाने की नीयत रख कर गुपचुप कोई चीज खा ले। पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीज की जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकार में वह है उससे चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही ले, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसार मे ज्यादा से ज्यादा खाने की चीजों के सम्बन्ध मे होती है। मुझे अमुक फल की जरूरत नही है, फिर भी मैं उसे खाता हूँ, तो वह चोरी है। वस्तुत: अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है, और प्राय. हम सब अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतो को घटा सकते हैं। अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी

आवश्यकताएँ कम करता जायगा। इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भंग से हुई है। ['मंगल प्रभात' पुस्तक से उद्धृत]

अस्तेय व्रत : शरीर-परिश्रम द्वारा सम्पत्ति-निर्माण

अस्तेय व्रत की विशेषता यह है कि यह अर्थप्राप्ति के साधन पवित्र रखने पर जोर देता है। यह अर्थप्राप्ति की पद्धति का नियमन करता है। श्री विनोबा ने बताया है कि अस्तेय कहता है—"शरीर का निर्वाह मुख्यतया शरीर-श्रम से, याने उत्पादक परिश्रम से होना चाहिए। शरीर-श्रम के बगैर अगर हम अन्न खाते है तो हम एक खतरा पैदा करते है। सर्व सामान्य लोगों के लिए अस्तेय पालन तभी होगा, जब, जिसे शारीरिक क्षुधा है, वह शारीरिक परिश्रम करे। दुनिया की आज की बहुत सी विषमताएँ, बहुत से दुःख और बहुत से पाप शरीर-श्रम को टालने की नीयत से पैदा हुए हैं। वैसी नीयत रखने वाला गुप्त या प्रकट रूप से चोरी करता है। इसलिए अस्तेय व्रत शरीर-परिश्रम द्वारा सम्पत्ति-निर्माण पर जोर देता है। ['सर्वोदय', दिसम्बर, ५२]

अपरिग्रह : समाज से ऋण-मुक्ति

जिस प्रकार अस्तेय अर्थशक्ति की पद्धति का नियमन करता है, अपरिग्रह प्राप्त करने योग्य धन के परिमाण का नियमन करता है। आचार्य विनोबा के शब्दो में "शरीर-परिश्रम से जो उत्पन्न होगा, उसी का उपयोग करेंगे, ऐसा नियमन हम मानते है तो अपरिग्रह की बहुत सी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि शरीर-परिश्रम से इतना अत्यधिक पैदा हो ही नही सकता कि उसमें से मनुष्य ढेर संग्रह कर सके।" लेकिन फिर भी अस्तेय के साथ अपरिग्रह के अलग नियमन की जरूरत रह जाती है। यद्यपि शरीर-परिश्रम से अत्यधिक पैदा नहीं हो सकता, तथापि अधिक पैदा हो सकता है। और अगर उसका भी उपयोग दूसरों को दिये बगैर किया जाता है तो खतरा पूरा नही टलता। बचपन से हमने अनेक का उपकार ले लिया है। उसकी निष्कृति के लिए शरीर-परिश्रम के मान्य तरीके से भी जो हमने कमाया हो, उसका हिस्सा समाज को देना लाजमी हो जाता है। उसमे सम्यक् विभाजन का उद्देश्य होता है। इसलिए वह दान का स्वरूप है, यद्यपि यह ऋण-मुक्ति का प्रकार है।

समाज में चोरी और भिक्षा-वृत्ति को मिटाने के लिए अपरिग्रह को आवश्यकता

जब समाज में कुछ आदमी बहुत अधिक संग्रह करेंगे तो दूसरों को उनकी आवश्यकता के लिए भी काफी न मिलेगा। कही-कहीं ऊँचे टीले बनाये जायेंगे तो दूसरे स्थानों में गहरे गड्ढे रहने वाले ठहरे। जिन लोगों को शरीर-यात्रा के लिए खाना-कपड़ा नही मिलेगा, वे चोरी करेंगे या भीख मांगेंगे। अगर हम

जायेगा। बैंकों आदि में या किसी व्यक्ति विशेष के पास इनको बड़े परिमाण मे रखा ही नही जायेगा। जुदा-जुदा घरों में भी इनके रखने की ऐसी बात न होगी। अपवाद-रूप, कुछ विशेष अवसरों पर काम में लाने के लिए ये बहुत परिमित रूप में ही रखे जा सकेंगे। इनका अधिक संचय चोरी के माल की तरह अप्रतिष्ठाजनक समझा जायगा।

इस प्रकार जब समाज में अपरिग्रह होगा, तो उसका व्यावहारिक रूप यह होगा कि सम्पत्ति खास-खास व्यक्तियों के पास बहुत अधिक—उनकी आवश्यकता से कही अधिक न होकर, वह घर-घर में बंटी रहेगी, जिससे वह सब के काम आये, कोई उसके उपयोग से वंचित न रहे। जैसे रक्त या खून शरीर के सब अंगों में समान रूप से होने से शरीर शक्तिमान होता है; और एक अंग में बहुत अधिक और दूसरे अंगों मे बहुत कम होने से शरीर सुडोल नही होता और ठीक काम नहीं करता, इसी प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पास जीवन के लिए आवश्यक साधन-सम्पत्ति होने से समाज-रूपी शरीर शक्तिमान और सुखी होगा।

कुछ बुनियादी मान्यताएँ

अपरिग्रही समाज के मनुष्य के लिए कुछ मान्यताएँ जरूरी हैं। उदाहरण के लिए उसके व्यक्तियो को मानना चाहिए कि—

१. परमात्मा हम सब का परम पिता है। हम सब उसकी संतान हैं। इसलिए ससार में सब मनुष्यो मे भाईचारे की भावना होनी चाहिए।

२. किसी भी प्रकार की सम्पत्ति हो, वह प्रकृति—भूमि, जल, वायु, आकाश और प्रकाश से मिलती है या उसकी सहायता से बनती है। पृथ्वी हम सबकी माता है। उससे या उसकी सहायता से प्राप्त सब सम्पत्ति पर सब का समान अधिकार है। इसलिए जैसे जल वायु, आकाश और प्रकाश का सबको आवश्यकतानुसार उपयोग करने का अधिकार है, इसी तरह भूमि भी सबको उनकी आवश्यकता के अनुपात से सुलभ होनी चाहिए।

३. सम्पत्ति का उत्पादन समाज की सहायता बिना नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति सम्पत्ति का उपयोग अपनी आवश्यकता के अनुसार ही करे उससे अधिक अपने पास रखकर दूसरो को उसके उपयोग से वंचित न करे। समाज हित की दृष्टि से ही आदमी को किसी सम्पत्ति का उपयोग करना चाहिए।

४. सम्पत्ति सब घर-घर बटी हुई हो। निकम्मी चीजो का संग्रह तो बिल्कुल ही न किया जाना चाहिए। अच्छी उपयोगी चीजो के संग्रह मे ऐसा क्रम

रहे कि जो चीज जितनी कम उपयोग में आये, उतनी ही कम संग्रह की जाय। पैसे का संग्रह बहुत ही कम, कुछ विशेष दशाओं में उपयोग के लिए हो। सम्पत्ति के लिए शरीर-श्रम किया जाय, जीवन श्रम-प्रधान हो।

अपरिग्रह केवल साधु-संन्यासियों के लिए नहीं, "समाजाय इदम्"

अपरिग्रह की बात कुछ नयी नही है। बहुत पुराने समय से विचारकों द्वारा इसका आदर्श उपस्थित है। परन्तु अहिसा, सत्य आदि अन्य गुणो की भाँति यह अभी तक व्यक्तिगत प्रयोग के लिए माना गया है। गाँधीजी ने विविध जीवन-सिद्धान्तो का सामाजिक क्षेत्र मे, सामूहिक पैमाने पर उपयोग किया। किन्तु अब भी अधिकतर आदमी इन्हे साधु-संन्यासियों के लिए ही ठीक मानते है। आवश्यकता है कि सभी आदमी—वे किसी भी क्षेत्र में काम करने वाले हो—इन्हें अच्छी तरह अपनावे। श्री विनोबा ने कहा है—

'सामान्य लोग अपरिग्रह के विचार को इतना बड़ा मानते है कि वह तो गाँधीजी या विनोबा जैसे कुछ संन्यासियो के लिए ही हो सकता है, ऐसा उनका ख्याल है। समाज मे व्यवस्था भी कुछ इस तरह की हुई कि अपरिग्रह कुछ खास लोगों के लिए सुरक्षित रखा गया। गृहस्थ ने उसे अपनी मर्यादा के बाहर माना, यद्यपि अन्तिम लक्ष्य के तौर पर उसने उससे इन्कार नही किया, परन्तु सन्यासियों और फकीरों के आदर्श को अपना अन्तिम लक्ष्य मानकर भी उसने अपने जीवन की रचना परिग्रह के आधार पर ही रखी।

"लेकिन जब आप एक धर्म-विचार के ही ऐसे टुकड़े कर देते है कि वह कुछ खास लोगों के लिए सुरक्षित है, तव उससे समाज का कल्याण नही हो सकता। और ऐसा हुआ भी। गृहस्थ-जीवन में परिग्रह को स्थान देने से कुछ भलाई तो हुई, परन्तु कुछ लोगों ने परिग्रह को अपना हक मान लिया और जब कुछ लोगों ने परिग्रह को लाजमी माना तो धर्म-विचारको ने भी लोभी लोगों के मुकाबले के लिए उसे जायज माना। देखते-देखते निर्लोभी भी लोभी बन गये। ... परिग्रह और अपरिग्रह के बीच इस तरह की दीवार खड़ी हो गयी और जो ज्यादा परिग्रही बने, जिन्होंने परिग्रह की कोई मर्यादा ही नही मानी, वे दुनिया के सिर पर सवार हो गये।"

इन सबसे मुक्ति दिलाने का मार्ग वताते हुए विनोवा जी ने कहा—"जिस तरह यज्ञ मे आहुति देते समय हम कहते है कि "इन्द्राय इदम् न मम, वरुणाय इदम् न मम" (यह इन्द्र के लिए है, मेरा नहीं है, यह वरुण के लिए है, मेरा नही है), उसी तरह आज हम जो भी उत्पादन करें, चाहे वह खेती में करते हों या फैक्ट्री में, हमें मानना चाहिए कि वह "समाजाय इदम् न मम, राष्ट्राय इदम् न मम" है। (यह समाज के लिए है, मेरा नही है, यह राष्ट्र के लिए है, मेरा नही

है)। हर आदमी अपने मन से कहेगा कि तू तो समाज में एक नौकर के रूप मे काम करेगा और समाज तुझे जो देगा, उसे तू स्वीकार करेगा। हरेक के दिल में यह भावना होनी चाहिए कि जो सम्पत्ति मेरे पास है, जो खेती मेरे पास है, जो अक्ल मेरे पास है, जो परिवार मेरा है, वह सब समाज के लिए है। अगर हमे वैभव बढ़ाना है, सम्पत्ति और लक्ष्मी बढानी है, तो वह सब समाज की बढानी है। समाज-रूपी नारायण की लक्ष्मी होगी। हम तो उस नारायण के केवल सेवक मात्र हैं।"

अपरिग्रह पर आधारित समाज-रचना

विनोबाजी कहते हैं—"हमें तो अपरिग्रह के आधार पर समाज निर्माण करना है। अपरिग्रह का अर्थ यह नहीं कि शंकर की तरह भभूत लगाकर बैठ जाना। भभूत तो लगानी है, पर कुबेर को भी हाथ में रखना है। यह कुबेर घर-घर मे होगा और इस तरह समाज में सबके लिए सम्पत्ति होगी। आज भविष्य की चिन्ता सबको करनी पड़ती है, लेकिन फिर चिन्ता भविष्य की तो क्या, शाम की भी नहीं करनी होगी, क्योकि सबको सब चीजें सदा के लिए उपलब्ध हो सकेंगी। और अगर जवानी में हम अपरिग्रह की साधना करते है तो वृद्धावस्था में समाज को हम भार-भूत नही बनेंगे। ऐसे अपरिग्रही सेवकों की बुद्धि का वृद्धावस्था तक अत्यन्त विकास हुआ होगा।"



धन और धर्म

अपने मन, मस्तिष्क और हृदय मे निश्चित धारणा बना लीजिये कि धन कभी तारने वाला नही है, धर्म ही तारने वाला है। यदि आप लक्ष्मी के दास न बनकर लक्ष्मी के पति बन गये तो लक्ष्मी आपके चरण चूमती रहेगी।

□ आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

४२

अपरिग्रह की दो दृष्टियाँ

□ श्री जवाहरलाल जैन

दुनिया की सभी धर्म-परम्पराओं ने अपरिग्रह, असंग्रह, सादगी और स्वैच्छिक गरीबी को आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्यत: आवश्यक माना है। जैन तथा योग परम्परा में अपरिग्रह या असंग्रह को पांच महाव्रतों में मान्य किया गया है। ईसा मसीह ने स्वैच्छिक गरीबी को ईश्वरीय राज्य की आवश्यक शर्त माना है। उन्होने कहा कि गरीबों को ही विश्व का उत्तराधिकार मिलेगा। परिग्रह की निन्दा में उन्होने यहाँ तक कहा कि सुई के छेद में से ऊंट का निकलना संभव भी हो सकता है, पर धनी का प्रवेश स्वर्ग में हो जाना बिल्कुल असम्भव है। इस्लाम धर्म में भी संयम, गुरबत और फकीरी की सराहना की गई है।

पर जैन परम्परा में परिग्रह और अपरिग्रह का विश्लेषण और विस्तार जितना किया गया है, उतना अन्य किसी परम्परा में नही मिलता। वस्तुओं के ममत्वमूलक संग्रह को परिग्रह कहा गया है। ममत्वमूलकता का ही दूसरा नाम आसक्ति है। आसक्ति से परिग्रह बढ़ता है और परिग्रह से आसक्ति बढ़ती है। जितनी आसक्ति बढ़ती है उतनी ही हिसा बढती है तथा समाज में विषमता को वढावा मिलता है।

परिग्रह नौ प्रकार के माने गये हैं:—(१) क्षेत्र, (२) वस्तुएं, (३) हिरण्य, (४) सुवर्ण, (५) धन, (६) धान्य, (७) द्विपद, (८) चतुष्पद, (९) कुप्य। श्रमण के लिए सव प्रकार का परिग्रह अनुचित माना गया है। वह स्वयं कोई संग्रह करता नहीं, दूसरों से कराता नहीं तथा करने वालों का समर्थन करता नहीं। श्रमण पूर्णतया अनासक्त और अकिंचन रहता है। अपरिग्रह व्रत की पूर्णता के लिए पांचो इन्द्रियों के विषयों—रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श के प्रति पूर्ण अनासक्ति का भाव आवश्यक माना गया है। इस ममत्व अथवा आसक्ति को ही हृदय-ग्रन्थि कहा गया है। जो इस ग्रन्थि को छेदता है, वही निर्ग्रन्थ कहलाता है। इस ग्रन्थि के छेदन के कारण ही महावीर सम्भवत: "निगण्ठ" कहलाये।

गृहस्थ साधक के लिए पूर्ण अपरिग्रह सम्भव नही है इसलिए उसके लिए अपरिग्रह के वजाय 'परिग्रह परिमाण' को अणुव्रत के रूप में मान्य किया गया। इसके अन्तर्गत उपर्युक्त नौ प्रकार के परिग्रह के संवंध में गृहस्थ अपने लिए

आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा निश्चित कर शेष समस्त वस्तुओं के ग्रहण एव संग्रह का त्याग कर देता है अर्थात् उन पर उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती। इस अपरिग्रह व्रत के पाच अतिचार भी बतलाये गये है जिनसे आड़े-टेढे चलकर उस सीमा के अतिक्रमण को रोका जा सके। दूसरी ओर तीन गुणव्रतों के द्वारा इस व्रत की रक्षा तथा विकास का भी प्रयत्न किया गया है। वे है :—(१) दिशा परिमाण व्रत, (२) उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत, (३) अनर्थ दण्ड विरमण व्रत। फिर इन गुण व्रतों के अतिचारों का विश्लेषण कर इनकी अनुपालना को दृढ़ करने का प्रयत्न किया गया है।

सारी दुनिया में विचारकों के सामने यह सवाल है कि समाज मे लोग गरीब-अमीर, दुःखी-सुखी, रोगी-स्वस्थ क्यो है और सत्कर्म करने वाले भी दु खी और अभावग्रस्त देखे जाते है और अत्याचारी-अनाचारी भी सुखी और समृद्ध दिखाई देते हैं, इस विचित्रता और विपमता के क्या कारण है ? इसका जवाव कुछ धर्मो ने ईश्वर को स्थापित करके दिया कि ईश्वर की मर्जी के खिलाफ एक पत्ता भी नही हिल सकता, इसलिए जो कुछ होता है उसकी मर्जी से, उसके आदेश से होता है अतः दुःख, हीनता, रोग आदि से वचना है तो वह ईश्वर की भक्ति से, उसकी दया से ही सभव है। अनीश्वरवादियो ने भलाई-वुराई को अच्छे-वुरे कर्मो का परिणाम माना, पर उसकी विचित्रता और विपमता के समाधान के लिए उन्हे पुनर्जन्म मानना पड़ा ताकि विपमता का जवाव पिछले जन्मों के नाम पर दिया जा सके। अनेक ईश्वरवादी धर्मो ने भी पुनर्जन्म तथा कर्मवाद स्वीकार किया।

इस विपमता और सांसारिक द्वन्द्व का आर्थिक समाधान मार्क्स और यूरोप के ईसाई समाजवादियों ने भी सोचा। उन्होने पाया कि सारे विश्व मे प्राकृतिक साधनों के विपम वितरण और निजी सम्पत्ति के विचार और उत्तराधिकार की पद्धति के कारण लोगो के पास संपत्ति का विपम एकीकरण हुआ। प्राकृतिक साधनो मे धरती, खेत और गाव, कस्वे और नगर तथा खाने सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जल संवधी साधनों – नदी-नालो तथा समुद्र का भी इसमें भाग रहा। इन साधनो से प्राप्त उपज और उससे तैयार माल विपमता-मूलक मालिकी के कारण विपमता को वढाने वाले अर्थात् गरीव को अधिक गरीव और मालदार को अधिक धनी वनाने वाले होते गये। उत्तराधिकार के नियम के कारण मालदार वाप का वेटा विना परिश्रम के मालदार होता गया। फिर व्याज, किराया, मुनाफा, विजय और दान भी मालदार की मालदारी को वढाते गये। गरीव को गरीवी और कर्म ही उत्तराधिकार मे मिला और मालदार को जमीन, जायदाद, खेत, पशु और नकद धन मिला, जिनकी कीमतें अपने आप विना मेहनत के लगातार वढ़ती गईं तथा उनको वढ़ाने वाली मेहनत पर भी उसका अधिकार वढ़ता गया। मार्क्स का कथन है कि सारी निजी पूंजी चोरी

है—इसमें मेहनतकश की मेहनत से पूंजीपति के मालदार बनने की करुण कहानी छिपी है, यद्यपि इसमें सत्य का एक अंश ही है, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था, मान्यता और कानून, इस विषमता, शोषण और अन्याय के लिए जिम्मेदार है। सत्ता और सम्पत्ति के शोषको के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण यह संभव हुआ है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सम्पत्ति के समाजीकरण और व्यक्ति के अज्ञान को हटाने तथा उसके तप को अधिक तेजस्वी बनाने से ही समतापूर्ण, सहयोगी तथा उन्नतिशील समाज बन सकता है और मरने के बाद मिलने वाला कल्पित स्वर्ग और मोक्ष मानव को इसी जीवन में साकार हो सकता है।

शोषण करने वालों को सम्पत्तिविहीन कर देना चाहिए। इसे मार्क्स और उनके सहचिन्तकों ने क्रान्ति माना। रूस में लेनिन ने और चीन में माओ ने तलवार के जोर से व्यक्तिगत परिग्रह को समाप्त करने का प्रयत्न किया। पर वह स्वैच्छिक अपरिग्रह नही था इसलिए लोगो के मन मे से परिग्रह की मूर्च्छा समाप्त नहीं हुई और वे मुक्त जीवन की ओर अग्रसर नही हो सके। वे पूर्व की भांति ही हिंसा, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा और भोग में लिप्त रहे। टालस्टाय, हैनरीजार्ज, गांधी और विनोबा ने सत्ताधारियों, सामन्तों, पूंजीपतियों, औद्योगिकों और व्यापारियो द्वारा किये जा रहे शोषण को समझा और निजी सपत्ति-परिग्रह की मूर्च्छा और उसके अनौचित्य को भी समझा पर उस अपरिग्रह की प्राप्ति हिंसा और जोर-जबर्दस्ती से करने के बजाय प्रेम से, समझाने-बुझाने और अन्त में लोकतान्त्रिक कानून से करने का उपाय सुझाया। उन्होने कहा कि सारी निजी सम्पत्ति परिग्रह, पाप है, शोषण है, क्योकि प्रकृति के सारे साधन ईश्वर के है, समाज के है। इसलिए धरती और प्राकृतिक साधन मनुष्यो के अधिकार में रहने ही नही चाहिये। विनोबा ने ग्रामदान के द्वारा सारी भू सम्पत्ति पर से व्यक्ति का अधिकार समाप्त कर दिया और उस पर समाज का अधिकार स्थापित कर दिया। उपयोग का अधिकार समाज की ओर से व्यक्ति पर रहा। इस प्रकार भूमि तथा प्राकृतिक साधनों पर से जिसका अधिकार समाप्त हो जाता है, उसकी मूर्च्छा भूमि सबधी परिग्रह से समाप्त हो जाती है।

गाधीजी ने ट्रस्टीशिप के विचार द्वारा यह समझाने की कोशिश की कि सामान्य जन के स्तर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों के अलावा सारी सम्पत्ति-सारा परिग्रह समाज का है, उसका है ही नही। वह उस अतिरिक्त सम्पत्ति का समाज के हित मे ट्रस्टी मात्र है। ट्रस्टी के रूप में ही उसे इसका समाज के हित मे उपयोग करना चाहिये। गाधीजी ने कहा— "अपनी बुद्धि, कौशल और परिश्रम से मनुष्य चाहे जितना कमावे, पर उस कमाई में उसका कोई हिस्सा नही है, उसमें उसकी कोई मूर्च्छा नही होगी, उसका कोई मोह नही होगा। अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लायक सम्पत्ति को

छोड़कर सारी सम्पत्ति समाज की हो जायेगी और समाज के हित मे व्यय होगी। इस प्रकार प्रत्येक क्रम में एक ग्राम ट्रस्ट होगा, जिसमें सारी भू-सम्पत्ति निहित होगी और पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त सारी कमाई ट्रस्ट में जमा होती रहेगी। व्यक्ति और परिवार निजी उपभोग के लायक सीमित परिग्रह ही रखेंगे और बाकी सारा परिग्रह समाज के हित में अर्पित रहेगा। व्यवस्था इस ट्रस्ट की ग्राम सभा तथा उसके द्वारा निर्वाचित ट्रस्ट प्रबन्ध समिति द्वारा होगी और उसके संचालन मे सारे परिवारों के मुखिया शामिल होंगे। वे यथेष्ट कमाई करेंगे, पर सारी अतिरिक्त कमाई ट्रस्ट को सौंप देंगे और स्वयं लगभग अपरिग्रही संन्यासी की तरह रहेंगे। परिवार के सारे सदस्य भी न्यूनतम परिग्रह से अपना जीवन-यापन करेंगे। उनकी परिग्रह की मूर्च्छा समाप्त हो जायेगी और वे समाज सेवा के श्रम तथा तप के द्वारा श्रमण तथा तपस्वी बनेंगे। हिंसा और असत्य से वे मुक्त होगे और उनका जीवन सात्विक संतोष और आनन्द से परिपूर्ण हो जायेगा।"



वस्तु का उपयोग

एक बार प. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के यहाँ खुदीराम बोस नाम के एक सज्जन पधारे। विद्यासागर ने उन्हें नारंगियाँ खाने को दी! खुदीरामजी नारंगियों को छीलकर उसकी फाँकें चूस-चूसकर फैंकने लगे। यह देखकर विद्यासागर बोले—"देखो भाई! इन्हें फैंको मत, ये भी किसी के काम आ जायेगी।"

खुदीराम बोले—"इन्हे आप किसे देंगे?"

विद्यासागर ने हँस कर कहा—"इन्हें आप खिड़की के बाहर रख दें और वहाँ से हट जायें तो अभी पता लग जाएगा।"

खिड़की के बाहर उन चूसी हुई फाँकों को रखने पर कुछ कौए उन्हें लेने आ गये।

अब विद्यासागर ने कहा—"देखो! भाई, जब तक कोई पदार्थ किसी भी प्राणी के काम में आने योग्य है, तब तक उसे व्यर्थ नही फैंकना चाहिए। उसे इस प्रकार रखना चाहिये कि धूल-मिट्टी लगकर वह नष्ट न हो जाये और अन्य प्राणी उसका उपयोग कर सके।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने दीन-दुःखियो की सेवा करने के लिये अपना सर्वस्व दान कर दिया था। हर प्राणी की सेवा करना वे अपना कर्तव्य समझते थे।

☐ श्याम मनोहर व्यास

४३

अपरिग्रह : सुखी समाज का आधार

□ श्री रणजीतसिंह कूमट

बच्चे ने जन्म लिया नही कि रोना शुरू कर दिया। क्या चाहिये ? भूख लगी है—दूध चाहिये। माँ ने छाती से लगाया, दूध मिला और चुप। कुछ घडी बाद फिर भूख लगी, फिर रोया और फिर दूध मिलने पर चुप। कितनी सीधी सादी माँग है और कितना सरल उपाय है। पर आदमी का बच्चा रोता ही जन्मा है और जीवन पर्यन्त ही रोता है। मरते वक्त भी उसका रोना नहीं छूटता। विरले ही होते है जो इस रोने के क्रम से छूट पाते है।

बचपन का रोना तो सब समझते है। दया भी आती है। परन्तु जन्म भर यह आदमी क्यों रोता है ? जब तक मृत्यु नही आती। कभी वस्तु की चाह के लिये रोता है तो कभी चाही वस्तु के वियोग के लिये रोता है। कभी नही चाहने वाली वस्तु के मिलन से रोता है। कुछ न कुछ वस्तु उसे चाहिये। इसी चाह की पूर्ति की उधेड़बुन में वह जीवन भर रोता रहता है।

अब यह रोना केवल भूख-प्यास या कपड़ा-मकान का हो तो भी कोई बात है। अब तो चाह और कई गुना बढ जाती है। विकराल रूप भी लेती जा रही है। कोई अन्त नही है। धन चाहे करोड़ों में हो जावे परन्तु अभी चाह पूरी नही हुई। नौकर, चाकर, धन-धान्य, हीरा, जवाहरात सब हाजिर है। हुकूमत व सल्तनत भी हाजिर है। बांदियाँ, गुलाम और हूर की परियाँ भी हाजिर है। परन्तु इन सबके बाद भी क्या रोना बन्द हो गया ? अभी तो बहुत बाकी है। बस चाह का अन्त नही है।

अब चाह को पूरी करने में जुटा है। झूठ, चोरी, कपट, हिसा इन सबका उपयोग चाह को पुरी करने के लिए ही करता है। जब धन, जन, जमीन प्राप्त करने ही है तो सब ही उपाय आवश्यक है, औचित्य की कसौटी की कोई आवश्यकता नही। हिसा, चोरी और झूठ की जब सहायता ली जाती है तो किसी अन्य का हक छीना ही जावेगा, हत्या की ही जावेगी और अपने सुख के लिए किसी और का चैन समाप्त किया जावेगा। होड़ यही होगी कि कौन संग्रह में अधिक कुशल और ताकतवर है और दूसरो से बटोर कर स्वयं के खजाने में भरती कर सकता है। संग्रह की हविस में प्रियजन की हत्या, कपट के विभिन्न उपाय, चोरी, डकैती या अन्य कई जघन्य कृत्यों से इतिहास भरा पड़ा है और

आज भी यही क्रम चल रहा है। संग्रह की प्रवृत्ति एक वार चल पड़ी तो उस प्रवृत्ति के पोपण के लिए सब कर्म होते है जो वर्जित है। संग्रह संघर्ष की जड है जो न केवल दूसरो का सुख चैन छीनता है स्वय को भी अशान्त करता है। यही है परिग्रह जिसके त्याग के लिए महावीर ने आवाज उठाई और कहा— 'परिग्रह पाप का मूल है और इसके त्याग से ही धर्म है।'

संग्रह या परिग्रह पर आघात अन्य कई महात्मा व पैगम्वरों ने भी किया है। ईसा मसीह ने कहा 'सुई की नोंक से ऊँट का निकलना सम्भव है परन्तु स्वर्ग के द्वार से धनी आदमी का निकलना सम्भव नही है।' मोहम्मद साहव ने अपने धन का चालीसवाँ हिस्सा हर वर्ष जकात के रूप में देने का फरमान किया।

सग्रह या परिग्रह का सामाजिक व आर्थिक विश्लेपण जितना मार्मिक व यथार्थ ढंग से मार्क्स ने किया, उतना किसी अन्य दार्शनिक ने नही किया। मार्क्स ने सारे इतिहास और विश्व के क्रियाकलापों का आर्थिक दृष्टिकोण से विश्लेपण कर एक नया अर्थ दिया और वताया कि हम सब जो भी कार्य करते है या नीति की घोपणा करते है अपने निहित स्वार्थो के हितों की रक्षा के लिये करते है। राज्य जिसे हम अपने जीवन का आवश्यक अंग मानते है, वह भी निहित स्वार्थो के हितों के लिये वनी संस्था है। धर्म और इसके उपदेश भी पैसे वालों के व शक्तिशाली वर्गो की रक्षा के लिए वने है और गरीवों के लिए अफीम का कार्य करते हैं जिससे गरीव धर्म के नशे मे रहे और विद्रोह न करे।

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को हम प्राकृतिक देन मानकर चलते है और समाज मे जाति, वर्ग और विपमता को कर्मो का फल वताते है। परन्तु मार्क्स इस वात से सहमत नही है। प्रारम्भ मे कुछ ऐसे सिद्धान्त चले थे कि राज्य करने के लिये भगवान ही किसी को राजा के रूप में जन्म देता है और वही राज्य करने के लिए अधिकृत होता है। इन सिद्धान्तों से यही सिद्ध किया जाता था कि राज्य का राजा भगवान द्वारा निर्धारित है और उसकी आज्ञा का पालन करना जनता का कर्तव्य है। इस मान्यता के आधार पर राजा का प्राकृतिक साधनों को अपनी इच्छानुसार वाँटने व उपयोग करने का एकाधिकार मिला, कुछ लोग जो राजा के नजदीक थे, वे सभी सुविधाओ का उपयोग करते थे और शेप जनता उनकी सेवा या गुलामी करती थी। राजा के निर्देशन मे शोपण होता था और उसका औचित्य दार्शनिक देते थे कि यह भगवान के फरमान के अनुरूप है।

धीरे-धीरे अर्थ व्यवस्था वदली। कृपि का स्थान उद्योग ने लिया और पूँजीपति ने राजा का स्थान लिया। अव जिसके पास उत्पादन के साधन अधिक होंगे वही और अधिक उत्पादन कर सकेगा, मजदूरों को रोजगार दे सकेगा और उन पर आर्थिक व सामाजिक नियन्त्रण कर सकेगा। पूँजीपति मजदूरो का

शोषण करता है और अब अर्थव्यवस्था व राज्य का नियन्त्रण पूँजीपति करते है। राज्य का नया रूप बनता है। राजा का स्थान चुनी हुई ससद लेती है और चुने वे ही जाते है जिनको पूँजीपति का अनुमोदन है। यह सरकार अब पूँजीपतियो के इशारे पर चलती है और ऐसे नियम और कानून बनाती है जिससे पूँजीपति का पोषण हो, उसके हितों की सुरक्षा हा और उसे शोषण की पूरी छूट हो। कहने को यह राज्य प्रजातन्त्र है परन्तु यह ऊपरी दिखावा है। वास्तव मे नियन्त्रण उसी का है जो पूँजीपति या सरमायेदार है। जब तक उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण कुछ हाथो में है वे शेष जनता का शोषण करते ही रहेगे। यही वर्ग-सघर्ष की जड़ है। इससे समाज मे संघर्ष और विद्रोह पनपता है।

जब राज्य अपने हाथ मे है, कानून अपना पक्ष करता है और थोडी-सी मेहनत करने से संग्रह की चक्की आसानी से चल जाती है तो कौन मूर्ख होगा जो इस संग्रह की दौड़ में भाग नही लेगा ? जन्म से ही देखेगा कि यह जीवन सग्रह की दौड है और जो जितना इस व्यवस्था को तोड-मरोड़ कर फायदा उठाता है, वह उतना ही धनी और इज्जत वाला बनता है। जिसको जरा भी मौका मिलता है वह मध्य वर्ग से उच्च मध्य वर्ग की ओर दौड लगाता है और उच्च मध्यवर्ग से उच्चतम वर्ग की ओर दौड लगाता है। जिसके पास कोई साधन नही है, वह मजदूरी करना ही अपना भाग्य समझता है। यही उसका धर्म है। जीवन भर जूझता रहता है दो जून की रोटी के लिये। समझ मे उसके आता नही कि किस प्रकार वह अपना स्तर सुधारे। दार्शनिक और धर्म के नेता जब उसे यह उपदेश देते है कि जो कुछ आज हो रहा है, वह पूर्व संचित कर्मो का फल है तो अपनी गरीबी को पूर्व जन्म का फल मानकर संतोष कर लेता है। उसके मन में यदि कभी धनी व्यक्ति पर रोष भी आया तो धर्म की वाणी सुन कर शान्त हो गया। धर्म उसका यही रहा कि ईमानदारी से काम करे और जीवनभर मेहनत करे अपने वर्तमान जीवन को पूर्व कुकर्मो का फल समझ कर। यदि अच्छा धनी, चक्रवर्ती जैसा जीवन प्राप्त करना है तो इस जन्म में अच्छे कर्म करे जिससे अगला जन्म सुधरे। यदि यह धर्म की अफीम मिल गई कि अगला जन्म सुधारना है और उसके लिए इस जीवन में ईमानदारी व संतोप से रहना है तो फिर धनी वर्ग चैन से रह सकता है क्योंकि निर्धन वर्ग तो अपने वर्तमान को अपना भाग्य मानकर संतोष कर रहा है। संतोष उसका सबसे बड़ा धन है और वह धन धनी लोगो के करोडों रुपयो से भी वड़ा है। दोनों वर्ग भाग्यशाली रहे—धनी वर्ग चैन से सो रहा है कि कोई विद्रोह करने वाला नही और उनकी आत्मा को भी सक्लेश नही क्योकि जो धन उनके पास है वह पूर्व कर्मो के फल से है और उसकी मान्यता है कि यदि गरीब दुःखी है तो उसके पूर्व जन्म के कुकर्मो से। दूसरी ओर गरीब वर्ग सुखी है कि उन्होंने अगले जन्म की बुकिंग करा ली है और ईमानदारी से व सन्तोष से रह रहे है और सन्तोप रूपी धन सर्वश्रेष्ठ धन है।

धर्म की इस अफीम के बावजूद भी यदि कुछ सिरफिरे ऐसे मिले कि जो इस शोषण की प्रक्रिया को जान गये और वर्ग को भड़का कर आवाज उठाने की कोशिश करें तो राज्य के कानून और व्यवस्था ऐसी है जो उनको हमेशा दबाती रहेगी। कभी विद्रोह की आग को भड़कने ही नहीं देगी। इसके बावजूद भी कभी आग भड़की तो धनी वर्ग के पाले गुण्डे और लठैत उनको दबा देंगे और कानून उन गुंडों को कुछ नही कहेगा क्योंकि साजिश हो गई है। मुट्ठी गरम हो गई है। रिश्वत ने वह सब काम कर दिया जो अब तक कानून नही कर पा रहा था। कानून का अर्थ निकालने और कानून को लागू करने वाले को रिश्वत के माध्यम से अपनी तरफ कर लिया और अब जो गरीब वर्ग को दबाने की प्रक्रिया में समाज सुधारक कानून भी बाधक बने थे, उनको निष्प्रभावित कर दिया।

मार्क्स का मानना है कि यह सब व्यवस्था, कानून, धर्म और अनेकानेक संस्थाएँ जैसे अखबार, वकील, न्याय, सब धनी व प्रभावशाली वर्ग का समर्थन करने के लिए है। अतः इसका एकमात्र उपाय है कि संग्रह पर रोक लगाओ और कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक रखे ही नही। सब अपनी क्षमता के अनुसार समाज को दे और आवश्यकतानुसार ले। यह समाजवाद का आदर्शवादी सिद्धान्त मार्क्स ने द्रष्टा के रूप में देखा, प्रतिपादित किया और कल्पना की कि एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें न शोषक होगा न शोषित और तब किसी राज्य या सरकार की भी आवश्यकता न होगी। सब आदर्शवादी ढंग से रहेंगे और जब संग्रह किसी एक व्यक्ति या वर्ग के पास होगा ही नही तो संघर्ष भी नहीं होगा। यह आदर्श समाज के स्वरूप की चरम सीमा होगी।

कल्पना आदशवादी थी और वास्तव मे एक ऐसा आदर्श जहाँ सब भौतिक व मानसिक रूप से सुखी रह सकते हैं। परन्तु ऐसे समाज की स्थापना का जो मार्ग सोचा या बताया, वह कभी भी उस आदर्श तक नहीं पहुँचा सकता। इस ओर उसने कभी ध्यान नही दिया। उसने सोचा था कि पूँजीवादियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष होगा और एक दिन सगठित श्रमिक जीतेंगे व समाज के सारे उत्पादन के साधन समाज के अधीन कर लेंगे। जिस समाज का जन्म सघर्ष के मार्ग से होगा वहाँ से सघर्ष समाप्त कैसे हो सकता है ? संघर्ष पुनः संघर्ष को ही जन्म देगा चाहे उसका रूप पलट जावे। यही हुआ। सोवियत संघ व चीन ने संघर्ष से समाजवाद स्थापित किया, जबरदस्ती थोपा और लाखों व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये। आज भी सत्ता दल व अन्य वर्गों के मध्य संघर्ष है और नित प्रति झगड़े इसी बात के होते हैं कि कौन सत्ता को हथियाये ? मूल में प्रवृत्ति सत्ता व सग्रह की है और केवल जन साधारण पर समाजवाद थोपा हुआ है। वे भी जब मौका लगता है अपनी संग्रह प्रवृत्ति को जाहिर करते है।

महावीर, गांधी और मार्क्स के आदर्श में कोई अन्तर नही है। तीनों का आदर्श है कि समाज को हम क्षमता के अनुसार दे और अपनी आवश्यकता के अनुसार लें। संग्रह न करे बल्कि अपनी योग्यता या धन का लाभ दूसरों को दे। परन्तु मार्क्स आदर्श स्थापित करने के बाद आदर्श को प्राप्त करने के तरीके पर ध्यान नहीं देता जबकि महावीर और गांधी तरीके पर ही नही समाज के प्रमुख अंग 'मानव' और उसके मनोविज्ञान पर ध्यान देते है। जब तक मानव स्वय नही बदलेगा, ऊपर से थोपा हुआ तन्त्र अस्थायी रहेगा। मानव की प्रवृत्ति को बदले बिना स्थायी समाज का प्रादुर्भाव नही हो सकता।

भगवान महावीर ने अपरिग्रह को इसीलिए अत्यधिक महत्त्व दिया और अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर परिग्रह पर सीमा लगाने का उपदेश दिया। साधु के लिये तो पूर्ण अपरिग्रह का उपदेश दिया परन्तु गृहस्थ के लिये भी सीमित अपरिग्रह का। महावीर ने इस बात पर जोर नही दिया कि सीमा कितनी हो पर इस बात पर जोर दिया कि सीमा अवश्य बाधें। सीमा के उपरान्त जो भी आवे, वह समाज को अर्पण करें।

यह कितना मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। यदि भगवान महावीर अमुक सीमा बांधते तो आने वाले शिष्य या अनुयायी उस सीमा के औचित्य पर विवाद करते। परन्तु सीमा जब स्वय अपनी इच्छा से गृहस्थ बांध रहा है तो विवाद कैसा ? जोर इस बात पर नही है कि सीमा कितनी हो, जोर इस बात पर है कि सीमा अवश्य हो। आवश्यकता है मनोवृत्ति मे परिवर्तन की। व्यक्ति की इच्छा अनन्त है और इच्छा पूर्ण करने की सीमा नही। परन्तु महावीर ने कहा—इस इच्छा पर ही सीमा लगाओ और चाहे वह सीमा काफी दूर है इसकी परवाह न करो, परन्तु सीमा अवश्य लगाओ। एक बार सीमा लगी कि प्रवृत्ति में मोड़ आयेगा, मनोवृत्ति संग्रह की बदलेगी और इसका उपयोग समाज के लिए होने लगेगा।

गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है। जितनी आवश्यकता है उतना रखो व शेष को समाज का ट्रस्टी बनकर समाज के लिए उपयोग में लाओ। ट्रस्टी होने के नाते सारे धन को अमानत मान कर रखो। यह भी मनोवैज्ञानिक रूप से धन के प्रति मूर्च्छा छुड़ाने मे सहायक है। मूर्च्छा ही तो परिग्रह है। जब धन को अमानत माना तो धन से मूर्च्छा हटेगी। जब तक धन अपना माना तब तक मूर्च्छा रहेगी। महावीर ने मूर्च्छा को ही परिग्रह की संज्ञा दी। परिग्रह छोड़ने के लिये द्रव्य में सीमा करने का निर्देश दिया। जव सीमा का पालन करेगा, सीमा से अतिरिक्त धन का दान करेगा तो जो सीमा के भीतर धन है उस पर से भी मोह हटेगा। सीमा के भीतर का रुपया या वाहर दोनों पर छाप एक सी है अतः मोह तो दोनों से है परन्तु जब सीमा से वाहर का

सस्कारों के कारण हिसक क्रांति का अनुमोदन न करते हों, फिर भी यह तो हमे स्वीकार करना ही होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था मे धन, पूँजी या सम्पत्ति का संग्रह अपरिहार्य है। यह भी हमे विदित है कि संग्रह का मूल "मूर्च्छा" या परिग्रह है। एक व्यक्ति जब संग्रह करता है तो स्वाभाविक तौर पर उसके चेतन अथवा अवचेतन मस्तिष्क में यह भावना निहित रहती है कि वह अपने लिए, अपने परिजनों के लिए अथवा आने वाली पीढियों के लिए सुखद भविष्य बनाना चाहता है और बस यही से शोषण तथा उससे उत्पन्न वर्ग संघर्ष का सूत्रपात हो जाता है।

परिग्रह अथवा "मूर्च्छा" का मूल है मोह अथवा ममत्व। जैन दर्शन की सूक्ष्म मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि परिग्रह का स्थूल रूप भौतिक साधनों के प्रति आसक्ति हो सकता है, परन्तु यदि व्यक्ति को अपने रूप, ज्ञान, शौर्य अथवा आचरण के प्रति राग उत्पन्न हो जाए तो यह भी परिग्रह ही माना जाएगा।

यूनान मे नार्सीसस नामक एक युवक रहता था। एक दिन उसने पानी मे अपनी परछाई देखली तथा स्वय की सुन्दरता पर मुग्ध हो गया। स्वय पर मुग्ध होने की इसी प्रवृत्ति को नार्सीसिज्म कहा जाने लगा। कहने का अभिप्राय यह है कि मूर्च्छा केवल धन या सम्पत्ति से हो यही परिग्रह नही है। राग का परित्याग देवत्व का परिचायक है, चाहे वह भौतिक साधनो के प्रति राग हो अथवा अभौतिक साधनों के प्रति।

परिग्रह का आर्थिक पक्ष

परिग्रह का आर्थिक पक्ष भौतिक साधनों यथा धन या लक्ष्मी के प्रति आसक्ति का बोध कराता है, परन्तु महावीर का अपरिग्रह धन या सम्पत्ति को पूर्णरूपेण निरर्थक नही मानता। महावीर कहते है, धन या सम्पत्ति एक सीमा तक ही आवश्यक है। अन्य शब्दो में, धन का सग्रह मर्यादित रूप में करना चाहिए।

कल्पना कीजिए हम अमर्यादित रूप में धन का संग्रह करना चाहते हैं स्वाभाविक रूप से इससे लोभ की उत्पत्ति होगी। यदि हम अक्षम हैं तो अपने उद्देश्य में सफल नही हो पाएंगे और इससे क्रोध रूपी कषाय की उत्पत्ति होगी यदि हम सक्षम है तो हम दूसरो का शोषण करके धन का सग्रह करेंगे और य से वर्ग-संघर्ष का प्रारम्भ हो जाएगा। अस्तु, परिग्रह से शोषण प्रारम्भ होता और इससे समाज मे संघर्ष तथा अस्थिरता का वातावरण सृजित होता है सम्पन्न वर्ग में संग्रह की प्रवृत्ति जितनी बलवती होगी, उतनी ही विषमत

बढेगी, तथा समाज के कमजोर वर्ग मे उतना ही अधिक असंतोष व आक्रोश बढेगा।

महात्मा गांधी ने जीवन के चार स्वरूप बतलाए है। प्रथम स्वरूप एक शेर के जीवन का है। शेर कोई सग्रह नही करता, और अन्य प्राणियों का शिकार करके जीवन यापन करता है। दूसरा स्वरूप मधुमक्खी का है। वह मधु का सचय करतो है। उसे अपने छत्ते एव उसमें निहित मधु से बड़ा मोह रहता है। परन्तु अन्ततः इन्सान अग्नि प्रज्वलित करके मधुमक्खियो को भगा देता है और स्वयं मधु प्राप्त कर लेता है। जीवन का तीसरा स्वरूप एक गाय का है। गाय यदि स्वय तृप्त है तो अपने बच्छडे को दूध पिलाती है। यदि उसे चारा व दाना-पानी नही मिलता तो उसे अपने बछड़े से भी कोई प्रयोजन नहीं है। इन सबसे भिन्न स्वरूप एक मां का होता है जिसे अपने आपसे मोह नही है, और जो स्वय भूखी रहकर भी अपनी सन्तान को भोजन देती है। महात्मा गांधी प्रश्न करते है—आप जीवन का कौनसा स्वरूप प्राप्त करना चाहेंगे? निश्चय ही एक विवेकशील व्यक्ति न तो शेर की भाँति किसी अन्य प्राणी को मारकर अपना पेट भरना चाहेगा, और ना ही मधुमक्खी की भांति बूंद-बूंद मधु किसी अन्य व्यक्ति के लिए संचय करना चाहेगा। एक विवेकशील व्यक्ति के जीवन का स्वरूप "स्व" से हटकर "पर" के लिए होता है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति धनोपार्जन करते समय संचय की इच्छा न करे अथवा "स्व" का परित्याग कर दे तो शोषण को समाप्त करके हम अपैनी अधिकांश समस्याओ का सहज ही समाधान कर सकते है।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

भगवान् महावीर के युग में भी आनन्द तथा महाशतक जैसे बड़े-बड़े श्रेष्ठि थे। प्रभु की वाणी से प्रभावित होकर उन्होंने अपना व्यापार नही छोड़ा और न ही सम्पूर्ण सम्पत्ति का परित्याग किया। हां, उन्होंने परिग्रह की मर्यादा अवश्य निर्धारित कर दी। महात्मा गाधी भी कहते है कि यदि आपके पास सम्पत्ति है तो आप स्वय को इसका ट्रस्टी मानिए—स्वामी नही। यदि आप स्वयं को ट्रस्टी मानते है तो करोडों की सम्पत्ति होने पर भी अपरिग्रही है। इसके विपरीत यदि किसी भिखारी को अपने भिक्षा पात्र से भी मोह है तो वह परिग्रही होगा।

राजा भर्तृहरि ने अपना राजपाट-वैभव सभी त्याग दिया। संन्यासी होकर वे वन में चले जा रहे थे कि मार्ग में कोई चीज चमकती हुई दिखाई दी। झुककर उसे उठाया तो पाया कि वह तो काच का टुकड़ा था, सूर्य की रोशनी में चमक रहा था। समूचे वैभव को छोडने पर भी उनकी धन के प्रति आसक्ति शायद कुछ शेष रह गई थी।

४५

ट्रस्टीशिप के दो पहलू

□ दादा धर्माधिकारी

अस्तेय और अपरिग्रह प्राय. साथ-साथ लिये जाते है। अपरिग्रह का अर्थ आज तक लोगों ने यह किया है कि हम अपनी जरूरत से ज्यादा चीज नही रखते। लेकिन अपरिग्रह की वृत्ति का अर्थ यह है कि अपनी जरूरत की चीज भी जो मै रखता हूँ, वह अपने स्वामित्व के लिये नही रखता। अपनी जरूरत की चीज तो रखता हूँ, लेकिन जरूरत की चीज पर मेरा स्वामित्व नही। जैसे शरीर पर भी हमने अपना स्वामित्व नही माना। जो लोग परमार्थी होते है या सेवक होते है, उन्होंने यह माना है कि यह शरीर धर्म का साधन है। भक्त कहते है कि यह भगवान् का आयतन है। भगवान् के रहने का मंदिर है। लेकिन सेवक लोग कहते है कि यह तो समाज की थाती है। यह शरीर समाज की धरोहर है और यह मेरे पास है, इसलिये इसके विषय में मेरे मन मे ममता नही होनी चाहिये। यदि शरीर के लिये भी ममता नही है, तो फिर शरीर यात्रा के लिये जो चीजे आवश्यक है, उनके सम्वन्ध मे स्वामित्व की कोई भावना कैसे हो सकती है? यह अपरिग्रह, असंग्रह का अंतिम विचार है। अस्तेय मे से असंग्रह आता है। अस्तेय के लिये इतना काफी है कि मै दूसरे की प्रिय वस्तु का हरण नही करता, लेकिन अपरिग्रह इससे एक कदम आगे जाता है।

अपरिग्रह कहाँ तक जाता है, यह समझने के लिये हम गाँधी की ट्रस्टीशिप की वात भी समझ ले। उसके वारे मे लोग चाहे जैसा लिखते है और चाहे जैसा कहते है। वे यह मानते है कि ट्रस्टीशिप का मतलब यह है कि तुम्हारे पास जो धन है, वह धन समाज के लिये है, यह समझकर वह धन बढाते ही चले जाओ। समाज के लिये है, तो समाज के लिये बढ़ा रहा हूँ।

लोगो ने ट्रस्टीशिप का मतलव यह कर लिया है कि व्याज भी लेते जाओ और उस धन को वढाते भी चले जाओ। उसके विषय में आसक्ति भी रखो। अन्त में केवल इतना करो कि इसका भोग भगवान् को लगा दिया करो। जैसे हम सवा सेर मिठाई लेकर मन्दिर में जाते हैं, एक पेड़े का भोग लगा देते है, वाकी के पेड़े तो हमारे है ही। यह भगवान् का प्रसाद हो गया।

सोचने की वात यह है कि जिस व्यक्ति ने व्रत के रूप में सत्य-अहिसा-अस्तेय का प्रतिपादन किया, उसने भला ट्रस्टीशिप का अर्थ ऐसा किया होगा?

ट्रस्टीशिप का अर्थ यह है कि परम्परा से और परिस्थिति से जो धन मुझे प्राप्त हो गया है, उसे दूसरो का समझकर जल्दी से जल्दी उससे मुक्त हो जा, नही तो ट्रस्टीशिप का कोई अर्थ ही नही है। किशोरलाल भाई ने सार्वजनिक सस्थाओं के बारे में लिखा था कि सार्वजनिक निधियों को भी हम ब्याज ले लेकर बढाते है और उसका संरक्षण करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यदि व्यक्तिगत परिग्रह, व्यक्तिगत संग्रह निषिद्ध है, तो सार्वजनिक संग्रह भी कम निषिद्ध नहीं है।

ट्रस्टीशिप के दो पहलू है। एक है—संक्रमण काल का पहलू। संक्रमण काल के लिये यह व्यवस्था है। पूजीवादी समाज व्यवस्था से हमे श्रमनिष्ठ समाज-व्यवस्था की ओर कदम बढाना है, इसके लिये संग्रह के विसर्जन की आवश्यकता है। सग्रह का यह विसर्जन व्रतनिष्ठा से होना चाहिये, याने व्यक्ति का शुद्धिकरण होना चाहिये। क्राति की प्रक्रिया मे व्यक्ति के शुद्धिकरण की, व्यक्ति की चित्तशुद्धि की योजना "हृदय-परिवर्तन" कहलाती है। क्रान्ति की प्रक्रिया ही ऐसी है कि उसमें व्यक्ति को चित्तशुद्धि की योजना हो इसलिये जिन्हें आज आनुवंशिक अधिकार से विरासत में सपत्ति मिल गयी है या कानून से मिल गयी है या जिन लोगों ने पहले खरीद ली है या कमा ली है, उन लागो से गाँधीजी कहते है कि इस सपत्ति को अपनी मत समझो। समाज की धरोहर या थाती समझो। इसका मतलब यह नही है कि इसे तुम बढ़ाते चले जाओ। वस्तुत. उसका मतलब यह है कि तुम्हे यह चिन्ता होनी चाहिये कि कब मै यह सम्पत्ति समाज को लौटा देता हूँ और कब मेरा चित्त शान्त होता है। धनिकों के लिये, मालिकों के लिये, सम्पत्तिमानो के लिये गाँधीजी के ट्रस्टीशिप का सही अर्थ है कि उन्हे संग्रह का विसर्जन करना है। यदि यह अर्थ उन्होने नही लिया और यह माना है कि गाँधीजी का यह मतलब था कि तुम में संग्रह की कुशलता है, इसलिये सग्रह ही बढाते जाओ और यह मान लो कि अपने समाज के लिये वह सग्रह कर रहा है, इसमे से तुम हलवा-पूड़ी के रूप में प्रसाद लेते जाओ और दूसरो को बाजरे की रोटी के रूप मे कभी-कभी देते जाओ, तो उसका ऐसा मतलब उनके मन मे कभी हो ही नही सकता।

ट्रस्टीशिप का दूसरा पहलू यह है—केवल धनिक ही ट्रस्टी नही है, श्रमिक भी ट्रस्टी है। बहुत सम्पत्ति, धन या सग्रहवाला ही नही, अल्प संग्रहवाला भी ट्रस्टी है। उसे भी अपने आपको ट्रस्टी ही मानना चाहिये। जहाँ वह काम करता है, वह काम समाज का काम है। उस काम के उपकरण भी समाज के है, उसके अपने नही है। उनका वह ट्रस्टी है। हम पहले यह माँग करते है कि उत्पादन के साधन उत्पादक के कब्जे में होने चाहिये। बाद मे हम यह माँग करते है कि उत्पादक भी उनका ट्रस्टी होगा। वे साधन उसके अपने नही होगे। वह उन उपकरणो का और उत्पादन का अपने-आपको मालिक नही मानेगा।

जितना उत्पादन वह करेगा, उतने उत्पादन का भी वह अपने आपको मालिक नही मानेगा।

सग्रह परायण मनुष्य ने कहा कि "तुम ईमानदारी से यदि धन कमाते हो, तो उस धन पर तुम्हें अधिकार है।" उसकी ईमानदारी का मतलब यही है कि होड़ में तुम जीत जाते हो, तो उस धन पर तुम्हारा अधिकार है।

दूसरे ने कहा—"यह चढ़ा-उतरी और होड़ की पद्धति से जो धन कमाया जाता है, यह चोरी ही है। जितनी सम्पत्ति है, वह सब चोरी ही है। "स्तेन एव स:" 'भगवद्गीता' में कहा गया। सारी संपत्ति, सारा संग्रह यदि चोरी है, तो उसके निराकरण के लिये संग्रहवान् से कहा कि तुम अपने को अपने संग्रह का थातीदार मानो, निधिपालक मानो, न्यासधर मानो। तुम समाज की ओर से उसे रखो, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जितनी जल्दी खर्च कर सको, उतनी जल्दी उसे खर्च कर डालो और समाज की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाओ। जिनके पास अल्प सग्रह है, उनके लिये गाँधीजी कहते हैं, "तुम जो कमाते हो, अपनी मेहनत से कमाते हो, लेकिन अपनी मेहनत की कमायी हुई रोटी पर भी तुम्हारा अधिकार न हो। भूख का अधिकार है, रोटी भूख के लिये है। तुम्हारे पेट में भूख है, इसीलिये भूख का अधिकार रोटी पर अवश्य है। परन्तु तुम्हारे पड़ौस मे कोई भूखा है तो उसे बाँट दो। तुम्हारे पास आधी रोटी हो, तो उस आधी को भी बाँट दो। गरीब आदमी या अल्प संग्रहवान् व्यक्ति का भी अपनी मेहनत की उपज पर और अपनी मेहनत के उपकरणों पर स्वामित्व नही माना जाता। इसी का नाम है 'ट्रस्टीशिप।' यह शाश्वत 'ट्रस्टीशिप' है।



पवित्रता की कसौटी

अगर अनुचित लोभ-लालच मे फँसे नहीं हो, दिन-रात हाय-पैसा, हाय-पैस नहीं करते रहते हो, वल्कि न्याय-नीति के साथ निर्वाह के योग्य धन उपार्ज करके सन्तोष मान लेते हो और परमात्मा के भजन के लिए समय बचा लेते हो वड़े-वड़े प्रलोभन के सामने होने पर भी मर्यादा से नहीं गिरते हो और धर्म के पथ पर अग्रसर होते चले जा रहे हो तो निःसन्देह तुम्हारा मन पवित्र है।

☐ जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म० सा

४६

अपरिग्रह : वर्तमान युग की आवश्यकता

☐ श्री नारायण देसाई

गाधीजी ने सत्याग्रह आश्रम की नियमावलि में सत्य, अहिसा आदि एकादश व्रतों को स्थान देकर जो तब तक व्यक्तिगत गुण माने जाते थे, उन्हें सामाजिक मूल्य का रूप दिया। अपरिग्रह भी उन एकादश व्रतों में एक प्रमुख व्रत था।

यों तो अपरिग्रह का पाठ तो मानवता को हजारों वर्षो से मिलता आ रहा है, किन्तु आज वह व्रत जितना प्रासंगिक है, उतना शायद पहले कभी नही था।

चीज–वस्तुओं का अभाव अपरिग्रह नही है। विपुल सामग्री होते हुए भी उनसे स्वेच्छापूर्वक अलग रहने को अपरिग्रह कहते हैं। आज जब विश्व में विपुल सामग्री उपलब्ध है तभी अपरिग्रह का व्रत अधिक प्रस्तुत एवं प्रासंगिक बनता है। आज जितनी विपुलता है उतनी ही विषमता भी है। जगत में आर्थिक विषमता आज जितनी है, शायद पहले कभी नही थी। विषमता को दूर करने के लिए, सम्पन्न लोगों के लिए अपरिग्रह स्वीकार करना एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन जाता है।

अति श्री में तथा उपभोगवाद के संयोग से विश्व के अमीर और गरीब के बीच की खाई दिन-ब-दिन गहरी बनती जा रही है। विश्व-शांति एवं मनुष्यता के अस्तित्व के लिए ही यह खाई खतरनाक सिद्ध हो सकती है। अतः आज अपरिग्रह केवल संयम और तपस्या का नही वरन् मानवता की आत्मरक्षा का प्रश्न बन गया है।

मनुष्य ने आज जिस गति से वसुन्धरा के वस्तुओं का उपभोग शुरू किया है, उससे यह नौबत आई है कि कुछ दशाब्दियों में ही बहुत सारे ऊर्जा-स्रोत दुर्लभ हो जायेंगे। इस अवस्था में वस्तुओं के उपभोग के सम्बन्ध में संयम से वरतना या वसुधा का तकाजा बन गया है।

अपरिग्रह का अर्थ गरीबी का बंटवारा नहीं है। अपरिग्रह का अर्थ मन को इतना अमीर बनाना कि उसे अधिक वस्तुओं के परिग्रह की आवश्यकता ही न रहे।

मन के आनन्द का सम्बन्ध वस्तुओं के संग्रह से नही, संतोष से है। उपभोग की इच्छा, महत्त्वाकाक्षा या लोलुपता के कारण बढ़ाया गया परिग्रह

नित्य निरंतर अधिक परिग्रह करने को तरसाता है। इस प्रकार की अदम्य तरस का न संतोष से सबंध है न शांति से, न सुख से।

अपरिग्रह का जितना आग्रह जैन धर्म मे रखा गया, उतना शायद और किसी धर्म ने नही रखा, किन्तु जैनियो मे परिग्रहियों की संख्या कुछ कम नही पाई जाती। शायद इसका कारण यह है कि अपरिग्रह को हमने व्यक्तिगत गुण भर माना, सामाजिक मूल्य नही माना, अपरिग्रह आदि को मुनियों का धर्म मान कर श्रावकों के लिए उसे उतना अपरिहार्य नही माना। इस अवस्था को बदल कर अपरिग्रह को सार्वत्रिक धर्म बनाया जाये, तभी विपुलताग्रस्त और दरिद्रता-ग्रस्त विश्व का कल्याण होगा।□□□

प्रायश्चित

बहुत समय पहले की बात है। किसी जंगल में एक साधु रहता था। उसने तपोबल के माध्यम से कई विद्याएँ अर्जित कर रखी थी। वक्त गुजरता गया। लोगो मे उसकी छवि निखरती गई। साधु की ख्याति के बारे में वहाँ के राजा ने भी सुना तो वह भी आश्रम मे पहुँचा। राजा ने साधु के दर्शन किये और साधु से निवेदन किया कि वो कुछ दिन उसके महल में गुजारें। साधु ने राजा के अत्याचारो की गाथाएँ सुन रखी थी। फिर कुछ सोचकर उसने राजा का निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया। महल मे साधु, राजा के अत्याचारपूर्ण कमाये धन मे आमोद-प्रमोद मे डूब गया। नित्य भाति-भांति के व्यंजन खाकर उसकी बुद्धि खराब हो गई।

एक दिन मौका पाकर उसने रानी के कीमती हार अपने चोगे में रख लिए और महल से फरार हो गया। भागते-भागते वह थककर चूर हो गया और जगल मे भूख लगने पर उसने फल तोड़कर खाये कि उल्टी-दस्त लगने प्रारम्भ हो गये। उधर महल मे रानी के आभूषणों को चोरी का समाचार जंगल की आग की भांति फैल गया। पहरेदार चोर-साधु की तलाश मे जमीन-आसमान एक कर रहे थे। कई वार दस्त हो जाने के वाद साधु को अपने कुकृत्य पर क्षोभ हुआ। उल्टे पावो वह महल लौट गया। राजा ने आश्चर्य से पूछा—"पहले चोरी की फिर वापिस लौटाने क्यो आये ?" साधु ने कहा—"राजन्! तुम्हारे काले अन्न को खाकर मेरी वुद्धि विकृत हो गई लेकिन वन का स्वच्छ फल खाकर उसने मेरे हृदय में वसे मैल को निकाल दिया। उससे मुझे वास्तविकता का वोध हो गया।" यह सुनते ही राजा की आँखे खुल गई कि वास्तव मे जवरदस्ती, अनैतिक रूप से सगृहीत विपुल-सम्पदा का परिणाम कितना कष्ट-कारी होता है। उसने साधु से क्षमा मागी और वचन दिया कि वह न्याय व दयालुता के माध्यम से शासन चलायेगा।

□ मनोज आंचलिया

४७

अपरिग्रह : समाजवादी समाज-रचना का आदर्श

☐ डॉ. उम्मेदमल मुनोत

भगवान् महावीर के चिन्तन में जितना महत्त्व अहिंसा को मिला, उतना ही अपरिग्रह को भी मिला। उन्होंने अपने प्रवचनों में जहाँ-जहाँ आरम्भ (हिंसा) का निषेध किया, वहाँ-वहाँ परिग्रह का भी निषेध किया।

परिग्रह क्या है ?

उचित-अनुचित का विवेक किए बिना आसक्ति के रूप में वस्तुओं को सब ओर से पकड लेना, जमा करना और मर्यादाहीन गलत असामाजिक रूप में उपयोग करना। वस्तु न भी हो, यदि उसकी आसक्ति मूलक मर्यादाहीन अभीप्सा है, तो वह भी परिग्रह है। इसलिए महावीर ने कहा था—मूच्छा परिग्गहो—मूर्च्छा, मन की ममत्व दशा ही वास्तव में परिग्रह है। जो साधक ममत्व से मुक्त हो जाता है, वह सोने-चाँदी के सिंहासन पर बैठा हुआ भी अपरिग्रही कहा जा सकता है। इस प्रकार भ० महावीर ने परिग्रह की, एकान्त जडवादी परिभाषा को तोड़कर उसे भाववादी, चैतन्यवादी परिभाषा दी।

अपरिग्रह का मौलिक अर्थ

भ० महावीर ने बताया, अपरिग्रह का सीधा सादा अर्थ है—निस्पृहता, निरीहता। 'गीता' में भी कहा गया है - जो पुरुष सम्पूर्ण कामो का त्याग कर ममत्व रहित व अहंकार रहित निस्पृह जीवन बिताता है, वह स्थितिप्रज्ञ है।[1]

वस्तुत: भ० महावीर के अपरिग्रहवादी चिन्तन की पाँच फलश्रुतियाँ आज हमारे समक्ष है—

१. इच्छाओं का नियमन।
२. समाजोपयोगी साधनो के स्वामित्व का विसर्जन।
३. शोषणमुक्त समाज की स्थापना।
४ निष्काम बुद्धि से अपने साधनों का जनहित मे संविभाग।
५ भौतिक व आध्यात्मिक शुद्धि।

---

१. गीता अ० २, श्लोक ७।

१. इच्छाओं का नियमन

इच्छा ही सबसे बड़ा बंधन है, दुःख है। जिसने इच्छा का निरोध किया— उसे मुक्ति मिल गई। इच्छा-मुक्ति ही वास्तव मे संसार-मुक्ति है। इसलिए सबसे प्रथम इच्छा और आकांक्षाओं पर संयम करने का उपदेश महावीर ने दिया। बहुत से साधक, जिनकी चेतना इतनी प्रबुद्ध होती है कि वे अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर सकते है, महाव्रती-संयमी के रूप में पूर्ण अपरिग्रह के पथ पर बढ़ते है, किन्तु इससे अपरिग्रह केवल संन्यास क्षेत्र की ही साधना मात्र बन कर रह जाता है। अतः सामाजिक क्षेत्र मे अपरिग्रह की अवतारणा के लिए उसे गृहस्थ धर्म के रूप में भी एक परिभाषा दी गई। महावीर ने कहा—सामाजिक प्राणी के लिए इच्छाओं का सम्पूर्ण निरोध, आसक्ति का समूल विलय यदि सम्भव न हो, तो वह आसक्ति को क्रमशः कम करने की साधना कर सकता है, इच्छाओं को सीमित करके ही वह अपरिग्रह का साधक बन सकता है।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है। उनका जितना विस्तार करते जाओ, वे उतनी ही व्यापक, असीम बनती जाएँगी, और उनसे कष्ट एवं अशांति बढती जाएगी। इच्छाएँ सीमित होंगी, तो चिंता और अशांति भी कम होगी। इच्छाओं को नियंत्रित करने के लिए महावीर ने 'इच्छा परिमाणव्रत' का उपदेश दिया। यह अपरिग्रह का सामाजिक रूप था। बड़े-बड़े धन-कुबेर, श्रीमंत एवं सम्राट् भी अपनी इच्छाओं को सीमित-नियंत्रित कर मन को शांत एवं प्रसन्न रख सकते है। और साधनहीन साधारण लोग भी, जिनके पास सर्वग्राही लंबे-चौड़े साधन तो नही होते, पर इच्छाएँ असीम दौड़ लगाती रहती है, वे भी इच्छा-परिमाण के द्वारा समाजोपयोगी उचित आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए भी अपने अनियंत्रित इच्छा प्रवाह के सामने अपरिग्रह का एक आन्तरिक अवरोध खड़ा कर उसे रोक सकते है।

२. समाजोपयोगी साधनों के स्वामित्व का विसर्जन

स्वामित्व-विसर्जन का सीधा अर्थ है—वस्तु से अपनी मालकियत हटा लेना। जीवन के साधन प्रकृति के द्वारा प्रदत्त है, और हम सब प्रकृति के पुत्र है, अतः भाई है। जीवन के साधनो में सब समान हिस्सा रखते है और कोई उनके स्वामी नही है। हर व्यक्ति मात्र संरक्षक है, जो अपनी अपेक्षा के अनुसार योग-क्षेम के साधन ले, शेष औरो के लिए छोड़ दे, जिनको आवश्यकता है। महावीर कहते है—अपनी आवश्यकता के लिए लेने से पूर्व यह देख लो कि क्या इससे कम में भी मेरा काम चल सकता है? क्या इससे दूसरे की आजीविका का विच्छेद तो नही हो जायेगा? इन परिस्थितिओ में वह अपनी आवश्यकताओं को और कम करके शेष सम्पत्ति से अपने स्वामित्व को हटा

ले। स्वामित्व-विसर्जन तभी हो सकता है, जब अपनी आवश्यकताएँ सीमित हो।

राष्ट्रपिता गांधीजी ने भ० महावीर के इसी सूत्र को ट्रस्टीशिप का रूप दिया। स्वामित्व-विसर्जन की यह परिभाषा समाज में सम्पत्ति के आधार पर फैली अनर्गल विषमताओं का प्रतिकार करने में सफल सिद्ध हो सकती है। मनुष्य जब आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति व वस्तु के संग्रह पर अपना अधिकार हटा लेता है, तो वह समाज और राष्ट्र के उपयोग के लिए उन्मुक्त हो जाती है, इस प्रकार अपने आप ही एक सहज समाजवादी अन्तरप्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

३. शोषणमुक्त समाज की स्थापना

महावीर शोषण मुक्त व्यवसाय से प्राप्त आय को भी व्यक्ति की अपनी नहीं मानते। विसर्जन स्वामित्व का अस्वीकार है और स्वामित्व अहं का विस्तार। स्वामित्व टूटने पर आवश्यकता बचती है, जिसे भी उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत द्वारा महावीर अधिकाधिक सीमित करते जाने का आदर्श देते हैं। श्रावक की तीन मनोकामनाओं में सर्व प्रथम यह है कि मै अल्पतम आरम्भ और अल्पतम परिग्रह पर कब पहुँच सकूँगा? पूर्ण अपरिग्रह यानी स्वामित्व का विलोप महावीर का मूल आदर्श है, जहाँ विषमता व शोषण का बीज ही समाप्त हो जाता है। मानवीय शोषण को तो उन्होंने प्रायश्चित-योग्य बड़ी हिंसा कहा है। इसके अतिरिक्त सम्भवतः महावीर ही एक व्यक्ति थे, जिन्होंने पशु पर अधिक भार नही लादने तक का भी निर्देश श्रावकीय आचार-व्यवस्था में दिया।

महावीर ने छोटे-छोटे उद्योगों को अपने दर्शन में स्थान दिया—जिससे अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह हो, धन का विकेन्द्रीकरण हो, विषमता दूर हो तथा क्षेत्रीय स्वावलम्बन हो। महावीर का दिशा परिमाण व्रत इस दिशा में स्पष्ट निर्देश है। छोटे उद्योगों में भी शोषण न हो, इसके लिए महावीर ने सजगता वरतने का निर्देश दिया।

गांधीजी का सर्वोदय तथा विनोबा के भूदान एवं ग्राम स्वराज्य की धारणा के पीछे जो सत्य है, वह उद्योग-व्यापार के अतिचारों के वर्जन तथा परिमाण व्रत के भीतर निहित है। इस प्रकार के विकेन्द्रित एवं लघु उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर विकास का उदाहरण जापान है, जिसके लिए अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री हर्मन कीन का कहना है कि इस शताब्दी के अन्त तक वह संसार का सबसे धनी और शक्तिशाली राष्ट्र होगा। अतः महावीर ने जो

कहा, उसकी मूल भावना को समझकर हमारे जीवन में उसके उपादानो द्वारा उसकी व्याख्या और क्रियान्विति अपेक्षित है ।

४. निष्काम बुद्धि से अपने साधनों का जनहित में संविभाग

भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों मे कहा—

"असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ।"

ढाई हजार वर्ष पहले की अर्धमागधी की यह गाथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी कितनी महत्त्वपूर्ण है । इसका अर्थ भी समझना पडेगा ।

असविभागी किसे कहते है ? जो अपने साधनों का, अपनी प्राप्त सामग्री का, जो कुछ इन्सान ने पाया है उसका, अपने साथियो मे, अपने आस-पास के जगत् मे अगर सविभाग अर्थात् सम्यक् वितरण नही कर रहा है, तो वह बन्धन से मुक्त नही हो सकता । कोरा वितरण ही नही, वितरण मे तो सिर्फ बांटने का ही सवाल है । यहाँ विभाग शब्द है, उसका स्पष्ट अर्थ होता है, विशिष्ट भाग । मतलब यह है कि तुम्हे जो प्राप्त है, उसमे जनता का भी हिस्सा है, तुम्हारे साथियो का भी हिस्सा है, तुम जैसे ही चैतन्य और भी है, उनका भी भाग है । इसलिए उस भाग-हिस्से को देते समय, ठीक तरह से उचित विभाग करना सविभाग कहलाता है । किसी लज्जा, भय से नही, किसी प्रकार के आतंक से नही, अह से भी नही, बिल्कुल सहज भाव में विभाग करना, जैसे स्नेही भाई अपने भाई के लिए करता है । भ० महावीर ने सविभाग की बात इसलिए कही कि संसार में जितने द्वन्द्व, जितनी पीड़ाएँ, जितने सघर्ष खडे होते है—इन्सान-इन्सान के बीच मे, वे प्राय. इसी असविभाग के कारण होते हैं । मैत्री वहाँ से विदा हो जाती है । जहाँ भी द्वन्द्व खड़े हो, समझ लीजिए वहाँ जीवन के आधारभूत साधनो का ठीक तरह से सविभाग नही हो पाया है । यह प्रश्न आज का नही है, हजारो-लाखों वर्षों पहले का है ।

समष्टि चेतना के लिए व्यक्ति अपने आप मे क्या करे ? यह सनातन सवाल रहा है । भ० महावीर का दर्शन उत्तर मे कहता है – व्यक्ति अपने आपको समष्टि का एक अग मान कर चले और आस-पास के जगत् से उसे जो भी प्राप्त हो, वह जगत् का है, यह मानकर समष्टि के लिए अर्पण करके उसका उपभोग करे। जैसा कि 'ईशावास्योपनिषद्' मे भी कहा है—

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध. कस्यविद धनम् ?"

इस चराचर जगत् में जो कुछ भी है, वह सब ईश से व्याप्त है । यानी

जैन दृष्टि से समष्टि में समाविष्ट है। उसका त्याग (संविभाग) करके उपभोग करो। किसी भी पदार्थ पर ललचाओ मत। यह धन, यह ऐश्वर्य किसका है? अर्थात् किसी एक का नहीं, समाज का है। 'ईशावास्योपनिषद' भ० महावीर के संविभाग-दर्शन की ही साक्षी दे रहा है। यहाँ जैन दर्शन और वैदिक दर्शन एक है। वास्तव में यही तो समाजवाद की मूल आत्मा है।

भ० महावीर ने मानव जाति के छोटे-बड़े सभी वर्गों के अधिकार का प्रश्न भी संविभाग से हल किया। वास्तव में जो अभाव है, वही दुनिया में सबसे बड़ा पाप है। और जब अभाव होता है, तो पीड़ित मानव कुछ का कुछ कर गुजरता है। अतः अभाव की समस्या का हल होने में ही मानव जाति का कल्याण है और अभाव का हल संविभाग है। संविभाग के सिवाय और किसी उपाय से वह हल नहीं हो सकता। अतः महावीर का यह दर्शन इन्सान की समस्या की जड़ पर पहुँचता है।

ढाई हजार वर्ष का संसार हमारे समक्ष है। इतिहास की आँखों से उससे पहले के संघर्षरत जगत् का भी हम अवलोकन कर रहे है। महाभारत और रामायण का युद्ध भी हम देखते है। इतिहास के पन्नों पर भ० महावीर के युग का वह चेटक-कोणिक का भयंकर संग्राम भी हमने पढ़ा और सुना है। आज भी हम कई युद्ध देख रहे हैं। इन सबके मूल में मानव का अन्धा स्वार्थ है और है असंविभाग के कारण भड़की हुई आग। अगर कोई एक जाति या धर्म के नाम पर इस समस्या को हल करना चाहे, इस आग को बुझाना चाहे, तो वह असफल होगा। एक जाति या धर्म के नाम पर किया गया समाधान कुछ दूर तक तो चल सकता है, लेकिन आगे चलकर किसी न किसी रूप में वह असंतोष की आग भड़के बिना नही रहेगी। आखिर जो अभाव है, वह एक न एक दिन उभर कर ऊपर आएगा ही। इसलिए एक जाति के और एक धर्म के लोग भी लड़ते है। और तो क्या एक परिवार के लोग भी झगड़ते है, विभक्त होते हैं। दो भाई—जो एक ही रक्त के होते हैं, उनका भी बँटवारा होता है। धर्म के नाम पर, जाति और परिवार के नाम पर कब तक एकता रखेगा मनुष्य? कब तक किसी को भुलावे में डाल रखेगा वह? बंगला देश का उदाहरण ले लीजिए। एक धर्म के होते हुए भी अलग हो गए। चालाक लोग वास्तविक सत्य को दबाने के लिए जाति और धर्म आदि के झूठे नारे खड़े कर देते है। साधारण लोग उनके भुलावे में आ जाते है। इसका अर्थ यह है कि मूल प्रश्न कुछ और होते है, जनता को भुलावे में डालने के लिए बताए जाते है कुछ और, लेकिन यह भुलावा अधिक देर तक नही टिक सकता। एक बार भले ही कोई किसी को धोखे मे डाल दे। मगर सत्य आखिर एक न एक दिन खुल कर रहता है।

अतः जो संघर्ष या द्वन्द्व होते है या अभाव पैदा होते है, वे साधनो का

ठीक तरह से वितरण न करने से होते है और इसके समाधान का विशुद्ध उपाय है भ० महावीर का सविभाग ।

५. भौतिक व आध्यात्मिक-शुद्धि

जगत्-जगत् है अपने आप मे आध्यात्मिक जगत् अन्दर में है और बाह्य जगत् है बाहर मे । बाहर मे भी रहता है इन्सान ! ऐसा नही कि वह सब कुछ अन्दर मे ही रह रहा है । आत्मा शरीर के साधनो की पूर्ति बाह्य जगत् से करती है । तो ऐसी स्थिति में विचार कीजिए कि इसान की क्या भूमिका है ? ये जो कुछ लोगों ने जगत् के भौतिक और आध्यात्मिक दो टुकडे अलग-अलग कर रखे हैं, जीवन के ये दो रूप पृथक्-पृथक् बना रखे है, सब गलत है, और निरतर आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता को ठुकराने की जो बात कही जाती है, वह भी आधारहीन है ।

हमारे ऋषि-मुनि कह सकते है कि पैसा शैतान है, वह आदमी को गिराता है और उससे विवेक नष्ट होता जाता है । यह बात पैसे का महत्त्व मानकर ही कही जा सकती है । क्या सचमुच पैसे मे इतनी ताकत है कि मनुष्य पर उसका काबू रहे ? पैसे की कीमत है और वह भी राज्य अथवा हमारे द्वारा आँकी गई है । अब यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह पैसे को सिर पर चढाता है या पैरो के तले दबाता है या कि जेब मे रखता है । नदी और कुए मे आदमी डूबकर मर जाता है । क्या यह पानी की शैतानियत है ? पानी न शैतान है, न भगवान् । पानी किसी को मार नहीं डालता, मार नही सकता । आदमी अपनी ही कमजोरी, असमर्थता या अज्ञान से डूबता-मरता है । समझ-बूझकर पानी से काम लिया जाय तो सब ठीक है । वह "जीवन" ही है । पानी न हो तो प्राण तक जा सकते हैं । यही बात पैसे की है । पैसा सिर्फ पैसा है । उसे हम सिर्फ पैसा समझे और समझ-बूझकर उसका सदुपयोग करे, तो वह बडे काम का भी है ।

अर्थ-व्यवस्था के दो पक्ष होते है—पूँजी और श्रम । इनमे भी सर्वोच्च स्थान श्रम का है । महावीर ने श्रम को जितनी प्रतिष्ठा दी, उतनी शायद ही मार्क्स दे पाया हो । उन्होने कहा—जो श्रम करता है, वही श्रमण है अर्थात् संत है । "श्रम ही साधना" है—यह बात विचारक-संसार मे टॉलस्टाय कह पाया था, जिसे रूस की जनता साम्यवाद का एक प्रचेता मानती है । उससे भी पूर्व महावीर ने श्रम को इतनी बड़ी प्रतिष्ठा दी थी ।

धर्माचार्यो या महापुरुषो ने आर्थिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति को निर्धन माना और इस स्थिति के लिए उसके पूर्व-कर्मो को जिम्मेदार माना । भगवान् महावीर का यह स्पष्ट आघोष रहा है कि गरीबी संग्रह और शोषण

(असंविभाग) का परिणाम है। इस विषय में मार्क्स महावीर के बहुत निकट हैं। दोनों ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य की अभावग्रस्तता या गरीबी उसके भाग्य का फल नही है।

इसलिए यथार्थवाद कहता है कि जीवन के दो टुकड़े न करो। टुकड़े करने से समस्या का हल नही है, और न आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता को ठुकराने से ही कुछ होगा। पानी गदा है तो गंदा होने से उसे फैंक मत दो। प्यास तो लगेगी ही, तब पानी की मांग भी होगी। अतः जैसा भी पानी है, उसको शुद्ध करो, उसे छानों, उसका परिष्कार करो और उसका उपयोग कर प्यास बुझाओ। अतः भौतिक जीवन को परिष्कृत करो, शुद्ध करो और उसका उपयोग करके आवश्यकता की प्यास बुझाओ। कोई भी धर्म जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं को ठुकरा नही सका है। जगत् में धन, सम्पत्ति या ऐश्वर्य के जितने भी जीवनोपयोगी रूप है, क्या जैन धर्म उसका कोई द्वेषी है? क्या जैन धर्म यह चाहता है कि सारा संसार दरिद्र, कगाल या भिखमंगा बन जाए? क्या उसका मकसद यह है कि सारा संसार आज ही मुनि बन जाए और संथारा करके बैठ जाए? क्या इससे समस्या हल हो जाएगी? क्या फिर किसी से किसी को कोई अपेक्षा नही रहेगी? क्या फिर इस जीवन में कोई दूषण ही नहीं आने पाएगा?

अगर हम अन्तर की गहराई में उतर कर देखे तो हमारे सामने यह स्पष्ट भासित होगा कि ऐसा न कभी हुआ है, और न कभी होगा। इसका अर्थ यह है कि विश्व जगत् मे हमारा व्यावहारिक जीवन दूषित हो गया है, दूषित मनोवृत्ति के कारण से समाज का धन दूषित हो गया है, ऐश्वर्य दूषित हो गया है, सिंहासन दूषित हो गए है, राजनीति दूषित हो गई है, परिवार दूषित हो गए है। इन सबके परिष्कार के लिए हमारी मनोवृत्ति का सस्कार करना होगा। उसे शुद्ध करके उसका सही रूप मे उपयोग करना होगा।

ऐसी स्थिति मे भ० महावीर का कहना है कि तुम अन्दर के जगत् में भी रह रहे हो और बाह्य जगत् में भी रह रहे हो। तुम विराट् हो। तुम्हारा जीवन उभयमुखी है। जब तक जगत् मे रह रहे हो, तब तक दोनो तरफ परिष्कार की आवश्यकता है। अन्दर को भी माजो, अन्दर को भी निखारो। अन्दर भी बहुत से भूत-प्रेत, शैतान और हैवान हैं। वहाँ भी बहुत से सांप और अजगर फुंकार मार रहे है। इनको भी साफ करो। और बाह्य जीवन मे भी परिवार, राष्ट्र, समाज और जगत् मे जो विग्रह, कलह, द्वन्द्व खड़े हैं, सघर्ष के अजगर फुकार रहे है, दूषित वातावरण है। उनका भी परिष्कार करो, परिमार्जन करो। जीवन में शान्ति इकतरफा नही हुआ करती। जीवन उभयमुखी है। इसलिए शान्ति भी उभयमुखी ही होगी।

सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है अतः किसी की हिंसा मत करो।

इस अहिंसा की उच्चतम धारणा में मन-वचन-कर्म से किसी को कष्ट न देना शामिल हैं। स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ के लिए किसी का प्रयोग शोषण है और शोषण सबसे बड़ी हिंसा है।

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहि अधमाई।। (तुलसी)

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यक्षाश्च भारत।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात् प्राणिना दया।।
(शांतिपर्व, महाभारत)

प्राणियों पर दया जो फल देती है वह चारों वेद भी नही दे सकते और तीर्थों के स्नान तथा पवित्र स्थान भी यह फल नही दे सकते।

'गीता' में विकारों के मूल मे तृष्णा[1] या इच्छा या लोभ को माना गया है, जैन-बौद्ध-धर्मों में भी तृष्णा ही सर्वदुःखकारक मानी गई है। तृष्णातृप्ति के लिए ही हिंसा करनी पड़ती है अतः जब तक तृष्णा है तब तक हिंसा अनिवार्य है।

इस रूप में, तृष्णा, हिंसा और उन पर आधारित संग्रह या परिग्रह के आत्यंतिक निर्मूलन के चरम आदर्श को मानव जीवन का ध्येय सिद्ध करने वाली यह तर्क पद्धति, रागात्मक सामान्य जीवन को पापमय सिद्ध कर देती है और वैराग्यमय जीवन ही निष्पाप, निर्विकार और मुक्तिकारक प्रमाणित हो जाता है।

प्रायः सभी पारम्परिक-समाजो में यह माना जाता है कि राग-द्वेषपरक सामान्य आहारविहारात्मक निद्रामैथुनमय जीवन में उच्चता असम्भव तो नहीं पर दुःसाध्य है, अतः सन्यास को श्रेष्ठ माना गया है और इसी धारणा के कारण सामान्य जन लगभग एक करोड़ साधु-सन्यासियों-वैरागी-औघड़ो-अवधूतों को पाल पोस रहा है और बदले में उनसे डाँट फटकार पा रहा है, अपराधभाव पनपा रहा ह। इन करोड़ों पुरोहितों तथा बाबालोगो और बाह्यों मे निश्चय ही कई श्रेष्ठ साधक होते है, कई पहुँचे हुए अंतर्दृष्टि-सम्पन्न सिद्ध भी किन्तु अधिकतर बाबासमाज मे अंधविश्वास-पाखण्ड-प्रपंच और पापपोपलीला ही दिखाई पडती है और यह पूरा समुदाय, परजीवीवर्ग (पैरासाइट्स) बन गया है जो सामान्य जन मे अंधविश्वास जगाता रहता है और आधुनिक विज्ञान-शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के विचारों और मूल्यों को व्यर्थ कर देता है। वर्गीय समाज की यथास्थिति बनाए रखने में एक बहुत बड़ा कारक यह बाबा समाज भी है जो

---

१. ध्यायतो विषयान् पुंसः।

चरम आदर्श की बातें करता है और व्यापक जनहित में किसी भी तब्दीली का विरोधी है . यह जनएकता में मुख्य बाधक समुदाय है।

अतएव अमूर्त और चरम धारणा के रूप में, धर्मो ने, अनेक प्रत्ययो (कसैप्ट्स) को सार्वभौमिक रूप मे प्रस्तुत किया है। यदि व्यवहार की बात छोड़ दें तो कथनी के रूप मे उच्च आदर्शो का आकर्षक विधान धर्मो में उपलब्ध है और इस सार्वभौम स्तर पर सभी धर्मो में अविरोध है।

इन्ही सार्वभौम प्रत्ययो में जैन धर्म का **अपरिग्रह का सिद्धान्त** है जो समाजवाद और पूंजीवाद के सघर्ष के इस युग में अत्यन्त प्रासगिक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विकारों के मूल में इच्छा या तृष्णा होती है और भवचक्र इसी की पूर्ति के संदर्भ मे शुरू होता है। परिग्रह से ही तृष्णा की तृप्ति होती है, अपरिग्रही या तो इच्छा ही न रखे या इच्छा रखने पर मन के भीतर लोलुपता न पाले अतः आदर्श तो यही है कि इच्छा का सम्पूर्ण निर्मूलन ही हो तभी कोई व्यक्ति अपरिग्रही हो सकता है। परिग्रही कभी मुक्त नही हो सकता—

> चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामचि ।
> अन्न वा अणुजाणइ, एव दुक्खाणा मुच्चइ ।।

किन्तु यह चरम आदर्शवाद सामान्य जीवन के परे की वस्तु है, अतः अपरिग्रह को वस्तुओ का त्याग न मानकर जैन धर्म मे मनोवैज्ञानिक दशा के रूप मे भी माना गया है। साधको-सिद्धो-वैरागियो के लिए तो ठीक है कि वे अपरिग्रह का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करे, परम अकिचन् रहे किन्तु तब सामान्य जीवन असभव होगा।

अत. जैनमत में अपरिग्रह के मनोवैज्ञानिक प्रकार को माना गया है। आचार्य श्री शय्यभव के अनुसार परिग्रह मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति का नाम है। जैन शब्द, 'मूर्च्छा' बहुत सटीक शब्द है क्योंकि वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्ति के क्षणो मे चेतना मूर्च्छित रहती है, इसमें ज्ञानज ताटस्थ्य नही रहता, वस्तु और व्यक्तियों के प्रति चिपकाव की मनोदशा मे स्वतंत्र बुद्धि सोच-विचार का कार्य वन्द कर देती है।

यदि अपरिग्रह मनोदशा है तो वह भीतरी अवस्था है और वह वस्तुओं और व्यक्तियों के सग्रह की दशा मे भी रह सकती है—

> मूर्च्छ्या रहिताना तु जगदेवा परिग्रहः
> (ज्ञानसार)

आसक्ति न हो तो सारे ससार का ऐश्वर्य भी मनुष्य को विकृत/विचलित नही कर सकता अतः इस रूप मे अपरिग्रह का अर्थ है, अनासक्ति और अनासक्ति

वस्तु से असम्बन्धित होती है या हो सकती है क्योंकि—अनासक्त व्यक्ति, वैभव और अधिकारों के बीच भी मनसा तटस्थ रह सकता है, जब चाहे उस सुख को छोड़ सकता है और मूर्च्छित / आसक्त व्यक्ति वैरागी हो जाने पर भी, मन ही मन लोलुपता पाले रखता है, अतः अपरिग्रह, आंतरिकता है, बाह्यता नही ।

इसी रूप में जनक, याज्ञवल्क्य और कृष्ण ने अनासक्त योग या जीवन-मुक्तावस्था की धारणा का प्रवर्त्तन किया था । 'गीता' में अनासक्त योग या कर्म-योग का विशदीकरण मिलता है और इस ग्रंथ में सामान्य जीवन या कर्ममय जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन की एकता स्थापित की गई है कि जो वरेण्य है, श्रेष्ठ है, कर्त्तव्य है, उसे अनासक्त होकर करो ।

यदि अपरिग्रह का अर्थ अनासक्ति है तो वैराग्य धारण करना आवश्यक नही रहता क्योंकि सामान्य जीवन जीते-भोगते हुए भी जब भीतर से, जल मे कमल-पुष्पवत् रहा जा सकता है तब असामान्य वैरागी जीवन जीकर आत्म-निषेध की क्या आवश्यकता है ?

जैनधर्म में अपरिग्रह के कई भेद किए गए है—

क्षेत्र परिग्रह—ये दो प्रकार के है । सिचित भूमि को सेतु और असिचित भूमि को केतु कहा गया है । क्षेत्र के प्रति आसक्ति ही क्षेत्र-परिग्रह है ।

वास्तु—भवन के प्रति आसक्ति । खात (तलघर) उच्छृत और खातो-च्छिृत आदि भवनों के प्रकार होते है ।

हिरण्य (स्वर्ण), धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य आदि वस्तुएँ परिग्रह के अन्य रूप है । इनमें 'द्विपद' शब्द रोचक है । 'द्विपद' का अर्थ है, दास, दासी, मोर, हंस आदि दो पैरों वाले प्राणी । क्योंकि प्राचीनकाल मे दास प्रथा प्रचलित थी, विशेषकर गृहदास प्रथा । अतः दासों को "द्विपद" कहकर उन्हें दो पैरो वाले पक्षियो-पशुओ की श्रेणी में रखा गया है । तथाकथित आदर्शवादी-अपरि-ग्रही, कितने असंवेदनशील हो सकते है, विषमता के समर्थक, यह इस एक ही उदाहरण से प्रमाणित है ।

अहिसा के घोर समर्थक जैन और बौद्ध समाजों में भी, वैराग्य के क्षेत्र में, सघो में तो समता थी पर सामान्य जीवन मे दास प्रथा के विरुद्ध कोई घृणा नही थी । इसीलिए अपरिग्रह यदि मात्र मानसिक प्रत्यय है, समाज में वस्तुओं और व्यक्तियो से वह असम्बन्वित है तो वह कितना क्रूर हो सकता है, कितना अपरि-वर्तनवादी, यह स्पष्ट है ।

आदर्श रूप में जैनमत मे तो हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सकवेद और मिथ्यात्व को भी परिग्रह माना गया है किन्तु इस उच्च परिग्रह के प्रचारकों-प्रवर्त्तकों ने वर्ग-वैषम्य का कभी विरोध नही किया अर्थात् वर्ग-हिंसा-वर्गशोषण पर प्रबल प्रहार

नही किया। यही कारण है कि जैन और बौद्ध मतों की भूमिका जागरणकारी, मानवीय और सुधारक की भूमिका रही है, क्रान्तिकारी नही। आज जैन समाज यथास्थिति का सम्पोषक समुदाय है।

यदि अपरिग्रह को मात्र मानसिक प्रत्यय माना जाता रहेगा, तो यही होगा, यथास्थिति बनी रहेगी। अहिंसक समाज बनाने के लिए जरूरी है कि मनुष्य मात्र के लिए जीवन धारण और विकास के लिए आवश्यक वस्तुओ या संसाधनों की व्यवस्था की जाए और यह "दान" द्वारा न हो क्योंकि "दान" से याचक में हीनभाव और दानी में अहम्मन्यता उपजेगी ही, इससे बचाव असंभव है। अतः अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य आदि मानवीय आदर्शों की मात्र परिकल्पना न कर उन्हें वास्तविक जीवन में चरितार्थ कर सकने वाली सामाजिक व्यवस्था स्थापित होनी चाहिए। मात्र व्यक्ति में परिवर्तन के लिए धार्मिक प्रयत्न, अपर्याप्त, भ्रान्तिकारी और अपूर्ण हैं, परिवर्तन वर्गीय संरचना मे होने चाहिए ताकि एक अहिंसक-समसमाज बन सके।

जैनधर्म के अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह के चरम आदर्श यकीनन प्रेरक है किन्तु उन्हें समाज में चरितार्थ नही किया जा सका। शताब्दियों से ऋषि, मुनियों, सिद्ध साधकों ने चरम आदर्शो का प्रचार किया है किन्तु समाज में न अहिंसा आ पाई, न अपरिग्रह। साधुओं और गृहस्थों की समान अन्तरवाली व्यवस्था जो बनी वह यथावत चली आ रही है। धर्म आचार के रूप में प्रचलित रहा है, व्यवहार में वही सूक्ष्म हिंसा, शोषण और परिग्रह रहता आया है। परिग्रही दान देकर अपने अपराध भाव को दूर करना चाहते रहे है किन्तु दान से अपराध भाव समाप्त नही होता, वह अपराध के त्याग से होता है।

अतएव चरम आदर्शो का प्रचार भी जन साधारण की दृष्टि से, वितरण न्याय के अभाव में मात्र उपदेश सा लगता है, प्रवचक आवरण भी क्योंकि परिग्रही समाज अपने शोषण से किए गए संग्रह को छिपाता है।

मैं समझता हूँ कि यह आधारभूत चुनौती है, जैन समाज के सम्मुख भी कि अमूर्त्त चरम आदर्शो का प्रचार होता रहे और व्यवहार में वैषम्य, हिंसा और शोषण की व्यवस्था और बर्ताव बना रहे अथवा परिग्रह के संसाधनों का निजी स्वामित्व समाप्त कर दिया जाए, भूमि, उद्योग आदि का समाजीकरण कर दिया जाए ताकि परिग्रह का वस्तुगत आधार ही समाप्त हो जाए और वर्गहीन अहिंसक समाज बनाया जा सके।

प्रूधो ने कहा था कि—'सम्पत्ति चोरी है' तो उसका अर्थ यह था कि सम्पत्ति पर, वायु और जल की भाँति भूमि, निधि, कारखाना या अन्य संसाधनों पर निजी स्वामित्व की परिकल्पना परिग्रही कल्पना है और निजी स्वामित्व चौर्यकर्म या दस्युता है क्योंकि शोषण के बिना सम्पत्ति बनती नही है।

अतः समाजवादी व्यवस्था में ही व्यवहार्य-अपरिग्रह का जैन सिद्धान्त चरितार्थ हो सकता है, पूँजीवादी व्यवस्था में अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, न्याय और समानता की बात सोचना आत्मभ्रम है।

वस्तुतः जैनशास्त्रों में—जो ऊँचे मानवादर्श है, वे सही है, सच्चे भी है पर वे अमूर्त्त (Abstract) और अव्यवहार्य है। वे व्यक्ति के विकास की संभावना पर निर्भर है। निश्चय ही जैन समाज मे कुछ महान् व्यक्ति अपरिग्रही हो सकते है, है भी, किन्तु उससे सम्पूर्ण समाज की मुक्ति की कोई सभावना नही वनती।

धर्म वैयक्तिक मुक्ति के लिए प्रेरणा देते है और 'अणुव्रत' के रूप में सुधार की। वौद्धमत मे अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की कल्पना बहुत मनोहर है। सुखावती स्वर्ग में जाने की योग्यता होने पर भी बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर ने स्वर्ग स्वीकार नही किया और कहा कि जब तक प्रत्येक प्राणी का दुःख दूर नहीं होता, तव तक वे स्वर्ग नही जाएँगे। कहा जाता है कि अवलोकितेश्वर आज भी ऊर्ध्वलोक से नीचे की ओर सकरुण-नेत्रों से देख रहे है।

अनुत्तर योगी महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों और जैन मुनियों ने व्यक्तिशः मानवीय दुर्बलताओं का अतिक्रमण कर त्याग और आत्मानुशासन की उच्चतम परम्परा कायम की। उनके उपदेशों मे वस्तुतः स्वतंत्रता, समता और वधुत्व की क्रान्तिकारी प्रेरणा विद्यमान है किन्तु व्यवहार (Practice) में उनके नाम पर जो सम्प्रदाय वना, वह परिग्रह का प्रतीक बन गया।

इतिहास का यह कोई आश्चर्य नही है वल्कि यह अनिवार्य था क्योकि चरम आदर्श प्रेरक होने पर भी मात्र कुछ व्यक्तियों को प्राकृतिक प्रवृत्तियों से परे ले जाते है जबकि वहुसंख्यक समाज उन्हे 'भगवान' मानकर पूजा करने लगता है और व्यवहार में परिग्रही, हिंसक और वैषम्यवर्धक जीवन व्यतीत करता है।

अतएव समाजवैज्ञानिको ने पुरानी धार्मिक विचारधाराओ के स्थान पर समाज अभियांत्रिकी (Social Engineering) का विकास किया। प्रूधो-क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादियों और मार्क्स-एंगिल्स जैसे साम्यवादियो ने व्यवहार्य आदर्शों का प्रकल्प प्रस्तुत किया और अमूर्त्त सिद्धान्तो/दर्शनो को 'अफीम' मे खोए रहने की जगह कहा कि अव्यावहारिक, अवैज्ञानिक व्याख्याओ का चक्कर छोड़कर इस विषम-परिग्रही-हिसक और शोषक समाज व्यवस्था को वदलो और वर्ग शोपणमुक्त समाज की स्थापना करो।

वस्तुतः जैनमत के महामुनियो का अपरिग्रही-आग्रह, सच्चे समाजवादी समाज की स्थापना से ही पूरा होगा। जैनमत के मूल में सार्वभौम समतावादी धारणाएँ है, उन्हे समाज में चरितार्थ करने की चुनौती जैन-अजैन सभी सज्जनो को स्वीकार करनी चाहिए। □ □ □

४६

अपरिग्रह : व्यक्ति और समाज के सन्दर्भ में

☐ डॉ प्रेम सुमन जैन

वर्तमान युग के विकासशील व्यक्ति एवं समाज के जीवन में जितनी अधिक भौतिक समृद्धि आयी है, उतनी मात्रा में ही उसे अनुभव होने लग गया है कि वास्तविक सुख वस्तुओं के संग्रह मे नही है। धन के संविभाग, विसर्जन से ही कुछ आत्मिक शान्ति मिल सकती है। जीवन का सार ग्रन्थी होने में नही है, निर्ग्रन्थ के पथ की तलाश में है। तृष्णा के तिरोहित करने में है। भारतीय धर्म-दर्शन में तृष्णा से मुक्ति एवं त्याग की भावना आदि का अनेक ग्रन्थों में प्रतिपादन है, किन्तु अपरिग्रह के स्वरूप एवं उसके परिणामों का सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रन्थों में ही अधिक हुआ है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम विवेचन से लेकर पं. आशाधर तक के 'श्रावकाचार' ग्रन्थों में पांच व्रतों के अन्तर्गत परिग्रह-परिमाण व्रत की सूक्ष्म व्याख्या की गयी है। उस सबका विवेचन यहाँ प्रतिपाद्य नही है। मूल बात इतनी है कि जैन गृहस्थ अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपरिग्रह व्रत को भी जीवन में उतारे। वस्तुतः यह पांचवां व्रत कसौटी है श्रावक व साधु के लिये। यदि वह अहिसा आदि व्रतों के पालन में प्रामाणिक रहा है तो वह परिग्रही हो नही सकता और यदि वह परिग्रही है तो अहिसा आदि व्रत उससे सधे नही है। अपरिग्रह के इस दर्पण में आज के भारतीय समाज का मुखौटा दर्शनीय है।

परिग्रह की सबसे सूक्ष्म परिभाषा 'तत्त्वार्थ सूत्र' में दी गयी है—'मूर्च्छा परिग्रहः।' भौतिक वस्तुओं के प्रति तृष्णा व ममत्व का भाव रहना मूर्च्छा है। इसी बात को 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र आदि ग्रन्थो में विस्तार से दिया गया है। अन्तरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह की बात कही गयी है। आत्मा के निज गुणों को छोड़कर क्रोध, लोभ आदि परभावों को ग्रहण करना अन्तरंग परिग्रह तथा ममत्व भाव से धन, धान्य आदि भौतिक वस्तुओं का संग्रह करना बाह्य परिग्रह है।

प्रश्न यह है कि जिस परम्परा के चिन्तक परिग्रह से सर्वथा निर्लिप्त होकर विचरे, जिनके उपदेशों में सबसे सूक्ष्म व्याख्या परिग्रह के दुष्परिणामों की की गयी, उसी परम्परा के अनुयायियों ने परिग्रह को इतना क्यों पकड़ रखा है? भौतिक समृद्धि के कर्णधारो में जैन समाज के श्रावक अग्रणी क्यों है? भगवान् महावीर के समय में भी श्रेष्ठिजन थे। उनके बाद भी जैन धर्म में सार्थवाहों की कमी नही

रही। मध्ययुग के शाह और साहूकार प्रसिद्ध है। वर्तमान युग में भी जैन धर्म के श्रीमन्तों की कमी नही है। ढाई हजार वर्षों के इतिहास में देश की कला, शिक्षा व संस्कृति इन श्रेष्ठजनों के आर्थिक-अनुदान से संरक्षित व पल्लवित हुई है। किन्तु इस वर्ग द्वारा सचित सम्पत्ति से पीडित मानवता का भी कोई इतिहास है क्या ? इनके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक पीड़ा का लेखा-जोखा किया है किसी ने ? भौतिक समृद्धि की नश्वरता का आठों पहर व्याख्यान सुनते हुए भी परिग्रह के पीछे यह दीवानगी क्यो है ? कौन है इसका उत्तरदायी ? इन प्रश्नो के उत्तर खोजने से ही व्यक्ति और समाज के परिप्रेक्ष्य में अपरिग्रह को समझा जा सकेगा।

भारतीय समाज की संरचना की दृष्टि से देखें तो महावीर के युग तक वर्णगत व्यवस्था प्रचलित हो चुकी थी। किन्तु अहिंसा की उसमे सर्वाधिक प्रमुखता होने से कृषि और युद्धवृत्ति को अपनाने वाले वर्ग ने जैन धर्म को अपना कुलधर्म वनाने मे अधिक उत्साह नहीं दिखाया। व्यापार व वाणिज्य मे हिंसा का सीधा सम्वन्ध नही था, अत: जैनधर्म वैश्यवर्ग के लिये अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ। और वह क्रमश: श्रेष्ठजनों का धर्म वनता गया। इस तरह श्रीमन्तों के साथ व्यापारिक समृद्धि और जैनधर्म दोनो जुडे रहे। विभिन्न प्रकार के दानों द्वारा परिग्रह-संग्रह की अपरोक्ष स्वीकृति मिलती रही।

श्रेष्ठिजनों के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ सम्वन्ध होने से वह दिनों-दिन मंहगा होता गया। मूर्ति-प्रतिष्ठा, मंदिर-निर्माण, दान की अपार महिमा आदि धार्मिक-कार्य विना धन के संभव नही रह गये। साथ ही इन धार्मिक-कार्यो को करने से स्वर्ग की अपार सम्पदा की प्राप्ति का प्रलोभन भी जुड़ गया। व्यापार-बुद्धि वाले श्रावक को यह सौदा सस्ता जान पड़ा। वह अपार धन अर्जित करने लगा। उसमें से कुछ खर्च कर देने से स्वर्ग की सम्पदा भी सुरक्षित होने लगी। साथ ही उसे वर्तमान जीवन में भी महान् दानी व धार्मिक कहा जाने लगा। इस तरह परिग्रह और धर्म एक दूसरे के वरावर आकर खडे हो गये। महावीर के चिन्तन से दोनो परे हट गये।

परिग्रह-संचय का तीसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। हर व्यक्ति सुरक्षा में जीना चाहता है। सुरक्षा निर्भयता से आती है और निर्भयता पूर्णता से। व्यक्ति अपने शरीर की क्षमता को पहिचानता है। उसे अंगरक्षक चाहिये, सवारी चाहिये, धूप एवं वर्षा से वचने के लिये महल चाहिये। और वे सव चीजे चाहिये जो शरीर की कोमलता को वनाये रखें। इसीलिए इस जगत में अनेक वस्तुओं का संग्रह है। शरीर की अपूर्णता वस्तुओ से पूरी की जाती है। शरीर के सुख का जिसे जितना अधिक ध्यान है, वह उतनी ही अधिक वस्तुओं के संग्रह का पक्षपाती है। इन वस्तुओं के सामीप्य से व्यक्ति निर्भय वनना चाहता है। धर्म, दान-पुण्य उसके शरीर को स्वर्ग की सम्पदा प्रदान करेंगे इसलिए उसने धर्म को

भी वस्तुओं की तरह संग्रह कर लिया है। वस्तुओं को उसने अपने महल में संजोया है। धर्म को अपने बनाये हुए मन्दिर में रख दिया है। इस तरह इस लोक और परलोक दोनों जगह परिग्रही अपनी सुरक्षा का इन्तजाम करके चलता है।

आधुनिक युग में परिग्रही होने के कुछ और कारण विकसित हो गये है। भय के वैज्ञानिक उपकरण बढे है। अतः उनसे सुरक्षित होने के साधन भी खोजे गये है। वर्तमान से असंतोष एवं भविष्य के प्रति निराशा ने व्यक्ति को अधिक परिग्रही बनाया है। पहले स्वर्ग के सुख के प्रति आस्था होने से व्यक्ति इस लोक मे अधिक सुखी होने का प्रयत्न नही करता था। अब वह भ्रम टूट गया है। अतः साधन-सम्पन्न व्यक्ति यही स्वर्ग बनाना चाहता है। स्वर्ग के सुखों के लिये रत्न, अप्सराएँ आदि चाहिये सो व्यक्ति जिस किसी तरह से उन्हें जुटा रहा है। और उस अपव्यय को रोक रहा है जो वह धर्म पर खर्च करता था। पहले व्यापार और धर्म साथ-साथ थे। अब धर्म में भी व्यापार प्रारम्भ हो गया है।

परिग्रह के प्रति इस आसक्ति के विकसित होने में आज की युवा पीढी भी एक कारण है। पहले व्यक्ति अपने परिवार व सम्पत्ति के प्रति इसलिए ममत्व को कम कर देता था कि उसे विश्वास होता था कि उसके परिवार व व्यापार को उसकी सन्तान सम्हाल लेगी। वृद्धावस्था में वह निःसंग होकर धर्म ध्यान कर सकेगा। कारण कुछ भी हों, किन्तु परिवार के मुखिया को आज की युवा-पीढी में यह विश्वास नही रहा। वह अपने लिये तो परिग्रह करता ही है, पुत्र में ममत्व होने से उसके लिये भी जोड़कर रख जाना चाहता है। न केवल पुत्र अपितु दामादों का पोषण भी पुत्री के पिता के ऊपर आ गया है। ऐसी स्थिति मे यदि वह परिग्रह न करे तो करे क्या? समाज में तो उसे रहना है। पहले एक पिता अपने चार बेटों का भरण-पोषण कर लेता था, किन्तु आज चार बेटे एक पिता के भार को नही उठा पा रहे है। यह सब मनोवृत्तियो के परिवर्तन का खेल है।

वर्तमान सामाजिक मूल्यों से भी परिग्रह-वृत्ति प्रभावित हुई है। चक्रवर्ती सम्राटों व सामन्तों का वैभव साहित्य में पढते-पढ़ते हमारी आँखें चौधिया गयी है। समाज में हमने उसे प्रतिष्ठा देनी प्रारम्भ कर दी है जो वैभव सम्पन्न है। नैतिक-मूल्यों के धनी हमारी उंगलियो पर नही चढते। युवापीढी के कलाकारो, चरित्रवान् युवकों व चिन्तनशील व्यक्तियों की हमें पहिचान नही रही। बनावटी-पन की इस भीड़ मे महावीर का चिन्तन कही खो गया है। जीवन-मूल्य को हमने इतना अधिक पकड़ लिया है कि जीव-मूल्य हमारे हाथ से छिटक गया है। और जब जीव का, आत्मा का, निर्मलता का मूल्य न रह जाये तो जड़ता ही पनपेगी। कीचड़ ही कीचड़ नजर आयेगी। जड़ता में मूर्च्छा बढे तो आश्चर्य नही।

५० अपरिग्रह का समाजशास्त्र

□ श्री आनन्द काश्यप

आज का समाजशास्त्र वस्तुतः अपरिग्रह का नही वरन् आधुनिकता का समाजशास्त्र है। सामाजिक सत्य तथा सामाजिक विकास की आधुनिकतापरक व्याख्याएँ तथा अवधारणाएँ पारम्परिक अपरिग्रही सामाजिक अवधारणाओं से नितान्त भिन्न ऐसी अवधारणाएँ हैं जिनका सूत्रपात १७वीं शताब्दी के पुनरुत्थानवादी यूरोप की प्रबोधनात्मक (एनलाइटनमेंट) विचारधाराओं में हुआ था। इस युग ने धर्म तथा आध्यात्म की रहस्यात्मक सत्य विषयक अनुभूतियों तथा धारणाओं को पुराणपंथी ढकोसला मानकर अस्वीकार कर दिया था तथा ज्ञान की तार्किक-वैज्ञानिक विधि के रूप में एक ऐसी विधि का सूत्रपात किया था जिसके द्वारा सत्य का वस्तुपरक अनुसधान सम्भव हो सके तथा ऐसे शक्ति सम्पन्न ज्ञान की उपलब्धि हो सके जो मानव को बाह्य प्रकृति पर विजय दिला पाने मे सक्षम हो। ज्ञान की इस विजय प्रबोधिनी अवधारणा के कारण ही आधुनिक विज्ञान, तकनीक एवं प्रौद्योगिकी का वर्तमान विकास सम्भंव हो सका है। वर्तमान समाजशास्त्र का सूत्रपात भी इसी वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में हुआ था जिसका उद्देश्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न सामाजिक दोषो तथा कुरीतियों का वैज्ञानिक विधियों द्वारा अध्ययन कर उनका निराकरण करना था। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के सफल विकास तथा उससे प्राप्त होने वाली उपलब्धियों को दृष्टिगत रखते हुए समाज की अवधारणा भी एक वृहद् सम्पन्न अथवा विशाल जैविक जन्तु के रूप में की गई थी जिसकी संरचना में व्यक्ति की निजी चेतना अथवा स्वातंत्र्यबोध को कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं था। समाज के यथार्थ या सत्य को व्यक्ति या मानव के सत्य से पृथक् घोषित किया गया था। अगस्त कोंत, कार्ल मार्क्स, दुर्खीम, पार्सस आदि अनेक समाज शास्त्रियों की सिद्धान्त रचनाएँ तथा समाज सम्बन्धी व्याख्याएँ इसी कोटि की विज्ञानवादी यात्रिक व्याख्याएँ है।

इन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में सत्य के सम्बोध (परसेप्शन) तथा व्यक्ति व समाज के विकास-संप्रत्ययों में कहीं भी अपरिग्रह का स्थान नहीं है क्योंकि यहां विकास या प्रगति की अवधारणा मूलतः एक आयामी, वहिर्मुखी आर्थिक-तकनीकी प्रगति की ही अवधारणा है, मनुष्य की आत्मोन्नति तथा समाज की ऊर्ध्व चैतन्यात्मक मूल्यात्मक प्रगति की अवधारणा नही है। वास्तव

आपराधिकता (क्रिमनेलिटी) तथा मानव जीवन को आच्छादित करती यांत्रिक दासता के अपक्षधर हैं।

इस प्रकार अपरिग्रही समाज मे मानव-सुख की अवधारणा जहां उसकी अपरांगमुखी स्वाधीन सत्ता के अन्वेषण, उससे उद्भूत अन्तःशांति तथा अन्तःरस के अनुसंधान की सकल्पना है, आधुनिकतावादी भौतिकवादो समाज-तंत्रों मे मानव-सुख का अन्वेषण आत्म शांति मे नही वरन् विज्ञान तथा तकनीक द्वारा वहिर्प्रकृति के अधिकाधिक दोहन द्वारा उत्पन्न विलास सामग्रियो तथा साधन-सुविधाओं के विकास और सचयन पर आश्रित है। अतः ऐसे समाजो मे संचित 'सम्पत्ति' (प्रापर्टी) का एक विशेष अर्थ तथा उसके नियमन की भी एक विशेष व्यवस्था होती है। समाजवादी समाज-तंत्र जहा निजी सम्पत्ति को मानव शोषण तथा सामाजिक अन्याय का प्रमुख कारण मानते हुए उस पर समाज अथवा सरकार का पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना चाहते है और इस प्रकार मानव अथवा व्यक्ति को अनिवार्य अपरिग्रह के लिए विवश करते है, पूँजीवादी समाज निजी सम्पत्ति के नियमन में सरकारी हस्तक्षेप को अत्यधिक कम कर मानव के सम्पत्ति लोभ को सामाजिक विकास की अभिप्रेरणा में घटाकर परस्पर प्रतिस्पर्धा को पुष्ट कर सामाजिक विकास का उपक्रम रचते है। दोनों ही प्रकार के समाज-तंत्रो में परिग्रह अर्थात् सम्पत्ति संग्रह के नियमन की चेष्टा निहित है, या कहे दोनों ही प्रकार की समाज व्यवस्थाओं में 'परिग्रह' तथा 'अपरिग्रह' का एक द्विविधित द्वन्द्व (डायलेक्टिक्स) विद्यमान है जो मानव के अन्तः अन्वेषण जैसे मूल पुरुषार्थ के अभाव मे किसी उच्चतर भूमि पर सश्लिष्ट नही हो पाते हैं। तत्त्वतः आत्मानुसंधान जैसे मौलिक मूल्य के अभाव में अपरिग्रह की भी विशेष सार्थकता सिद्ध नही होती क्योकि मनुष्य की वहिर्मुखी ऐन्द्रिकता के दवाव में सत्यानुसधान, आत्मानंद, सेवा-सुख, ईश्वर-भक्ति या मनोशाति जैसी किसी आभ्यन्तरिक तृप्ति के विना मानव मन को ऊर्ध्वमुखी रख पाना कठिन ही नही वरन् असम्भव है। इसी कारण अपरिग्रह प्रधान समाज व्यवस्थाओ मे आर्थिक विकास को उतना महत्त्व प्राप्त नही हुआ है जितना कि व्यापक अर्थो में मनुष्य के शैक्षिक विकास को (मात्र साक्षरता प्रधान ज्ञान नही)—परा तथा अपरा दोनों ही प्रकार की विद्याओ को इस शिक्षा धारा मे समान महत्त्व प्राप्त रहा है। योग अथवा आत्म-अनुसंधान अपरिग्रही परम्पराओ का मूल आधार है तथा एक योगी की प्रतिभा ही प्रत्येक मानव तथा शिक्षा-दर्शन की आदर्श प्रतिभा है। इस अर्थ में अपरिग्रह युक्त समाज के विकास या उत्थान का निकष केवल भौतिक सम्पदा या सुख-सुविधाओं का विकास या संग्रह नही वरन् शील या चरित्र सम्पन्न आत्म-तृप्त सृजनशील मानव समूहों के निर्माण का निकष है। किसी समाज मे लोग साक्षर कितने है, जन-सचार साधनो का कितना उपयोग करते है, महत्त्वाकांक्षी कितने हैं, राजनैतिक गतिविधियों के प्रति कितने

जागरूक है जैसे आधुनिकता के समाजशास्त्रीय सूचकाकों द्वारा ऐसे समाज के विकास का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं होगा। महात्मा गांधी द्वारा अवधारित राम राज्य तथा स्वावलम्बी समाज रचना के संकल्प को आधुनिकतावादी समाज शास्त्री तथा अर्थशास्त्री कई बार एक प्रतिगामी विचार के रूप में अस्वीकार कर देते है। वास्तव में महात्मा गांधी ने वर्तमान युग के अनुरूप अपरिग्रह के सामाजिक अर्थ को व्यापकता प्रदान करते हुए सम्पत्ति-संग्रह की मानव वृत्ति को 'ट्रस्टीशिप' की अवधारणा से जोड़कर एक व्यापक मानवीय आधार प्रदान किया था। जहां मार्क्सवादी संकल्पनाएँ धन सम्पत्ति को व्यक्ति के निजी अधिकार क्षेत्र से हटाकर उसे सरकारी क्षेत्र में अधिकृत कर लेती हैं (यहां तक कि व्यक्ति स्वयं भी सरकारो सम्पत्ति का ही एक भाग होता है, उसका अपना निजी स्वातंत्र्य-वोध नगण्य प्रायः होता है) तथा इसके विपरीत पूँजीवादी या 'स्वतत्र' देशों में सभी आर्थिक-सामाजिक उपक्रम व्यक्ति-स्वातंत्र्य ('प्रवृत्ति' जन्य स्वातत्र्य) का अंग बनकर एक खुली प्रतिस्पर्धा (बाजार) या दौड़ का हिस्सा बन जाते है। महात्मा गांधी भारतीय पारम्परिक चिन्तन के अनुरूप सम्पत्ति को उसके इन प्रचलित सन्दर्भो से निकालकर दिव्यता या भगवत सत्ता के उच्च आदर्श सन्दर्भो से जोड़ते है। मूलतः प्रकृति-जगत का अग होने के नाते धन-सम्पत्ति पर मात्र व्यक्ति या मानव समूह का ही अधिकार नही वरन् मूलतः वह दिव्य-सत्ता के अधिकार क्षेत्र की वस्तु है अतः कुछ न कुछ अशो मे उस पर सभी जीवधारी प्राणियो का अधिकार है; जिस व्यक्ति के पास वर्तमान मे वह सम्पत्ति केन्द्रित है वास्तव में वह उसका अधिकारी नही वरन् 'ट्रस्टी' या रक्षक है और इस रूप में साधारण भोक्ता की तुलना मे ऐसे रक्षक का दायित्व उस सम्पत्ति के प्रति अधिक गहन होता है। इस प्रकार 'सम्पत्ति' या सम्पदा को महात्मा गांधी मानव जीवन के उदात्त एव उच्चतम सन्दर्भ से जोडकर तथा पुनः उसे साधारण जीवन के निम्न आधारो या स्तरों तक उतार कर व्यावहारिक बनाने की चेष्टा करते है। उनके इस सम्पूर्ण चिन्तन का आधार उनकी मानव मात्र में अटूट श्रद्धा या विश्वास है। उनकी दृष्टि में मानव केवल प्रतिस्पर्धा, सघर्ष, ईर्ष्या-द्वेष जैसी निम्न वृत्तियों का पुज एक हीन पशु नही वरन् अनंत सम्भावनाओं का पुंज एक दिव्य सत्ता है, अमृत पुत्र है अतः उनका समस्त चिन्तन इसी आधार तथा आदर्श की ओर संकेन्द्रित है। इसी कारण उनकी अपरिग्रह तथा 'ट्रस्टीशिप' की अवधारणाएँ निकटस्थ रूप मे 'सत्याग्रह' की अवधारणा से भी जुड़ी हुई है। भगवत सत्ता को उन्होंने 'सत्य' की ही अनन्त सत्ता के रूप मे ग्रहण किया है। 'सत्याग्रह' उनकी दृष्टि मे जहा आत्मनिरीक्षण तथा आत्मशुद्धि का एक प्रखर साधन है, वही बहिर्जगत की शुद्धि तथा मुक्ति का भी एक सशक्त माध्यम है। किसी देश या राष्ट्र को निजी सम्पत्ति स्वीकार कर उसका शोषण करने वाली विदेशी सत्ता का गाधीजी ने 'सत्याग्रह' के अहिंसक हथियार द्वारा ही उच्छेदन किया था और इसी अहिसक वल का

५१

योग और अपरिग्रह

□ डॉ० नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

आजकल योग के सम्बन्ध में पर्याप्त जन-अभिरुचि दिखाई पडती है। योग को विभिन्न कोणों से परिभाषित एवं व्याख्यायित किया जा रहा है। सामान्यतः, भौतिकता के तापों से सतप्त मनुष्य योग से त्वरित फल प्राप्त करने का यत्न कर रहा है। शारीरिक निरोगता, शरीर-यष्टि की स्वस्थता एव मानसिक-शांति हेतु योग अत्यधिक सहायक हो रहा है। किन्तु मनुष्य का व्यक्तित्व भग्न और खण्डित ही बना हुआ है। इसका सम्भवतः कारण यह है कि हम योग के अखण्डित स्वरूप का न तो अर्थ ही जानते है और न हम उसे आज के युग की आवश्यकता के अनुकूल अपना ही पाते है। परिणामतः योग से होने वाले स्थायी लाभो से हम वचित ही रहते है। व्यष्टि और समष्टि के कल्याणार्थ यह परमावश्यक है कि हम योग का सही अर्थ समझे और उसमे निहित सार-तत्त्व को मनसा, वाचा, कर्मणा आत्मसात् करे।

योग की परम्परा भारत मे अत्यधिक प्राचीन है। इस देश के आध्यात्मिक-चिन्तन की तीन मुख्य धाराओं—नैगम (वेदमूलक), बौद्ध और जैन—में योग की प्रचुर चर्चा है। नैगम वाङ्मय में योगियों की कथाये आती है और योगाभ्यास सम्बन्धी उपदेश मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थ योग और योगियों की चर्चा से भरे पड़े है। बुद्ध का जीवन ही योग का पुष्कल प्रमाण है। अर्हत-पद जहाँ पहुँच कर फिर जन्म नही लेना पड़ता, योग-जन्य समाधि का पुरस्कार है। जैन धर्म मे योग की चर्चा अपेक्षाकृत कम है, यहाँ योग की जगह तपश्चर्या को दी गयी है। पर प्रकारान्तर से योग सम्मत जीवन-शैली का ही प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार से योग की धारा अप्रतिहत रूप से भारत-भूमि पर प्रवाहित होती रही है। योग, जन-जीवन में इतना घुल मिल गया है कि धर्म, अध्यात्म, तत्र, साधना, भक्ति, चमत्कार, जादू-टोना आदि का पर्याय सा बन गया है। प्रारम्भ मे योग नितान्त गुह्य विषय था, गुरु और शिष्य के बीच का संवाद था, वैयक्तिक साधना का मार्ग था। इसलिए इसमे रहस्य एवं अलौकिकता का तत्त्व समाविष्ट हो गया। फलस्वरूप, योग सम्बन्धी अनेकानेक भ्रांत-धारणाये उत्पन्न हो गयी। कालान्तर मे योग की मूल अवधारणा विस्मृत सी हो गयी और इस जीवन-विज्ञान को अपने-अपने ढंग से समझा जाने लगा। वर्तमान युग तक आते-आते योग, मात्र व्यायाम, जिम्नास्टिक, रोगोपचार का साधन एवं मन की शांति

देने वाला माध्यम मात्र रह गया है। महर्षि पतजलि की मूल अवधारणा को भुला दिया गया तथा योग विषयक पूर्ण संदर्शन की उपेक्षा कर दी गयी। परिणाम यह हुआ कि योग को खंड-खंड रूप में देखा जाने लगा। योगासनों की लोकप्रियता अथवा भावातीत ध्यान या संभोग से समाधि अथवा कुछ विलक्षण योगियो द्वारा समय-समय पर किये गये अलौकिक चमत्कारों में ही योग सिमट कर रह गया। नैतिक आचरण—व्यक्तिगत एवं समष्टिगत के नियमन में योग की महती भूमिका को नजरअन्दाज कर दिया गया। योग मात्र एक फैशन बन गया।

हम यह भूल गये कि महर्षि पतंजलि एक महान् समाजशास्त्री थे। उन्होंने अपने अष्टाग-योग की रचना 'व्यक्ति' के आत्म-निर्माण एव विकास हेतु की थी तथा व्यक्ति के माध्यम से समाज का उन्नयन ही उनका अभीप्सित था। उनकी योग सम्बन्धी धारणा नितांत वैज्ञानिक एवं साधनापरक है। 'योगदर्शन' के रचनाकार के दृष्टि-पथ मे मनुष्य का नैतिक शुद्धाचरण प्रमुख था। इसीलिए उन्होने यम-नियमों को वरीयता-क्रम में पहला स्थान दिया। ये यम-नियम व्यक्ति के बाह्य एवं आतरिक आचरण की मूल भित्ति है। इनके सतत अभ्यास से मनुष्य मे शुचिता उत्पन्न होती है, योग-मार्ग में प्रशस्त होने की पात्रता प्राप्त होती है। यह प्रणाली एक सश्लिष्ट प्रणाली है—यम-नियम एक-दूसरे से गुँथे हुए है तथा एक-दूसरे के पूरक है। ये मनुष्य को पूर्णता प्रदान कर उसे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की इन्द्रियातीत स्थिति तक पहुँचाते है।

व्यक्ति का कल्याण तथा उसके द्वारा समष्टि-कल्याण ही योग-दर्शनकार का मुख्य इष्ट था। इस सदी में योग के सम्बन्ध में प्रभूत साहित्य लिखा जा रहा है, योग द्वारा स्वास्थ्य-सौन्दर्य, रोगमुक्ति, स्लिमिग आदि के नुस्खे बताये जा रहे है। पर, यम-नियम सम्बन्धी चर्चा का प्रायः अभाव सा ही है। इस उपेक्षा का कारण सम्भवतः मनुष्य की भौतिकता संकुल प्रवृत्ति है अथवा त्वरित फल प्राप्त करने का उतावलापन है। योग को इस प्रकार खंडित स्वरूप में देखा जा रहा है। यम (अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) तथा नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान) आज के मनुष्य-जीवन की परम आवश्यकता है। यदि मनुष्य आज के युग की भयावह त्रासदी से मुक्ति पाना चाहता है तो यह जरूरी है कि वह यम-नियम पर आधारित योगमय जीवन-शैली को अपनाये और फिर, विज्ञान के इस परिग्रही युग में मनुष्य को अपरिग्रही बनकर विनाश से बचना है, अन्यथा, उसकी परिग्रह-प्रवृत्ति उसे निगल जायेगी।

आज के गति-प्रधान एवं वैभवोन्मुख युग में अपरिग्रह की बात शायद किंचित् विचित्र सी लगे, पर सत्य तो यह है कि अपरिग्रह के बिना आज के

मानव की कोई गति भी नही। इस अपरिग्रह की प्रवृत्ति को योग के सतत अभ्यास से अर्जित किया जा सकता है।

केवल योग की जीवन-प्रणाली में आस्थावान् व्यक्ति ही अपरिग्रह की ओर उन्मुख हो सकते है। अपरिग्रह की बात जैन धर्म में पंचम व्रत के रूप मे मिलती है तथा इसे नैतिक-आचरण में बड़ा स्थान दिया गया है। योगदर्शन मे अपरिग्रह पाँचवा यम है। वास्तव में किसी न किसी रूप में प्रत्येक धर्म अथवा चिन्तन में अपरिग्रह की अवधारणा का समर्थन किया गया है। अपरिग्रह क्या है ? अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति और भोग-सामग्री का संचय करना परिग्रह है, इसके अभाव का नाम अपरिग्रह है। यह वात सूत्र रूप मे कही गयी है, पर अपरिग्रह व्यक्ति की त्यागोन्मुख एव अनासक्तिपरक वैराग्योन्मुख जीवन-दृष्टि का नाम है। जो अपरिग्रही है वह सच्चा योगी है, महात्मा है, महान् सन्त है। जहाँ कही भी परोपकार, दान, त्याग, वैराग्य का प्रसग आयेगा; वहाँ अपरिग्रह अवश्य रहेगा। इसलिए यह परमावश्यक है कि आत्म-विकास के पथ पर चलने वाला साधक अपरिग्रह की स्थिति तक पहुँचने का क्रमशः सतत अभ्यास करे। योग के माध्यम से यह स्थिति सम्भव हो सकती है। जब व्यक्ति अपरिग्रही बन जायेगा तो शेष यम-नियम अपने आप सध जायेगे, क्योकि जैसा कि ऊपर कहा गया है यम-नियम आपस मे अन्तर्ग्रंथित है तथा मनुष्य के आध्यात्मिक-उद्धार में समग्र रूप से योगदान देते है। जिस व्यक्ति मे संचय-सग्रह की प्रवृत्ति का अभाव होगा—वह हिसा, द्वेष, वैमनस्य आदि दोषो से मुक्त रहेगा, वह सत्यशील होगा क्योंकि वह निर्भय होगा, वह किसी की सम्पत्ति को क्यो चुराना चाहेगा ? (अस्तेय), ऐसा व्यक्ति संयमी होगा और ब्रह्मचर्य का निर्वाध रूपेण पालन करेगा। उसके जीवन मे शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान स्वतः ही प्रविष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार से अपरिग्रह का अनुसरण करता हुआ व्यक्ति न केवल आत्मोत्थान की दिशा मे अग्रसर होगा अपितु वह समाज में प्रेम, सद्भाव, करुणा, मैत्री मुदिता, विश्व-बन्धुत्व प्रभृति दिव्योन्मुख मानवीय गुणो से एक विशेष वातावरण का निर्माण करेगा। अपरिग्रह का अभ्यासी व्यक्ति वैयक्तिक-विघटन तथा सामाजिक-वैषम्य पर पूर्णविराम लगाने मे एक सार्थक तथा प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा।

परिग्रह के मूल मे मनुष्य के चित्त मे सचित पाँच मल विशेष कारण बनते हैं। जब तक चित्त इन मलों से मुक्त नही हो पाता, मनुष्य अपरिग्रही नही बन सकता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश—मनुष्य को परिग्रह के गर्त मे ढकेलते हैं। इन अशुद्धियों का प्रक्षालन योग से ही सम्भव है। शौच—वाह्य एव आन्तरिक—इन मलो को धो डालता है; सन्तोष, अपरिग्रह को सवल प्रदान करता है, तप के द्वारा मनुष्य परिग्रह के सम्मोहन से मुक्त होता है; स्वाध्याय चित्त में शुचिता एवं आत्मानुशीलन की पूर्वपीठिका तैयार करता है।

ईश्वर-प्रणिधान का अभ्यास कर मनुष्य निश्चिन्त भाव से अपना कर्म करता हुआ अपरिग्रह की दिशा में आगे बढता है क्योंकि उसे भगवान कृष्ण के वचन याद रहते है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां,
ये जना पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

"जो एकाग्र मन से एकमात्र मेरी भक्ति करते है और प्रत्येक क्षण अनन्य भाव से मुझमें स्थित है, मैं उनके योगक्षेम की व्यवस्था कर देता हूँ । उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ और सर्वदा के लिए उनकी रक्षा करता हूँ ।"

इस प्रकार से अपरिग्रही में ईश्वर के प्रति आस्था एव अपने कर्म के प्रति विश्वास-श्रद्धा होती है । वह निष्काम रूप से 'योगः कर्मसु कौशलम्' का पालन करता है । उसे विश्वास है कि यदि वह सतत कर्मशील रहे तो उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नही । वह कर्म करता है अनासक्त भाव से, ईश्वर का आदेश मानकर—वह फिर कर्म-बन्धन में क्यों कर बंधेगा ? उसे अनावश्यक संग्रह की क्यों आवश्यकता हो ? कल की वह चिन्ता क्यों करे ? यदि उसमें कौशल है तो वह जब चाहे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अर्थ अथवा अन्य साधन जुटा सकता है । जो व्यक्ति मन से निर्बल है, जिसमें आत्म-विश्वास की कमी है, ईश्वरार्पण में जिसकी श्रद्धा नहीं—वही व्यक्ति परिग्रह की ओर बढता है । योग के सतत अभ्यास से व्यक्ति में संयम, शक्ति, आत्म-विश्वास आदि गुणों का विकास होता है ।

सच्चा अपरिग्रही 'अपने' ('आत्मानं विद्धि' या 'Know Thyself') को जानता है । योग दर्शनकार कहते है, "अपरिग्रह स्थैर्ये जन्म कथन्ता संबोधः" (साधन पाद ३९) । इस प्रकार के आत्म-ज्ञान से वैराग्य की उत्पत्ति होती है । उसे पता है कि भोगों के भोग से तृप्ति नही होती । भर्तृहरि के उपदेश का मर्म वह जानता है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।

—"भोगों को हमने नही भोगा, किन्तु हम ही भोगे गये । तप नही तपे

गये, किन्तु हम ही तपे गये। समय नही कटा किन्तु हम ही कट गये, सचमुच तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये।"

उसे सासारिक भोगो की निस्सारता का ज्ञान होता है और वह जानता है कि—

न जातु काम. कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

"आग मे चाहे हवन की कितनी भी सामग्री डाली जाये आग की तृप्ति नही होती वह और उद्दीप्त हो जाती है, उसी प्रकार भोग जितने भी भोगे जाये भोगेच्छा की तृप्ति नही होती। वह और भी वढ़ती ही जाती है।"

उसका आदर्श कबीर के शब्दों में कहा जा सकता है—

साई एता दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ।।

अपरिग्रह का भाव 'योगदर्शन' मे वर्णित 'वैराग्य' से तथा 'गीता' में प्रतिपादित 'अनासक्ति' से जुड़ा हुआ है। यह स्थिति सतत अभ्यास से प्राप्त होती है। जब व्यक्ति योग की प्रक्रिया से गुजरता है तो उसमें आत्म-ज्ञान का प्रकाश चमकने लगता है। वह सत्य-असत्य, नित्य-अनित्य, सार-निस्सार, जड़-चेतन का भेद जान जाता है। वह व्यक्ति योग के द्वारा चित्तवृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति) एव चित्त-विभ्रमो (व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थिततत्व) का निरोध करता हुआ, 'योगस्थ' होकर कर्म करता है। कर्म की प्रक्रिया में अनासक्त रहता है। कर्म मे कौशल अर्जित करता हुआ, फलेच्छा से वियुक्त हो, 'कर्ता' के भाव से नही जुड़ता। जव किसी व्यक्ति की इस प्रकार की मन.स्थिति हो जाती है तो वह अपरिग्रह की ओर वढने लगता है। वह स्वार्थपरता एवं सकीर्णता की कारा से निकल प्राणिमात्र को दिव्य-तत्व का अंश मानने लगता है। सही अर्थों मे ऐसे व्यक्ति को 'वीतराग', 'स्थिरधी' या 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। योग-दर्शन मे, गीता में और विभिन्न धर्मों में योग की इस विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन मिलता है।

अपरिग्रह मे आत्मावलम्वन, कार्यकौशल, श्रम की गरिमा, ईश्वरार्पण तथा त्यागशीलता स्वतः ही आ जाते है। योग की प्रक्रिया अपने आठ सोपानों (अष्टाग योग) के द्वारा व्यक्ति को पूर्णत्व प्रदान करती है, उसे 'जागृत' करती है 'मूर्च्छा' से। चेतना के सभी स्तर योग से प्रभावित होते हैं। मनुष्य का समग्र रूपेण दिव्यान्तरण हो जाता है। अनुदात्त, उदात्त होकर व्यक्ति को भीतर से

बदल देता है। यम-नियम उसे नैतिक आचरण का अभ्यास कराते है, आसन प्राणायाम—उसके शरीर को स्वस्थ और निरोग रखते है, प्रत्याहार की प्रक्रिया उसे अन्तर्दर्शन सिखाती है। धारणा, ध्यान, समाधि—उसे उसके गंतव्य—कैवल्य तक पहुँचाते है।

अपरिग्रह और 'युक्त' जीवन का गहरा सम्बन्ध है। अपरिग्रही व्यक्ति 'युक्त' जीवन का अभ्यासी होता है। ऐसा व्यक्ति योग का सही लाभ उठाता है—

युक्ताहार विहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु
युक्त स्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा।
—गीता ६/१०

वह अपना 'जमीर' कभी नही बेचता, क्योंकि उसे इच्छाओं पर विजय प्राप्त होती है। वह शायद कहता है—

अपना जमीर बेचकर, खुशियाँ खरीद लें
ऐसे तो इस जहाँ में, तलबगार हम नही।

वह निर्भय एवं निष्काम होता है। उसे मृत्यु से भी भय नहीं क्योंकि—

जातस्य हि ध्रवो मृत्युध्र्ुवं जन्म मृतस्य च
तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।
—गीता २/२७

उसकी आवश्यकताये सीमित होती है, उसे लोभ नही सताता, लिप्सा उसके पास नही फटकती। ऐसा अपरिग्रही 'या निशा सर्वभूतानां तस्याम् जागर्ति सयमी' का प्रदीप्त साक्ष्य होता है।

अपरिग्रह का मार्ग अत्यन्त कठिन है। आज के युग में इसे 'महाव्रत' के रूप में अपनाना सामान्यतः कठिन ही है तथापि, इसे 'अणुव्रत' के रूप में अंगीकार किया जा सकता है। शनै.-शनैः व्यक्ति गतव्य तक पहुँच सकता है। अपरिग्रह के राही के सामने अनेकानेक चुनौतियाँ होती है। इन अवरोधों के सम्बन्ध में शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेष के सन्त स्वामी कृष्णानन्दजी कहते है, "हमारे भीतर एषणाये विविध प्रकार से और नाना कोटियों के प्रलोभनों के रूप में प्रकट होती है, अतः इस पथ पर अग्रसर होते समय सर्वप्रथम आपको प्रलोभन का सामना करना पड़ता है। उसे आप जीत नही सकते। लोभ, लोभ के रूप में नही आता, अतः उसे कोई रोक नही सकता। दुष्ट यदि दुष्ट के रूप में आये तो आप उसे पहचान लेंगे, अतः वह सन्त के रूप में आता है और उसे आप समझने

मे भूल कर जाते है। इन्द्रिय-सुख भोग और अहं-तुष्टि जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बन जाते है। 'यह तो हमारे लिए अनिवार्य है, इसकी हमें तीव्र आवश्यकता है', 'यह आवश्यक प्रलोभन नही'—आप अपने समक्ष ऐसे ही तर्क प्रस्तुत कर देते है। आसक्ति को दयालुता मान लेते है। काम और लोभ को जीवन की आवश्यकता समझ लेते है। अहंकार और स्वार्थपरता को जनहिताय और परहिताय समझ लिया जाता है। मिथ्या वस्तु को गलती से सत्य समझ लिया जाता है। ससार को ईश्वर, दुःख को सुख, और भ्रम को सिद्धि मान लिया जाता है। आत्म-पथ पर इन प्रलोभनों से मुठभेड़ होती है।"

अतएव, यह परमावश्यक है कि अपरिग्रह का पथिक इन प्रलोभनो से सावधान रहे। 'बाह्य अपरिग्रह' तथा 'आन्तरिक अपरिग्रह'—समन्वित रहे। यदि ऊपर से हमने वस्तुओं से नाता तोड़ लिया, पर मन से हम यह न कर पाये तो वह अपरिग्रह नहीं होगा, मात्र आत्म-प्रवंचन ही होगा। 'वैराग्य' एवं 'अभ्यास' से यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है।

योग की वैज्ञानिक-प्रक्रिया व्यक्ति मे अपरिग्रह की भाव-भूमि तैयार करती है। हमारे भीतर का त्याज्य, हेय तत्त्व रचनाशील तत्त्व मे बदल जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय योग संस्थान बम्बई के संस्थापक महान् योगी श्री योगेन्द्रजी का कथन यहाँ उल्लेखनीय है : "Yoga is the triumph of human endeavour against what is evil in Nature, it is the mastery over its forces and it is the Symbol of the maximum in the psychic achievement and evolution of Man The ultimate achievement of Yoga is the transformation of personality (चित्त) from the disintegrated into the integrated one, and from the ignoble to the noble being." योग के द्वारा मनुष्य दिव्य-चेतना से संस्पर्शित होता है, अपरिग्रह का मार्ग उसे जड से चेतन की ओर ले जाता है।

आज के विश्व को अपरिग्रह की नितांत आवश्यकता है। विज्ञान की अनेकानेक उपलब्धियाँ मनुष्य को 'परिग्रह' की अन्धेरी गुफाओ में ले जा रही है। परिग्रह ही मनुष्य के अवसान का कारण बनता जा रहा है। भौतिकता की अन्धी दौड़ मे हम अपने 'स्वरूप' को भूलते जा रहे है। मानव, शांति के लिए छटपटा रहा है। पर उसे शांति कहाँ ? परिग्रह की प्रवृत्ति राग, द्वेष, वैमनस्य, शक्ति-संचय, शस्त्र-संग्रह, स्वार्थपरता, वैषम्य के रूप मे यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रकट हो रही है। मनुष्य में असुरक्षा की भावना व्याप्त है, उसे अपने पर भरोसा नहीं, 'अपनों' पर भरोसा नही, ईश्वर पर भरोसा नही। भविष्य को सुरक्षित बनाने के भ्रम मे वह परिग्रह की ओर दौड रहा है। चारों ओर आपाधापी मची हुई है।

इस स्थिति में योग ही मानव को बचा सकता है। व्यष्टि के स्तर पर 'अपरिग्रह' व्यक्ति का परिष्कार करेगा। उसे आनन्द की अनुभूति करायेगा, उसे निर्द्वन्द्व बनायेगा, अभय-दान देगा, उसको पूर्णता की ओर ले जायेगा। समष्टि के स्तर पर अपरिग्रह, विश्वबन्धुत्व के भाव को पुष्ट करेगा, सुख-शांति का संवाहक बनेगा। यह तभी सम्भव होगा जब हम योगमय जीवन-शैली का वरण करेंगे, उसके अखंडित स्वरूप (Holistic Form) में। यदि अपरिग्रह में मनुष्य की प्रतिष्ठा हो गयी तो हिंसा का अन्त हो सकेगा। अपरिग्रह के होने पर अहिंसा तो स्वत: फलित होगी ही। यदि लोभ नही है तो द्वेष क्यों उत्पन्न होगा और द्वेष के बिना हिंसा का जन्म कैसे होगा ? अपरिग्रह की भावना में 'ईशोवास्योपनिषद्' का यह स्वर भी मिला रहना चाहिए—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यदि 'त्यक्तेन भुंजीथा' का भाव, कर्म करते हुए यदि रहे तो अपरिग्रह की सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। अपरिग्रही सच्चे आनन्द की अनुभूति कर सकेगा—

सुकूं दिल मयस्सर हो तलब में गैर मुमकिन है।
सुकूं चाहे तो इंसा अपनी दुनिया मुख्तसर कर ले।

अपरिग्रह की इससे अच्छी परिभाषा हो नहीं सकती।



यह अन्न ग़रीबों के लिए है !

संवत् १३१३ की बात है। गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा। सभी लोग दाने-दाने के लिए तरस रहे थे। सेठ जगडूशाह ने गाँव-गाँव में सदाव्रत खोलकर भूखो को अन्न बाँटना शुरू कर दिया था। वहाँ के महाराजा ने जब यह बात सुनी तो जगडूशाह को ससम्मान राजमहल में बुलाया और उनकी दानशीलता की प्रशंसा की और कहा—"सेठजी ! सुना है, आपके पास अनाज के ६००-७०० कोठार भरे पड़े है, में आपसे दान नही मांगना चाहता, सिर्फ अपनी प्रजा को जीवित रखने के लिए उन्हे मोल खरीदना चाहता हूँ।"

"राजन् ! मेरे पास जो अनाज के कोठार है, उनमे से एक भी दाना मेरा अपना नही है, फिर बेचूँ क्या ?" सेठजी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

यह सुनकर महाराजा ने सेठजी के कोठारों की जाँच करवाई तो प्रत्येक कोठार में ताम्रपत्र पर खुदा हुआ मिला कि 'यह अन्न गरीवों के लिए है।'

जगडूशाह की अद्भुत उदारता, करुणा और निर्लोभता के सामने महाराजा का सिर झुक गया।

☐ राजीव भानावत

जड़ है या चैतन्य है। इसलिये जड़ और चैतन्य भेद में ससार के समस्त पदार्थ आ जाते है। जैन-दर्शन में परिग्रह के बारे में गहराई से विस्तृत वर्णन किया है। जैन-दर्शन के अनुसार—पदार्थ परिग्रह नही है, किन्तु उसके प्रति जो ममत्व भाव है, वह ममत्व भाव ही परिग्रह है।

परिग्रह को वृक्ष के रूप मे माना गया है। परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ तृष्णा है। मणि, हीरे, जवाहरात, सभी प्रकार के रत्न; तथा मूल्यवान पदार्थ, सोना-चांदी आदि द्रव्य; स्त्री, परिजन, नौकर, चाकर आदि द्विपद, घोड़ा, हाथी, बैल, भैंस, ऊँट, भेड़, बकरी, गाय आदि चतुष्पद; रथ, गाड़ी, मोटर, स्कूटर आदि वाहन; अन्न आदि भोज्य पदार्थ; पानी, शर्वत आदि पेय पदार्थ; वस्त्र, वर्तन, सुगन्धित द्रव्य व घर, खेत, जमीन, पर्वत, खदान, ग्राम, नगर आदि पृथ्वी की इच्छा-मूर्च्छा, इसी परिग्रह रूपी वृक्ष की जड है। प्राप्त वस्तु की रक्षा चाहना और अप्राप्त वस्तु की कामना करना, यह परिग्रह वृक्ष का मूल है। क्रोध, मान, माया, लोभ इसके स्कन्ध (कन्धे) हैं। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त की इच्छाओ की प्राप्ति के लिए की गई अनेक प्रकार की चिन्तायें, इस वृक्ष की डालियाँ है। इन्द्रियो के काम-भोग, इस वृक्ष के पत्ते, फूल तथा फल है। अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेश इस वृक्ष का कम्पन है। इस प्रकार परिग्रह एक वृक्ष के समान है, जिसका विस्तार ऊपर लिखा गया है।

इच्छा या मूर्च्छा का नाम ही ममत्व या परिग्रह है। मन मे सांसारिक पदार्थों की इच्छा होती है। मन की चंचलता से इच्छा का जन्म होता है। मन विशेषतः इन्द्रियानुगामी होता है। वह इन्द्रियो के साथ जाना अधिक पसन्द करता है। वाधा न होने पर मन इन्द्रियो के प्रिय मार्ग पर ही चलता है तथा इन्द्रियाँ स्वयं द्वारा ग्राह्य विषयो मे ही सुख मानती है। यद्यपि विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती है, उनका काम पदार्थों का ज्ञान कराना है, लेकिन जव वुद्धि मन के अधीन हो जाती है और मन इन्द्रियों का अनुगामी वन जाता है, इन्द्रियो के साथ हो जाता है, तव इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिणी वन जाती है तथा विषयों में सुख मान कर उनकी ओर दौड़ने लगती है। परिग्रह के अन्तर्गत जहाँ भौतिक पदार्थों की प्राप्ति हेतु प्रवल इच्छा करना, प्रयास करना, न मिलने, नही प्राप्त होने पर निराश, हताश होना, मानसिक तनाव को जन्म देता है। उसी प्रकार इन्द्रियों की इच्छाओ की पूर्ति के लिये अधिक खाना, तामसिक भोजन खाना, संयम रहित जीवन यापन करना, अधिक विषयभोग में लिप्त रहने से पाचन सस्थान सम्वन्धी व अन्य रोगों का पैदा होना समाविष्ट है।

परिग्रह से मानव-स्वास्थ्य की हानि

जैन शास्त्रों में वताया गया है कि जहाँ परिग्रह है, वहाँ कलह का,

असंतोष का, अशांति का बोलबाला है, जो मानव स्वास्थ्य को चौपट कर देता है। मानव परिग्रह से लिप्त होने से रात-दिन येन-केन प्रकारेण अर्थ उपार्जन मे लगा रहता है, उसका जीवन असंयमित व अस्वास्थ्यकर हो जाता है। वह चलती-फिरती मशीन की तरह, कोलाहलयुक्त अशांत जीवन व्यतीत करता है। परिग्रह के कारण ही मानव क्रोध, द्वेष, दुर्व्यसनों से घिरा रहता है, अतः परिग्रह ही मानव के समस्त दुःखों का कारण है। वह स्वयं को भी दुःख मे डालता है और दूसरों को भी। परिग्रह व्यक्ति व समाज दोनों का ही नुकसान करता है। इससे न व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा रहता है और न समाज का स्वास्थ्य ही अच्छा रहता है। परिग्रह आध्यात्मिक हानि का कारण तो बनता ही है, साथ ही साथ इससे शारीरिक हानि भी होती है।

परिग्रह के कारण ही इच्छा-मूर्च्छा का ममत्व होता है। इससे संग्रह करने की प्रवृत्ति का जन्म होता है। मानव खाद्य पदार्थों का, सम्पत्ति का आवश्यकता से अधिक सग्रह करता है, जिससे अन्य जरूरतमंद लोगों की मूलभूत आवश्यकता की भी पूर्ति नही होती है। इस कारण लोगों को नंगा-भूखा रहना पड़ता है। इसी कारण समाज में विकृतियाँ पैदा होती है, चोरी, डाका, लूटमार, हत्या, छीना-झपटी आदि समस्याओं का जन्म होता है। मानव का मानव से समाज में सम्बन्ध, स्नेह, व्यवहार दूषित हो जाता है, स्वास्थ्य का एक पहलू **'सामाजिक अच्छापन'** प्रायः नष्ट होता सा दिखाई पड़ता है। मानवीय दरारे गहरी होती जाती है। अशांति, क्लेश से मानव जीवन बिलकुल ही अस्वास्थ्यकर व विकृत हो जाता है।

परिग्रह के वशीभूत होकर मानव बिना श्रम किये ही सासारिक सुख भोगना चाहता है, स्वय को बड़ा सिद्ध करने की इच्छा रखता है, तथा ठूस-ठूस कर खाता है। अभिमान में डूबा रहता है, अधिक धन, मुनाफा कमाने की लालसा के वशीभूत होकर अमानवीय गलत कार्य करता है। खाद्य पदार्थो में मिलावट करता है, फलस्वरूप स्वयं के स्वास्थ्य को तो चौपट करता ही है, अन्य लोगो को भी रोगग्रस्त होने में सहायता पहुँचाता है।

परिग्रह के कारण ही दो प्रकार की पोषण सम्बन्धी स्वास्थ्य समस्याएँ हमारे देश में व्याप्त है—एक ओर तो लोग खूब-खूब खाते है, भूख से अधिक खाते है, गरिष्ठ भोजन करते है तथा **अति पोषण** (over-nutrition) के कुप्रभावो से पीड़ित होते है जैसे **मोटापा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, गठिया, बदहजमी, आमाशय व आंतों के छाले (व्रण) आदि**। शारीरिक श्रम नही करने से उपर्युक्त वर्णित कुप्रभावों का स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पड़ता है। आज का आम व्यक्ति इन रोगों से पीड़ित है। दूसरी ओर अन्न के अधिक संग्रह से स्वार्थ-लिप्सा व येन-केन-प्रकारेण मुनाफा अधिक कमाने के लालच के

फलस्वरूप कई व्यक्तियों को पर्याप्त मात्रा में भोजन भी नसीव नही होता। महगाई वढती है, लोग जीवन के लिये दो जून रोटी जुटाने में भी असमर्थ होते है, फलस्वरूप अधिकाश लोग अल्प-पोपण या पोपण की कमी (under nutrition) से पीड़ित होते है, जैसे—प्रोटीन-कैलोरी की कमी के रोग, विटामिन 'ए' की कमी के रोग, रक्तहीनता आदि। इस प्रकार पोषण सम्वन्धी रोगों का कारण परिग्रह है, शोपण, संग्रह की वृत्तियाँ है, आवश्यक पोपण सम्वन्धी वस्तुओ का गलत वितरण है।

परिग्रह के जाल में फँसा हुआ व्यक्ति धन कमाने की चेष्टा में खाद्य पदार्थो मे मिलावट करके आम जनता के स्वास्थ्य से खिलवाड़ करता है। आँतों के रोग, पक्षाघात, रक्तालपता, मिर्गी के दौरे, अधापन, जिगर की खरावी आदि रोग खाद्य पदार्थो में मिलावट के कारण होते है। सरसों के तेल में आरगेमोन आॅयल मिलाने से नजर की कमजोरी, हृदय रोग, अर्बुद, महामारीय जलशोथ, गिरी के तेल, वादाम के तेल में खनिज तेल मिलाने से जिगर मे खरावी कैसरीय प्रभाव (जिसके कारण कैंसर हो जाता है)। अरहर या चने की दाल के वेसन मे खेसरी दाल मिलाने से पक्षाघात तक हो जाता है। हल्दी मे लेडक्रोमेट (पीला) मिलाने से रक्तालपता, अंधापन, मिर्गी के दौरे आदि रोग हो जाते है। मिलावट सम्वन्धी जघन्य अपराध जिससे आम जनता का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है परिग्रह के कारण ही होता है। धन कमाने का परिग्रह इन सवका कारण है।

परिग्रह, निर्दयता भी लाता है, हृदय को कठोर वनाता है। परिग्रह के लिये ही दुर्व्यसनों का सेवन किया-कराया जाता है। मास भक्षण, मदिरा पान, जुआ, निन्दा, चुगली, भाग, गाँजा, मोर्फिया, हिरोइन आदि के प्रयोग से शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य समस्याये आधुनिक युग मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं। परिग्रह के कारण ही अफीम, हिरोइन आदि का व्यापार लुक-छिपकर यहाँ-वहाँ होता ही रहता है। राष्ट्र-विरोधी गतिविधियाँ तथा युवा वर्ग के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ में मादक द्रव्यों के उपयोग व व्यापार का वहुत वड़ा हाथ है।

परिग्रह के कारण ही मानव, स्वास्थ्य के लिये उपयोगी प्रकृति-प्रदत्त-पर्यावरण—पेड़-पौधे, जंगलों आदि का नाश करने मे लगा हुआ है। हरियाली, पेड़-पौधे, जंगल स्वास्थ्य के लिये घातक प्रभावो को दूर करके स्वास्थ्यवर्धक जलवायु तैयार करते है, मानव की स्वार्थ-लिप्सा, लोलुपता, सम्पत्ति की अभिलापा प्रवृत्ति ने इन सवको नष्ट करने मे कोई कसर नही छोड़ी है। परिग्रह के लिये हिंसा, झूठ, परदारागमन, परदाराहरण करने से रतिज रोगो की उत्पत्ति मे सहायता मिलती है। परिग्रह के लिये स्वय के शरीर से भी द्रोह करके

सद्व्यवहार से स्वयं को दूर रखा जाता है तथा प्रकृति विरुद्ध भोजन, मैथुन, नशा आदि कार्य जो शरीर के लिये हानिप्रद है, किये जाते है, जिसके फलस्वरूप शारीरिक एव मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

इस प्रकार परिग्रह के कारण पाप करने सम्बन्धी आदतो के जन्म से कर्म-बन्धन होता है, दु:ख का कारण तैयार होता है, साथ ही मानव का शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। जितने भी आधुनिक रोग है—उनका कारण परिग्रह सम्बन्धी वृत्तियाँ है। उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, गठिया, मोटापा, मादक पदार्थो के सेवन के जहरीले प्रभाव, पोषण सम्बन्धी रोग, सभी प्रकार के मानसिक रोग—आत्म हत्या, मानव हत्या, मानसिक तनाव, रतिज रोग, मानव जीवन में अशान्ति, दुर्घटना, मधुमेह, कैंसर, धूम्रपान के घातक प्रभाव, बदहजमी, खाद्य पदार्थों में मिलावट के हानिकारक प्रभाव आदि अनेक रोग व स्वास्थ्य में गिरावट, मानसिक असंतुलन का मुख्य कारण परिग्रह ही है। इच्छाओ की दासता, असंयमित, अमर्यादित जीवन जीने के तरीके, रात-दिन धन-संग्रह आदि के दूषित तौरतरीको के कारण ही मानव अनेक स्वास्थ्य समस्याओं से ग्रसित हो रहा है। परिग्रह के कारण होने वाले पापों, अनर्थो का पूर्णरूपेण वर्णन कर सभी स्वास्थ्य सम्बन्धी खतरो को व्यक्त करना यहाँ कठिन है।

अपरिग्रह व्रत एवं स्वास्थ्य-वृद्धि

परिग्रह से निवर्तने के लिये जो व्रत स्वीकार किया जाता है उसका नाम 'अपरिग्रह व्रत' है। अपरिग्रह के धारण करने से इहलौकिक एव पारलौकिक लाभ प्राप्त होते है।

इन्द्रिय भोग के पदार्थो पर नियन्त्रण, संग्रहवृत्ति पर अंकुश, इच्छाओं का दमन, सन्तोष करना, शान्ति रखना, लालसा, अभिलाषा का त्याग, सात्विक जीवन, शारीरिक श्रम करना, क्रोध, लोभ का त्याग, चिन्ता रहित जीवन, कलह से मुक्त जीवन, त्यागमय जीवन, खाने-पीने में संयमता, मादक पदार्थो का त्याग, ईर्ष्या, बड़ाई, अभिमान का त्याग, कचन, कामिनी से दूर रहने का प्रयास (साधु जीवन के लिये आवश्यक), प्रेम, स्नेहयुक्त जीवन यापन आदि कार्य-कलाप अपरिग्रह व्रत के अन्तर्गत आते है। जिनका पालन करने से रोगो से मुक्ति तथा स्वास्थ्य वृद्धि (उत्थान) को बनाया जा सकता है। 'पहला सुख निरोगी काया' तब ही पाया जा सकता है जबकि जीवन मर्यादित, संयमित व अपरिग्रह के सिद्धान्तों पर आधारित हो। जैन संस्कृति मे युगों-युगों से आध्यात्मिक—आत्मिक उत्थान हेतु कई सिद्धान्त, नियम, उपनियम, क्रियाएँ आदि का उल्लेख तो उपलब्ध है ही, किन्तु इन नियमो के द्वारा परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से स्वास्थ्य

भी बनाया जा सकता है। अपरिग्रह के सिद्धान्त के पालन करने से ही जीवन में शान्ति, मानसिक व आधुनिक रोगो से छुटकारा मिल सकता है। नियमित, संयमित दिनचर्या, नैतिक आचार, विचार, सदाचार, सद्व्यवहार, इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, शुद्ध व पौष्टिक सात्विक आहार, स्वच्छ प्राकृतिक वातावरण आदि कार्य-कलाप अपरिग्रह के अन्तर्गत आते हैं, जिससे स्वास्थ्य बनाया जा सकता है, रोगों का निवारण किया जा सकता है। आधुनिक जीवन का व्यवहार "HURRY, WORRY & CURRY, जो कई घातक आधुनिक रोगो जैसे रक्तचाप, हृदय रोग, मानसिक रोग एवं आंतों व आमाशय के व्रण आदि के लिये उत्तरदायी है उन पर अपरिग्रह के द्वारा अंकुश लगाया जा सकता है तथा **"सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामय"** के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।



बहू की बुद्धिमत्ता

एक सेठजी थे। उनके पुत्र का विवाह होने पर जो बहू घर मे आई वह बडी विनीत, निर्भीक और धर्ममर्मज्ञ थी।

घर मे आकर उसने देखा कि सेठजी धर्मनिष्ठ तो हैं पर हैं बड़े कंजूस। उनका व्यवहार देखकर उसका मन खिन्न हो उठा।

एक दिन उसने सड़ी जवार के आटे की मोटी काली रोटी बनाकर सेठजी को परोसी। पहला कौर मुँह मे रखते ही वे थू-थू कर बोले—"बेटी, घर में आटा तो बहुत है। रोटी बनाने के लिए तूने यह सड़ी ज्वार का आटा कहाँ से मंगवा लिया?"

बहू ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"आपने जो अन्नसत्र खोल रखा है। उसमे भूखों को ऐसे ही आटे की रोटी बनवाकर दान की जाती है। मैंने सुना है जैसा यहाँ दिया जाता है, वैसा ही परलोक मे मिलता है। बेचारे भूखे लोग तो पेट की आग बुझाने के लिए ऐसी सड़ी-गली रोटी खा लेते हैं पर परलोक में आप ऐसी रोटी कैसे खा सकेंगे। यही सोचकर मैंने अन्नसत्र से वह आटा मंगवा लिया और आपको उसकी रोटी बनाकर परोसी ताकि अभी से आपको वैसी रोटी खाने का अभ्यास हो जाय।"

बहू की सटीक बात सुनकर सेठजी की आँखें खुल गई और उन्होंने अच्छे अन्न का प्रबन्ध कर दिया।

☐ कौशल्या भानावत

५३

पर्यावरण-शुद्धि और उपभोग-परिमाण व्रत

□ श्री संजीव भानावत

सम्पूर्ण सृष्टि में अपनी कुछ कतिपय विशेषताओं के कारण मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसमें सोचने, विचारने और चिन्तन करने की विशेष क्षमता है। अपनी इन्ही विशेषताओं के कारण मनुष्य विकास की प्रारम्भिक अवस्था से आज इस यांत्रिक युग में पहुँच गया है।

व्यक्ति में दो प्रकार की सामान्य प्रवृत्तियाँ पाई जाती है—मानवीय और पाशविक। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों, 'जिन्हें सत् तथा असत् प्रवृत्ति भी कह सकते हैं', में आपस में संघर्ष चलता रहता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति काम, क्रोध, मान, मोह आदि कुप्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करता जाता है, उसके आत्मिक गुण निखरते जाते है अर्थात् उसमें मानवीय प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगती हैं। यदि मनुष्य इन कुप्रवृत्तियों का दास बन जाता है तो उसमें पाशविक अथवा दानवीय वृत्तियाँ घर करने लगती है तथा उसकी सुख-शांति नष्ट होने लगती है।

ये मानवीय प्रवृत्तियाँ मन से संबद्ध होती हैं। मन अत्यन्त चंचल एवं गतिशील होता है। इसी कारण विविध साधनाओं का मूल मन को नियन्त्रित करना है। मन इच्छाओ का अपरिमित भडार है। इच्छाओं की यह अनन्तता सुखी जीवन जीने की राह मे प्रमुख बाधा है। व्यक्ति का यह प्रयास रहता है कि वह येनकेन प्रकारेण अपनी इच्छा की पूर्ति करे। एक इच्छा के पूरा होते ही फिर दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है। इस प्रकार इच्छाएँ लगातार पनपती रहती है और मनुष्य वस्तुओ के भोग में, इच्छाओं की सम्पूर्ति में ही जीवन की सार्थकता समझ बैठता है पर इच्छाएँ पूरी होती नही।

जीवन में सुखी रहने के लिए आवश्यक है—इच्छाओं का नियंत्रण। भगवान् महावीर ने इसे इच्छा परिमाण, परिग्रह-परिमाण कहा है। इसका तात्पर्य है आवश्यकता से अधिक संग्रह नही करना। संग्रह वृत्ति व्यक्ति को स्वार्थी तथा ऐन्द्रिय भोग की ओर प्रवृत्त करती है। सग्रह वृत्ति से वस्तु विशेष के प्रति ममत्व की भावना बढ़ती है। यह ममत्व भाव ही परिग्रह कहा गया है—

५४

अपरिग्रह, ट्रस्टीशिप और प्रजातन्त्र

☐ श्री उदय जैन

मानव सभ्यता के ज्ञात इतिहास में जो कि लगभग ३,००० वर्ष का है, आदमी ने २,१०० युद्ध लड़ने में लगभग २,७०० वर्ष विताये और मात्र ३०० वर्ष ही शान्ति रही है। इतिहास का यह युद्ध-उन्मादी दौर समाप्त हो गया हो ऐसा नही लगता। आज भी आदमी की सभ्यता विध्वंस के कगार पर जा पहुँची है। हमारी पूरी की पूरी मानवीय सभ्यता "वारूद के ढेर पर" खड़ी है और हमारी जरा सी गलती इस सम्पूर्ण विश्व को नेस्तनावूद कर सकती है। शायद महावीर के वाद पहली वार आदमी "पूर्ण हिंसा" को प्राप्त हुआ है जवकि उसके पास ५०,००० हाइड्रोजन वम और हजारों परमाणु वमों का जखीरा विध्वंस के लिए उपलव्ध है। आज की इस सभ्यता ने हर व्यक्ति को भले ही शान्ति और चैन की सांस नही लेने दी हो, किन्तु उसे मौत की नींद सदैव के लिये सुला देने की व्यवस्था अवश्य की है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि हमने इतना अधिक विध्वंस इकट्ठा कर लिया है कि हम इस धरती को कम से कम २२ वार नष्ट कर सकते हैं। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यदि भविष्य में कोई विश्वव्यापी युद्ध हुआ तो हमारी इस सभ्यता का नामोनिशान मिट जायेगा और हम पत्थर युग में पुनः लौट जायेगे, जहां से पहली वार आदमी की सभ्यता की यात्रा प्रारम्भ हुई थी।

यह विध्वंस व्यक्ति-व्यक्ति के असन्तोष का केन्द्रीय रूप है। मानवीय सभ्यता के विध्वंस के कगार तक पहुँचने की यह यात्रा वताती है कि मनुष्य मूलतः अहिंसक स्वभाव का होने के वावजूद हिंसा का यह एकत्रीकरण क्यों? शायद विश्व की ४५० करोड़ की आवादी के "केन्द्रीभूत असन्तोष की विध्वंसक परिणति" यह एकीकृत हिंसा है। इसलिये इस विनाश से यदि हमे वचना हो तो हमें व्यक्ति-व्यक्ति के असन्तोष को दूर करना होगा। असन्तोष जो लोभ और तृष्णा और आवश्यकताओं के विस्फोट से है, असन्तोष जो गरीवी के दुष्चक्र से है, असन्तोष जो 'स्व' को न जानने से है, असन्तोष जो परिग्रह से है, असन्तोष जो एकान्तिक दृष्टिकोण और अपने अहं से है, असन्तोष जो मात्र स्वयं को ही सही समझने से है, असन्तोष जो रंग, रूप, जाति, वर्ग, वर्ण से जनित ऊंच-नीच और सामाजिक, आर्थिक अन्याय से है और असन्तोष जो दुःख का मूल कारण न समझने में है। जव तक यह असन्तोष क्षार-क्षार होकर व्यक्ति-व्यक्ति में गल

नही जाता, हम एक अहिंसक मनुष्य और अहिंसक समाज का निर्माण नहीं कर पायेंगे। एक नई मनुष्यता पैदा करने का मौसम आ गया है।

भौतिक दृष्टि से आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और रंग भेद तथा नस्लभेदी विषमताएं पूरे विश्व में विद्यमान हैं। दुनिया की ४५० करोड़ की आबादी मे लगभग २५० करोड़ की आबादी गरीबी और अति गरीवी की स्थिति मे जीवन बिता रही है। उन्हें जीवन की पाच बुनियादी सुविधाएँ—रोटी, कपड़ा, मकान, दवाई और शिक्षा उपलब्ध नही है। दुनिया की यह गरीवी और अति गरीब आबादी एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के देशों मे केन्द्रित हो गई है। इन गरीब देशों के आधे बच्चे शिक्षा से वचित हो जाते है और जो स्कूल जाते हैं, उनमे भी लगभग आधे अपनी स्कूली शिक्षा पूर्ण नहीं कर पाते। भयानक गरीबी और कुपोषण से एक तिहाई बच्चे मौत के शिकार हो जाते है।

दूसरी ओर अर्थ सत्ता का केन्द्रीयकरण इतना अधिक है कि विश्व के समृद्ध देशो की २० प्रतिशत आबादी अविकसित और गरीब, शेष विश्व की ५० प्रतिशत उपभोग सामग्री को चट कर जाती है। आय, व्यय, उपभोग और बचत की भयानकतम विषमताएं हैं। भारत में तो ये और भी ज्यादा हैं। एक अनुमान के अनुसार देश के २१२ औद्योगिक परिवारो के पास हिन्दुस्तान की ७२ प्रतिशत औद्योगिक सम्पदा केन्द्रित है। कुछ लोगो की आमदनी १० लाख रुपया रोज है तो कुछ की मात्र ७ रुपये रोज। ऊंच-नीच की भावनाएं और हरिजनों को जलाने की घटनाएं केवल भारत में ही होती हो ऐसी बात नहीं है। रंगभेद और नस्ल भेद की घृणित परम्परायें यूरोप और अफ्रीका में भी फैली हुई है। भारत की ७२ करोड़ जनसंख्या में से ४२ करोड़ आबादी "गरीबी की रेखा से नीचे का" जीवन जीती है और ५२ करोड़ लोग निरक्षर है। फिर २५ करोड़ युवा शिक्षित बेकार है और ५ करोड़ अशिक्षित बेकार।

विषमता, भूख, अज्ञान, बेकारी, भयानक गरीबी, अंधविश्वास और अहं-वादिता ने आज के आदमी को विचार के आधार पर शून्य, आदर्श के आधार पर खोखला और कर्म के आधार पर चेतन शून्य बना दिया है। हम 'समत्व के सूर्य सागर' में स्नान नही कर पा रहे है और अह जन विषमता की अन्तहीन अंधेरी गली मे भटक गये है। इस अन्तहीन अंधेरी गली से "समता के सूरज" की ओर हमें "अपरिग्रह की तेजस्विता" ही ले जा सकती है, "विषमता के उबलते दावानल से" "गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त" ही बचा सकता है, ताकि प्रजा-तन्त्र की दीपशिखा आदमी की इयत्ता और गरिमा को प्रकाशमान कर उसे "मनुष्य से भगवान तक बन जाने की आत्मजयी यात्रा" करने के जन्म सिद्ध अधिकार की रक्षा कर नयी प्रभाती की ओर ढकेल सके।

कर, भाई-भाई से मुखडा मोडकर और न जाने कितने गरीबो का खून निचोड़-कर, एकमात्र परिग्रह को जोड़ने के चक्कर में लगे हुए है ।

अरे, मुमुक्षुओ ! कुछ सन्तोष करना सीखो । वरना यह लोभ, लालसा, महत्त्वाकाक्षा, इच्छाएँ तुम्हे ले डूबेगी । अगर लोभ पर हमे सच्ची विजय प्राप्त करनी है तो सन्तोष, जो आत्मा का निजी गुण है, उसे प्रकट करना होगा । विना सन्तोष के हमारी इच्छाओ का अन्त नही हो सकता । कवि सुन्दरदास ने बडे मार्मिक भाव अपने सवैये मे कहे है :—

जो दस वीस पचास भये, शत होत हजार तो लाख मंगेगी ।
कोटि अरव असंख्य भये, धरापति होने की चाह जगेगी ।।
स्वर्ग-पाताल को राज मिले, तृष्णा तवहु अति आग लगेगी ।
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना, शठ, तेरी तो भूख कभी न वुझेगी ।।



सम्पत्ति बनाम अमरता

महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी । जब महर्षि वानप्रस्थाश्रम मे थे, उन्होने एक दिन दोनो से कहा—'अब मै संन्यास लेना चाहता हूँ, किन्तु उससे पहले अपनी संचित सम्पत्ति का तुम दोनो में विभाग कर देता हूँ ।'

इस पर मैत्रेयी ने कहा—'स्वामिन् ! विभाग करने पर जो सम्पत्ति मुझे प्राप्त होगी, क्या वह मुझे अमर वना सकेगी ?

महर्षि वोले—'सम्पत्ति विलास की सामग्री दे सकती है, अमरता नही ।'

मैत्रेयी ने कहा—'तो मैं ऐसी सम्पत्ति लेकर क्या करूँ जो मुझे अमर नही वना सकती ? जिस अमरता को पाने के लिए आप स्वय सम्पत्ति छोड रहे है, उसी अमरता को मैं भी पाना चाहती हूँ ।'

इस पर महर्षि ने मैत्रेयी को धर्मोपदेश दिया और कात्यायनी को धन ।

□ श्री कल्याण ऋषि



• मुनिश्री के अजमेर मे दिये गये प्रवचन का श्री लालचन्द जैन द्वारा सम्पादित अश ।

५६

अपरिग्रहवाद बनाम संरक्षता का सिद्धान्त

□ श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल

प्रत्येक धर्म मे लोक-कल्याण के उद्देश्य से कुछ न कुछ व्रतों का पालन करने पर विशेष बल दिया गया है। ऐसे पाँच व्रत जैन मान्यता की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण है और वे है—१. अहिसा, २. सत्य, ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह। इन सबमे अपरिग्रह का विशेष स्थान है।

परिग्रह के निषेध सूचक शब्द को अपरिग्रह कहते है। "परिसमन्तात् मोहबुद्धया गृह्यते यः स परिग्रहः" अर्थात् मोह (ममत्व) बुद्धि के द्वारा जो (पदार्थादि) चारों ओर से ग्रहण किया जाय, वह परिग्रह है। हमारे मन और इन्द्रियो की प्रकृति चचल है, हर क्षण मन में अनन्त सकल्प-विकल्प जन्म लेते रहते है। इनकी दौड असीम होती है और नई-नई इच्छाये मन में आती रहती है। यही इच्छाये परिग्रह का मूल कारण बनती है।

मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार मानव के मन मे सर्व प्रथम अनधिकृत सामग्री प्राप्ति की प्रबल इच्छा जन्म लेती है। तदनन्तर उसके सग्रह करने की दिशा मे प्रवृत्ति होती है। इन संगृहीत वस्तुओ पर ममत्व हो जाता है, वही ममत्व आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। जितना घना ममत्व होगा, उतनी ही संग्रह वृत्ति बढ़ती रहेगी। कोई भी व्यक्ति बाह्य रूप से अपरिग्रही दिखाई देता हो पर ममत्व भाव से युक्त होने पर वह अन्दर से उतना ही महापरिग्रही हो सकता है। इसी प्रकार ममत्व भाव से रहित अनासक्त वृत्ति वाला मनुष्य अतुल वैभव के बीच रह कर भी अपरिग्रही हो सकता है। वास्तव मे अपरिग्रह किसी वस्तु के त्याग का नाम नही, अपितु किसो वस्तु मे निहित ममत्व के त्याग का नाम है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि वस्तु के अनावश्यक सग्रह को नियन्त्रित करना हो तो उस वस्तु के त्याग से पूर्व उस वस्तु मे निहित ममत्व का त्याग आवश्यक होगा।

हमारी आकाक्षाएँ अनन्त होती है और ज्यो-ज्यो उनकी पूर्ति होने लगती है त्यो-त्यो ही लोभ और मोह बढने लगता है और व्यक्ति अनैतिक ढग से सग्रह मे लग जाता है। उसकी बुद्धि पर मोह का एक ऐसा आवरण आ जाता है कि वह भले-बुरे का अन्तर कर ही नही सकता। ऐसी परिस्थितियो मे एक का सुख दूसरे का दु ख का कारण बन सकता है और उनसे विषमता का जन्म होता है।

आज लोग विभिन्न स्रोतों से असहजभाव से अर्थोपार्जन और संग्रह की दौड़ में तन्मय हो रहे है। इससे विषमता की खाई गहरी होती जा रही है। दुर्भाग्य से पैसा ही प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु का मानदंड बन गया है। यह सही है कि सामाजिक व्यवस्था एव उदर पूर्ति का साधन धन है, पर तृष्णा के वशीभूत होकर जब साधन ही साध्य बन जाय, तब उसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति विवेक-अविवेक, न्याय-अन्याय, भला-बुरा, उचित-अनुचित आदि का बिलकुल ध्यान नही रखता और संग्रह की वृत्ति घर कर लेती है। यह पूँजी जब कुछ के ही हाथो मे सीमित होकर रह जाती है तब यही से पूँजीवाद का जन्म होता है जिसका दूसरा अर्थ है आर्थिक विषमता। यही आर्थिक विषमता ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य की जननी है, जो हमारे कष्टों का मूल कारण है।

'दशवैकालिक सूत्र' में भगवान महावीर ने कहा है—'असविभागी न हु तस्स मोक्खो' अर्थात् जो व्यक्ति बाटकर नही खाता, उसको मुक्ति नही मिल सकती। जैन शास्त्रों में संविभाग शब्द का प्रयोग समविभाजन या समान वितरण का द्योतक है। 'परिग्रह-परिमाण' का अर्थ है परिग्रह की सीमा निर्धारित करना अर्थात् अपनी अनिवार्य आवश्यकता के योग्य वस्तुये रखकर शेष को अभावग्रस्त लोगो में खुले दिल से वितरित करना, इसे परिग्रह का परिमाण कहा जायगा। गृहस्थ मे रहते पूर्ण रूप से परिग्रह से छुटकारा पाना तो कठिन है पर उसकी परिसीमा निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन मे लालसा से मुक्ति एव आत्मशान्ति हम ला सके तो अपने दैनिक जीवन की हमारी अनेक व्याधियाँ सरलता से दूर हो सकती है।

आज गरीब-अमीर की भेद रेखा मिटाने के लिए समाजवाद-साम्यवाद की बात कही जाती है पर इससे तो आतंक, प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिशोध एव आन्तरिक कलह आदि का जन्म होता है। वस्तुतः साम्यवाद समता मूलक समाज का वाह्य प्रयोग है पर इन बाह्य प्रयोगो की सफलता मानव के आन्तरिक धरातल (अपरिग्रह भावना) पर प्रतिष्ठित समता पर ही निर्भर करती है।

विपुल धन सग्रह से अपव्यय की आदत बनेगी और नैतिक मूल्यों पर आघात पहुँचेगा, जिन्हे खोकर कोई व्यक्ति कितना ही वैभव प्राप्त कर ले, वह अपनी और समाज की दृष्टि मे गिर जायेगा।

गाधी युग ने मानवता की नव रचना के लिए चार मूलभूत तत्त्व दिये—सर्वोदय, सत्याग्रह, समन्वय और साम्ययोग। हमारे चिन्तन का मूल विषय जीवन में परम साम्य की प्रतिष्ठापना है। आर्थिक साम्य, सामाजिक साम्य, मानसिक साम्य ये तीनों साम्य सफल जीवनयापन के लिए अनिवार्य है। इसमें आर्थिक असमानता को दूर करने का महत्त्वपूर्ण साधन गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त है जिसके मूल मे अपरिग्रह की भावना अन्तर्निहित है। इस सिद्धान्त

में जो मूलभूत भावना निहित है, वह है धनिक अपने धन का मालिक नहीं, ट्रस्टी है। यह भावना श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष मिटाने, विषमता और गरीबी मिटाने तथा आदर्श एवं अहिंसक समाज की स्थापना करने में बहुत सहायक है। प्रसिद्ध साहित्यकार एवं विचारक जैनेन्द्रजी ने कहा था—'पदार्थ परिग्रह नहीं है, उनमें ममत्व परिग्रह है।'

ट्रस्टीशिप की अवधारणा वर्तमान औद्योगिक युग की दृष्टि से अधिक विचारणीय है। विज्ञान और टैक्नोलॉजी ने एक नयी सभ्यता को जन्म दिया है। यह सभ्यता २०० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। इससे सारा विश्व प्रभावित हुआ है, अन्तर इतना ही है कि कहीं इसकी रफ्तार धीमी है और कही काफी तेज।

इस सभ्यता की कतिपय उपलब्धियाँ भी है जैसे उत्पादन की विकसित पद्धतियाँ, रक्षण के अच्छे साधन, निवास के लिए सुन्दर भवन, उन्नत शिक्षण पद्धति, खेल व मनोरंजन के आकर्षक साधन, काम में आने वाले उपयोगी औजार, चिकित्सा के अनूठे साधन व व्यवस्था, संचार, परिवहन और यातायात के तीव्रगामी साधन, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, कम्प्यूटर एवं सम्प्रेषण के अन्य अनोखे साधन आदि।

इसी प्रकार इस सभ्यता ने कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न की है—जैसे जनसंख्या, गरीबी, विषमता, राज्यवाद, सैन्यवाद, प्रदूषण, समाज विघटन, मालिक-मजदूर संघर्ष आदि।

आज के व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सर्वथा बदला हुआ है। वह अपनी आवश्यकताओं को बेरोकटोक बढ़ाता जाता है और कम से कम शरीर श्रम कर उनकी पूर्ति करने की आकांक्षा रखता है। उसके लिए 'सादा जीवन, उच्च विचार' कोई अर्थ नहीं रखता। जो है उसी में सन्तोष रखना उसको रुचिकर नही। उसकी लालसा बढ़ती ही रहती है और उनका कभी अन्त नही आता। अतः इन सबके निराकरण के लिए ही गांधीजी ने ट्रस्टीशिप को एक उपाय के रूप में प्रस्तुत किया था जिसका उद्देश्य श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष मिटाने, विषमता और गरीबी हटाने, आदर्श अहिसक समाज एवं अपरिग्रही समाज की स्थापना था।

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्य विद्धनम्।'

सर्वशक्तिमान के नाम पर त्यागकर, केवल उसी का उपभोग कर जो तुझे प्राप्त है। तू किसी के धन की वासना न रख। ईसाई धर्म में भी कहा है—सबको छोड़कर मेरे साथ आओ, स्वेच्छा से गरीबी का वरण करो, दान करो।

कुरान मे कहा गया है--सग्रह करने वाले (जमाखोर) स्वर्ग में प्रवेश नही पायेंगे।

एक महान् विचारक का विचार था कि सम्पत्ति और आमदनी का एक हिस्सा समाज को देना चाहिए क्योकि समाज से ही हम सम्पत्ति या आमदनी प्राप्त करते है। इन सभी के पीछे दिशा एक ही है।

अपरिग्रह की भावना के उदाहरण हमको सभी युगो मे देखने को मिलते है। राजा जनक और भरत राज्य के उत्कृष्ट ट्रस्टी के नमूने रहे है। अनेक राजे-महाराजे अपना सामन्ती शासन भी किसी देवता के प्रतिनिधि के रूप मे ही करते रहे है।

हर्षवर्द्धन का प्रति वर्ष के अन्त मे जमाकोष को जनता में बाँटना, भामाशाह का राष्ट्र हित मे सर्वस्व निछावर कर देना, नासिरउद्दीन और औरंगजेब का कोई धन्धा करके जीवनयापन करना, सम्पत्ति व राज्य के समस्त साधन होते हुए भी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अच्छे उदाहरण है। साहित्य मे भी ट्रस्टीशिप की भावना की एक झलक देखने को मिलती है। कबीर कहते है—

पानी बाढै नाव मे, घर मे बाढै दाम।
दोनो हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।

धन के सदुपयोग का कितना मार्मिक सकेत किया है उन्होने। और भी—

सांई इत्ता दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।।

गाधीजी की परिकल्पना के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त मे निम्न तत्त्वो पर बल दिया गया है :—

१. मानव का उद्देश्य धन, सम्पत्ति या सामाजिक कर्तव्यो की पूर्तिमात्र नही है वरन् आध्यात्मिक विकास है।

२. सम्पत्ति का अपना स्थान है पर उसका मालिक बनना या मन चाहे ढग से उपयोग करना उसके अधिकार-क्षेत्र मे नही है।

३. सम्पत्ति रखने का उद्देश्य सग्रह वृत्ति के सन्तोष के लिए न होकर मानवीय सुख और व्यक्ति का विकास होना चाहिये।

४. धन सम्पत्ति की तरह ही मनुष्य मे कोई बौद्धिक या शारीरिक गुण हो सकता है, इसे भी समाज की धरोहर मानकर समाज के

कल्याण के लिए ट्रस्टी की तरह उस गुण अथवा शक्ति का दूसरों के लिए उपयोग करें।

इस प्रकार ट्रस्टीशिप व्यवस्था में अपरिग्रह भावना मूल आधार है। उसमे सम्पत्ति के अपहरण को कोई स्थान नही। इसमें मालिकी को समाप्त करना अभिप्रेत है, मालिकों को नही। इसमें वर्तमान पूँजीपति वर्ग को अपना सुधार करने का अवसर प्राप्त होता है। ट्रस्टीशिप अर्थात् संरक्षता सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई अधिकार स्वीकार नहीं करती।

गाधीजी कहते थे "फर्ज कीजिये कि विरासत या उद्योग-व्यवस्था के द्वारा मुझे प्रचुर सम्पत्ति मिल गयी। तब मुझे यह जानना चाहिये कि वह सब सम्पत्ति मेरी नहीं है, मेरा तो उस पर उतना ही अधिकार है कि जिस तरह दूसरे लाखों आदमी अपना गुजर करते हैं उसी तरह मैं भी इज्जत के साथ गुजर भर करूँ। मेरी शेष सम्पत्ति पर राष्ट्र का अधिकार है और उसके हितार्थ उसका उपयोग होना आवश्यक है। वास्तव में यह अहिसा का सिद्धान्त भी है।"

संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते है। ये सब विषमता को जन्म देते और उसको प्रज्वलित करते है अतः हमें संग्रह वृत्ति से दूर रहना होगा, यदि सामान्य जोवन को सुख शान्ति से व्यतीत करना अभिप्रेत हो। सामाजिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से ऐसा करना उपादेय है। □ □ □

आय बनाम खर्च

एक सेठ ने किसी विवेकी पुरुष को अपना रत्न-भंडार दिखाया। उसने सेठ के वैभव की प्रशंसा न कर उससे पूछा—सेठजी! आपको इन हीरे-पन्ने, माणक-मोती से कितनी आय हो जाती है? सेठ ने कहा—इनकी सुरक्षा के लिए पहरेदार रखे जाते है। अतः खर्च ही खर्च है।

इस पर विवेकी पुरुष ने कहा—मेरे पड़ौस में एक बुढिया रहती है। उसने दो पत्थर खरीद कर घट्टी (चक्की) बनाई है। उसकी आमदनी से वह अपना पेट भरती है और बाल-बच्चों का पेट पालन करती है, परन्तु करोड़ों रुपयो से आपने जो पत्थर खरीदे हैं, उनसे आपको कोई आमदनी नहीं, तो आप ही बताइये कि किसकी समझ ज्यादा है?

सेठ को वात लग गई और तब उसने रत्न बेचकर उससे प्राप्त धन जन-हितकारी कार्यों मे लगा दिया।

□ रेखा नलवाया

५७

अपरिग्रह के सन्दर्भ में मार्क्स और महावीर

□ मुनि श्री रूपचन्द्र

मार्क्स का जीवन परम कारुणिक है। मानव मात्र के पीड़ित जीवन को देख कर उसके अन्त:करण में जो करुणा का विस्फोट हुआ वह एक सीमा तक बुद्ध की विश्व-करुणा की ही प्रतिकृति है। उसके कारण, निवारण और साधनों की खोज भी बुद्ध के चार आर्य सत्यों की तरह सीधी और सपाट है। बुद्ध ने जैसे आत्मा, ईश्वर आदि से सम्बद्ध प्रश्नों को अव्याकृत कह कर हटा दिया था, कुछ वैसे ही मार्क्स भी धर्म को अफीम कहकर हटा देता है, क्योंकि जो धर्म का ज्ञात रूप है, वह अन्धविश्वास, भाग्यवाद एवं निष्क्रियता का समर्थक है, तथा जो मूल धर्म है, वह जन सामान्य तक पहुँच ही नही पाया है। वैसी ही स्थिति बुद्ध की रही होगी जब उन्होने इन प्रश्नो को ही हटाया क्योकि वे जानते थे कि उसकी भूमिका तक लोक-दृष्टि पहुँच ही नही पायेगी और लोक-दृष्टि तक उतर कर उनके शब्द अपनी अर्थवत्ता खोकर नये अन्ध-विश्वासों, मन की वासनाओ के स्रोत बनेगे। इसी कारण जो बुद्ध इन प्रश्नो को ही नकारते है, उनका जीवन प्रतिबिम्बित करता है इन्ही के उत्तर को, और जो मार्क्स धर्म को अफीम कहता है उसका जीवन साकार करता है, प्रेम और करुणा, विश्व मैत्री एवं बलिदान की भावसत्ता और तदनुकूल आचार को। उसने शोषण, उसके कारण, कारणो को निवारित करने का लक्ष्य तथा उसके उपलब्धि के साधन निरूपित किये। लेकिन लोक-जीवन में उनसे शोषण-मुक्त समाज की अवतारणा न हो सकी।

मार्क्स-दर्शन की बुनियादी भूल

मार्क्स के दर्शन में एक बुनियादी भूल रही है और वह है—मानव के संस्थागत रूप पर ऐकान्तिक बल तथा उसके मानवीय रूप का सम्पूर्णत: विस्मरण। उसने अपने विचार का आधार यह सूत्र बनाया कि समाज मे शोषण का कारण वर्ग-भेद मय सामाजिक ढाँचा है, जिसे बदल डालने पर उसका अन्त हो जावेगा। उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रतिपत्ति पर आधारित है कि मन जैसी कोई सत्ता नही है, बाहरी परिस्थितियो के मानव पर जैव-रासायनिक प्रभावो को ही मन की अभिधा दी जाती रही हैं। अत: जैसा बाहरी वातावरण होगा, मन वैसा ही बन जायेगा। मानवीय मन की सारी प्रवृत्तियाँ बाहरी वातावरण को ही प्रतिबिम्बित करती हैं।

नीय हो सकता है। हमे धोखाधडी, विश्वासघात, कानून-भंग और झूठ बोलने आदि के लिए तत्पर रहना चाहिये। जिनसे हमारा मतैक्य नही है उनके प्रति हमारी शब्दावली ऐसी ही होनी चाहिए जिससे जन-साधारण के मन में उनके प्रति घृणा, विरक्ति और अरुचि पैदा हो।...'' अतः साम्यवादी चिन्तन मे ही आत्मघाती तत्त्वों का प्रवेश हो गया। साम्य एक नैतिक अपेक्षा है, नैतिकता का नकार साम्य का भी मूलतः नकार है। पूँजीपति मजदूरों का शोषण करें या मजदूर सत्ता ग्रहण कर पूँजीपतियों का, वैषम्य और शोषण दोनो स्थितियों मे रहता है। पूँजीवाद व्यक्तिसत्ता पर टिका हो अथवा राजसत्ता पर, वह पूँजीवाद ही रहता है। इसी कारण साम्यवादी क्रान्तियो की निष्पत्ति राज्य पूँजीवाद – स्टेट कैपिटलिज्म में हुई। राज्य के मूल में भी व्यक्ति है, अतः वह मूलतः उसी प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था रह गयी जैसी कि पहले थी। उसके साथ एकदलीय तानाशाही जुड़ने से मानवीय बुनियादी स्वतन्त्रताओं का अपहरण भी हो गया। व्यक्ति की दासता और अधिक भयावह तथा असहनीय हो गयी। साम्यवाद की विकृतियों के बीज उसकी मूल वैचारिक आधार-भूमि मे ही छिपे थे, जिनका प्रकट होना अपरिहार्य था।

महावीर की करुणा

महावीर की करुणा भी मानवमात्र की नही अपितु जीवमात्र की पीडा का सतत बोध कर उसके निवारणार्थ मार्ग खोज रही थी और वर्षो की तप-साधना के बाद उसने कुछ मूलभूत सत्य निकालकर प्रस्तुत किये। महावीर का अपरिग्रह, उनकी अहिसा समग्र जीवन-सत्ता के परम सत्य को साकार करते है। परिग्रह को उन्होंने हिसा माना है और अपरिग्रह को अहिसा की एकमात्र शर्त। परिग्रह को उन्होने मूर्च्छा माना है और अपरिग्रह को जागरण का प्रतीक। परिग्रह को उन्होंने शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार एव वैषम्य के अलावा प्रमाद, लापरवाही, अज्ञान एवं आत्मविस्मृति का स्रोत भी अनुभव किया है। महावीर और मार्क्स की मूल दृष्टि में अन्तर यही है कि जहाँ मार्क्स को पूँजीवादी व्यक्ति घृणास्पद प्रतीत होता है, महावीर उसे करुणा का पात्र अनुभव करते है। क्योंकि वह वस्तु-केन्द्रित होकर अपनी आत्म-संज्ञा खो चुका है, जीवित शव की तरह आत्म चेतना-शून्य काल-यापन कर रहा है। चिन्ता, क्रोध, तनाव, वेदना के असंख्य शल्यों से अपने को निपीड़ित कर रहा है। किसी उन्मत्त कापालिक की तरह सर्वत्र घृणा तथा वैर का बन्ध कर रहा है। वह मूर्च्छित है, एक प्रकार का मानस-रोगी है जिसका सहानुभूतिपूर्वक उपचार अपेक्षित है और उसका एक मात्र मार्ग है उसकी चेतना का जागरण। परिग्रह का जन्म मन के धरातल पर जिस मूर्च्छा में होता है, वस्तु-जगत् के साथ चैतन्य का जो छलनामय तादात्म्य है उसी को तोडना आवश्यक है। भौतिक जगत् का घटनाचक्र तो मानव-चेतना के अतल गह्वर में घूमने वाले भाव-चक्र की प्रतिच्छाया मात्र है। अतः महावीर

का मार्ग है मन की चिकित्सा, अन्तः रूपान्तरण, चेतना का जागरण। वहीं से वह मानसिक अणु-विस्फोट हो सकता है जो व्यक्ति को भीतर-बाहर से बदल दे, उसके पारिवारिक-सामाजिक व जीवन-व्यवहार को परिवर्तित कर दे, शोषण एवं वैषम्य का उन्मूलन कर शोषण विहीन साम्य-मूलक समाज की रचना में जो निष्पन्न हो सके।

इस दृष्टि से महावीर और मार्क्स की भूमिकाओं में एक बुनियादी अन्तर है। मार्क्स जहाँ ऊपरी अभिव्यक्तियों को बदलने का निष्फल प्रयास करता रहा है वहाँ महावीर उसे ही बदलने की प्रेरणा देते हैं जिसके वे सब प्रतिबिम्ब मात्र है। महावीर हिंसा का ही प्रतिकार करते है और शोषण हिंसा का एक प्रकार है। वे लोभ को निवारित करने की प्रेरणा नही देते अपितु उसके कारण और निवारण के स्रोत भी निरूपित करते है। प्रमाद हिंसा का मूल है, लोभ या अहं या वासना तीनों इसके प्रतिबिम्ब मात्र है मन के धरातल पर तथा शोषण और विषमता परिणतियाँ है उसकी। प्रमाद समाज का जितना शत्रु है उतना व्यक्ति का भी। अपितु व्यक्ति की सारी सत्ता को ही खा जाता है वह। अतः महावीर प्रमाद को ही हिंसा कहते है, कर्म बन्धन कहते हैं, मरण और नरक कहते है और उनका सारा विचार अप्रमाद पर केन्द्रित है। सम्पूर्ण व्यक्ति का रूपान्तरण उनका लक्ष्य है क्योकि व्यक्ति ही बुनियादी इकाई है सारे सामाजिक राष्ट्रीय संगठनों की। महावीर मार्क्स से अधिक मूलग्राही है। उनका मार्ग लम्बा हो सकता है लेकिन एकमात्र सही मार्ग वही है। छोटे मार्ग की खोज में बहुत प्रयास हो चुके-फ्रांस की राज्य क्रान्ति से लेकर संसार के आधे देशों में साम्यवादी क्रान्ति तक और उनकी निष्पत्तियाँ मानवता के लिये कल्याणकारी नही रही हैं। मार्क्स ने हिंसा का जो मार्ग बताया उसमे भी सामान्य आचारीय प्रतिमानों का नकार नहीं था। छल, फरेब, कृतघ्नता और विश्वासघात के लिये उसमें स्थान नही था। वह हिंसा मात्र प्रतिक्रिया थी, मात्र विद्रोह थी। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों ने सारे प्रतिमानो को ही नकार दिया। महावीर शोषण को हिंसा मानते है, हिंसा को एक प्रकार का शोषण ही मानते हैं। अतः शोषण से शोषण का विनाश सम्भव नही है, यह उनकी स्पष्ट मान्यता है। महावीर शोषण को अनाचार मानते है, तथा अनाचार मूलतः शोषण ही है, यह भी जानते हैं, अतः उनका मन्तव्य है कि अनाचार के एक प्रकार से उसके दूसरे प्रकार का उन्मूलन संभव ही नही है।

शोषण का अस्वीकार

महावीर ने वैषम्य और शोषण के प्रतिकार का मार्ग बताया वह सम्पूर्णतः अहिंसक है। उसमें मानवीय चेतना की तेजस्विता है, सामाजिक चेतना की समवेत शक्ति है, संगठन का बल है। असहकार और अवज्ञा के जिन अहिंसक शस्त्रों का गाँधीजी ने भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम में प्रयोग किया, वे महावीर के

द्वारा सर्वप्रथम तीन करण और तीन योग के रूप मे निरूपित किये जा चुके हैं। महावीर के मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अपने में एक विस्फोटित परमाणु की तरह अपार शक्ति का साकार पुँज है जो सारे समाज में क्रान्तियो की एक शृंखला प्रसारित करने में समर्थ है, जैसे एक टूटा परमाणु शेष सारे परमाणुओ मे शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया (चेन रीएक्शन) पैदा कर अपार शक्ति का विस्फोट कर देता है। असहकार एवं अवज्ञा की शक्ति का जागरण अगर देश के सारे श्रमिकों में हो तो पूँजीपति उनका शोषण एक क्षण भी नही कर सकते। शोषण इसलिये होता है कि हम उसके प्रति भीतर से असहमत नहीं है। इसका कारण यह है कि इसमें से प्रत्येक शोषित दूसरो के लिये स्वयं शोषक बन जाता है, इस कारण शोषक की सत्ता का समापन नही कर पाता। अगर शोषण का भीतर से उन्मूलन हो तो एक छोटा सा समुदाय भी समाज को बदल सकता है। मूल समस्या संख्या की नही, शुद्धि की है। जिस देश का हर व्यक्ति दूसरे से पहले अपना काम अन्यायपूर्वक भी करवा लेना चाहता है, उससे भ्रष्टाचार कैसे विदा होगा ? जिस समाज का हर व्यक्ति अपने से कमजोर को दबाकर आगे बढ़ जाना चाहता है, उस समाज मे शोषणविहीन समत्व की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है ? मूल समस्या यह नही है कि शोषण है बल्कि यह है कि हमने उसे स्वीकार कर रखा है, प्रतिष्ठा दे रखी है। हर व्यक्ति अपने लिये शोषण का नकार करता है, दूसरो के लिए स्वीकार करता है। इस स्थिति मे कितनी ही रक्त क्रान्तियाँ क्यों न हों, शोषण विहीन समाज संरचना एक असम्भव प्रकल्पना मात्र रहेगी।

जन-जन की चेतना का रूपान्तरण हो, शोषण के प्रति सब व्यापक सन्दर्भो में नकार का स्वर उठाये तो असहकार एव अवज्ञा की शक्ति द्वारा समाज के सामने एक ऐसी क्रान्तिकारी स्थिति प्रस्तुत की जा सकती है जिसमे बदलने या मिटने के अलावा उसके सामने कोई विकल्प नही रहे। जो संगठित लोक-शक्ति, अवज्ञा और असहकार से एक विराट् साम्राज्य को स्वस्थ कर सकती है वह सारी मानवता के पुनर्नवीकरण में भी सक्षम है, लेकिन अहिसा का अधिष्ठान समत्व है, अपने और दूसरों के मध्य मन के धरातल पर। अगर हमारे भीतर दूसरो से स्वयं को विशिष्ट समझने तथा उनके अहित की कीमत पर अपना हित-साधन करने की मूल प्रवृत्ति कायम है तो हम किसी भी क्रांति द्वारा, चाहे वह हिंसक हो या अहिंसक, समाज से शोषण का अन्त नही कर सकते। महावीर का मार्ग शुद्धि का है—धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

अगर महावीर के जीवन्त सत्यो का लोक-जीवन के धरातल पर सम्यक् अवतरण होता तो लोकतन्त्र का रूप ही बदल जाता, समाज की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाएँ ही बदल जाती, परिवार और व्यक्ति के अन्त:सम्बन्ध ही बदल जाते तथा समग्र मानवता का अन्त:रूपान्तरण हो जाता।□ • □

५८

अपरिग्रह के अनन्य उपासक और साधक गांधीजी

□ श्री काशिनाथ त्रिवेदी

जिसने जीवन के शाश्वत सत्य को उसकी गहराई में जाकर भलीभाँति देख, समझ और परख लिया, उसके लिए अपने नित्य के जीवन में परिग्रह का कोई अर्थ और आकर्षण रह ही नही गया। उसने अनुभव से जान लिया कि परिग्रह तो मिट्टी के बने मानव की ही अपनी एक बहुत पुरानी कमजोरी है। सिरजनहार की सृष्टि में परिग्रह के दोष से लिप्त दूसरे कोई भू-चर, जल-चर और खे-चर प्राणी है ही नही। पशुओं और पक्षियों का, साँपों और अजगरों का, मगरो और मछलियों का अपना कोई परिग्रह अथवा संग्रह होता नही। उनके लिए वही सहज है और उसी में उनकी सारी शोभा और शक्ति समाई हुई है। पाँच तत्त्वों से बनी इस दुनिया में किसी भी तत्त्व का अपना कोई परिग्रह कहीं होता नही। किन्तु मनुष्य ही एक ऐसा अपवाद-रूप प्राणी है, जिसने परिग्रह की माया में अपने आपको बुरी तरह उलझा और फँसा लिया है। जिस हद तक वह इस माया मे डूबा है, उस हद तक उसकी मनुष्यता का पोत-पानी गिरा है, उसका पुण्य और पुरुषार्थ क्षीण हुआ है और उसकी मानवता कुण्ठित होकर रह गई है।

अपने आरम्भिक जीवन में मनुष्य भी परिग्रही नही था। वह आज का अपना जीवन आज की स्थिति में जी लेता था, और कल का जीवन कल की स्थिति मे जी लेने की उसकी तैयारी रहती थी। इसलिए उन दिनों, उस समय की स्थिति और परिस्थिति मे उसके मन मे सग्रह की कोई इच्छा जागी नही। उसकी आवश्यकता भी रही नही।

अपने विकास के क्रम में मनुष्य जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, एकाकी जीवन से हटकर सामूहिक जीवन की दिशा में उसने बढना शुरू किया, अपने रहने के लिए घर बनाए, घरो के समूह के रूप में गाँवों की दुनिया खड़ी की, खेती की, गो-पालन की और घरेलू उद्योग-धन्धो की दिशा पकड़ी, तो उसके साथ संग्रह के रूप में वह परिग्रह की वृत्ति वाला बना। परिग्रह में उसने अपने लिए सुख, सुविधा और सुरक्षा के दर्शन किए। आगे चलकर जब व्यक्तिगत या समूहगत परिग्रह की, संग्रह की भूख प्रबल बनी तो उसके कारण मनुष्य विग्रह की दिशा में मुड़ा। ईर्ष्या-द्वेष के चक्र मे फँसा। जितना, जो कुछ, अपने पास था, उसी से

संतुष्ट रहने की वृत्ति में परिवर्तन आया और घर से लेकर समूची दुनिया तक परिग्रह की प्रचण्ड भूख ने मनुष्य को हिंसक, क्रूर, अत्याचारी और अनाचारी बनने की दिशा में मोड दिया। सदियों तक मनुष्यो की दुनिया में यही क्रम चला। कमोवेश यही आज भी सारी दुनिया में चलता दीख रहा है। परिग्रह के पाश से बँधा औसत मनुष्य आज इतना लोभी, लालची, स्वार्थी, कृपण और कठोर बन गया है कि अगर वह आज के अपने चेहरे को आईने में देखे तो देखकर भौचक ही रह जाए !

सदियों तक चली परिग्रह की इस पाशवी उपासना ने जब लोक-जीवन को पैशाचिकता की ओर मोड़ा, तो उससे चौक कर अन्तर्मुख जीवन जीने की रुचि-वृत्ति वाले कुछ लोकोत्तर पुरुषों ने फिर समाज का ध्यान परिग्रह से हटाकर अपरिग्रह की ओर खींचा। अपरिग्रह की महिमा बढ़ाने के लिए और परिवार में, समाज में तथा देश मे अपरिग्रह के मूल्य और महत्त्व को पुष्ट करने के लिए उन्होंने स्वयं अपने जीवन और व्यवहार को अपरिग्रह के साथ जोड़ा। देश में अपरिग्रहियों की एक लम्बी परम्परा चली। उसी परम्परा मे बुद्ध, महावीर से लेकर गांधी-विनोवा तक के अपरिग्रही महापुरुष हमारे बीच आए। वे बार-बार दिशा दिखाते रहे, रास्ते खोलते रहे, चेतावनियाँ देते रहे, पर इस सारी अवधि में देश के ही नही, सारी दुनिया के आम आदमी का पिण्ड कुछ ऐसा बन गया कि परिग्रह के दोषों और दुष्परिणामो को जानते-समझते हुए भी वह परिग्रह के पाश से आज तक अपने को छुडा नही पाया है। परिग्रह की लालसा ने उसको वुरी तरह जकड लिया है। अपरिग्रह की बात सोचने और उसकी दिशा में अपने कदम वढाने की कोई शक्ति उसमे शेष रही लगती नही है। आम आदमी की आज की मन.स्थिति और परिस्थिति ने उसको अपनी मनुष्यता और सामाजिकता से कोसों दूर हटा दिया है। मननशीलता अब उसके जीवन का जीता-जागता अंग रह नही गई है। आज वह मननशील कम, अनुकरणशील अधिक बन गया है। औसत आदमी अब आदमी न रहकर वन्दरो की विरादरी में शरीक होता जा रहा है, और तारीफ़ यह है कि अपनी इस गिरावट का उसको न तो कोई रंज और गम है और न उसके मन में इसके लिए कोई लाज-शरम ही रह गई है।

मानव जाति के इतिहास की इस लम्बी परम्परा को भेदता हुआ ईसा की उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध मे हमारे बीच एक ऐसा महाप्राण पुरुप फिर आया, जिसने अपने समय की दुनिया को फिर अपरिग्रह की दिशा मे मोड़ने का अपने वस-भर भगीरथ प्रयत्न किया। देश ने और दुनिया ने उसको '**महात्मा गांधी**' के नाम से जाना और पहचाना। अपने निज के जीते-जागते उदाहरण से अपने देशवासियो को और अपने समय की दुनिया के लोगों को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे अपरिग्रह की महिमा समझाते रहने का काम वे अपनी

अन्तिम साँस तक करते ही रहे। बीसवी सदी में सार्थक और समर्थ अपरिग्रही जीवन जी लेने का जो एक अनोखा उदाहरण वे अपने समय की दुनिया के सामने छोड गए, उसकी वैसी दूसरी मिसाल मिलनी मुश्किल ही है।

गाधीजी अपने जमाने के उन बिरले लोगों में थे, जिन्होने ईश्वर को सत्य मानने के साथ ही सत्य को ही ईश्वर मानने की बात भी पूरे जोर के साथ कही। वे अपने समय के सबसे बडे सत्याग्रही माने गए। सत्य की अपनी उत्कट उपासना के कारण ही वे अपने समूचे जीवन को व्रत-निष्ठ बना सके। उनकी यह व्रत-निष्ठा ही उनको उन ग्यारह व्रतों की दिशा में ले गई, जिनको उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में और अपने आश्रमो के सामूहिक जीवन में प्रतिष्ठित करने का सजग प्रयत्न अविरत भाव से किया। सत्य की अपनी अखण्ड उपासना के कारण ही उन्होंने अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, अभय, सर्व धर्म-समानता, स्वदेशी और अस्पृश्यता को अपने जीवन-व्रतों के रूप मे अगीकार किया था। सन् १९१५ से लेकर १९४८ तक का उनका जीवन इन ग्यारह व्रतों की अनन्य उपासना में बीता। व्रत-पालन में उनके समान जागरूकता, तत्परता और चौकसाई के उदाहरण हमारे लोक-जीवन मे कही देखने को मिलते नही है। सत्य की परिपूर्ण उपासना और आराधना के लिए गांधीजी ने अपरिग्रह को अनिवार्य माना था। लोक-सेवा और समाज-जीवन के अपने लम्बे और विविध अनुभवो के फलस्वरूप वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि सत्य-निष्ठ जीवन जीने के लिए अपरिग्रह अनिवार्य है। परिग्रह में उनको कही सत्य के दर्शन नही हुए। इसलिए वे अपने जीवन-काल में उत्तरोत्तर अपरिग्रही बनते चले गए। लोक-सेवा की उत्कट लगन ने उनको अपरिग्रह की दिशा मे मोडा। यही लगन उनको ब्रह्मचर्य दिशा में ले गई। २७-२८ से ३०-३२ वरस की उमर तक पहुँचते-पहुँचते द्रव्य के प्रति और वस्त्राभूषण के प्रति उनकी आसक्ति विचारपूर्वक क्षीण होती चली गई और अपनी लोक-सेवा के बदले में मिले कीमती उपहारों को अपनी नही, जनता की सम्पत्ति मानने का शुभ निश्चय वे कर पाए। इसके लिए उनको अपने मन के साथ और अपनी पत्नी और पुत्रो के साथ काफी जूझना पड़ा। इसकी चर्चा करते हुए '**सत्य के प्रयोग**' नामक अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा था : 'मेरा यह मत बना है कि सार्वजनिक सेवक के लिए निजी भेंटे नही हो सकती।' अपने इस जीवन-दर्शन पर वे अन्त तक चट्टान की तरह दृढ बने रहे। इसके साथ किसी प्रकार का कोई समझौता उन्होंने कभी किया ही नही।

दक्षिण अफ्रीका से लेकर भारत तक का उनका सारा सार्वजनिक जीवन अपरिग्रह की उनकी उपासना और साधना का एक मुखर प्रमाण बन चुका है। अपनी सारी बुद्धि, सारी शक्ति, सारा समय, सारा पुरुषार्थ लोक-सेवा मे लगा

देने का निर्णय कर लेने के बाद गांधीजी की अपनी न तो कोई गृहस्थी रही, न कोई स्थावर-जंगम सम्पत्ति रही और न अपने कोई स्वजन-परिजन ही रह गए। जो छोटा था, जो अल्पजीवी था, उसको छोड़कर, उससे कही ऊपर उठकर, वे विशाल और विराट् की दिशा मे बढते चले गए, जिसकी उत्तम परिणति उनके विश्व-कुटुम्ब में हुई ! **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का एक अनोखा उदाहरण वे अपने जीवन और अपने कार्य के द्वारा दुनिया के सामने सदा के लिए छोड गए। आत्म-दर्शन ने उनको विश्व-दर्शन के साथ जोड दिया। वे चराचर सृष्टि को अपने मे और अपने को चराचर सृष्टि में देखने की रुचि, वृत्ति, दृष्टि और शक्ति वाले वन गए ! अपरिग्रह-सम्बन्धी उनका चिन्तन और आचरण उनको इतनी दूर तक ले गया। सब मेरे है, मैं सबका हूँ और सबसे परे भी हूँ, ऐसी एक उदात्त भूमिका उनके जीवन और कार्य की बनती चली गई, अपने इसी चिन्तन के परिणामस्वरूप सन् १९३४-३५ के दिनो में देश के गरीब-से-गरीब आदमी के साथ जुड़कर जीने और काम करने के विचार से गांधीजी ने मगन-वाडी, वर्धा का अपना निवास छोडने और सेवा गाँव—जैसे हरिजनों की वस्ती वाले एक छोटे-से गाँव मे, उनकी झोंपड़ी के ढग की ही अपनी एक झोपडी बनवाकर उसमे रहना शुरू किया, और वही से सारे भारत की स्वतन्त्रता के अपने आन्दोलनो को चलाया। अपरिग्रह की दिशा में उनका यह एक और मजबूत क़दम रहा। अपनी इस कुटिया के कमरों में गाधीजी खजूर के पत्तो से बनी चटाइयाँ विछवाते थे। उनसे मिलने के लिए आने वाले देश-विदेश के बडे-छोटे सब लोग इन्हीं चटाइयो पर वैठ कर गांधीजी के साथ बातचीत करते थे। जो मेरे देश के गरीव-से-गरीव आदमी को नही मिलता, उसका उपयोग मैं कैसे करूँ ? यह सवाल उनके मन में बरावर वना रहता था। उसको अपनी वरावरी पर लाने के लिए उनका चिन्तन और उनके काम लगातार चलते रहते थे। अपरिग्रह ही उनकी उपासना की यह एक वड़ी मज़िल थी। इस मंजिल की तरफ वे तेज गति से वढ रहे थे। जब तक वढ सके, वढ़ते ही रहे। रुकने, थकने, हारने की कोई वात कभी उनके सामने रही नही। सेवा ग्राम—आश्रम का उनका जीवन, सुवह से रात तक की उनकी दिन चर्या, सर्वोदयी परिवार के जीवन के एक नमूने-सी वन गई थी। इसमे ग़रीव-से-ग़रीव आदमी के लिए भी गहरा आश्वासन भरा था।

अपरिग्रह के विपय में गाधीजी किस गहराई तक पहुँचे थे, इसकी जान-कारी देने वाले उनके कुछ जीवन-प्रसंगो पर यहाँ हम थोडी निगाह डाले—

१. वस्त्र-त्याग

अपने जीवन-काल में सारे देश मे घूमकर गाधीजी ने वहुत नज़दीक से उस समय के अपने लोगो की भीपण ग़रीवी के जो दर्शन किए, उनके फलस्वरूप

उन्होने अपनी इस अटल प्रतिज्ञा के साथ पूरे कपडे पहनना छोड दिया कि जब तक मेरे देश की माताओ और बहनो को अपनी लाज ढँकने के लायक कपड़े पहनने को नही मिलते, तब तक मै भी लाज ढँकने के लिए जरूरी लँगोटी पहन कर ही रहूँगा। इस तरह सन् १९२१ से लेकर १९४८ तक वे देश-विदेश में और ठण्ड, बरसात, गर्मी आदि के सब मौसमों में भी लँगोटी पहन कर ही रहे और घूमे। अपने लिए उन्होने कम-से-कम कपड़ों का उपयोग किया और जिन कपडो का उपयोग किया, उनके लिए जरूरी सूत भी वे अपने हाथो कातते रहे। अपने स्वजनो और साथियों के हाथ-कते सूत के कपड़ों का उपयोग भी वे करते रहे। जब उनकी छोटी धोती या लँगोटी पहनने लायक नही रहती, तो उसमें से वे अपने काम के लिए हाथ-रूमाल बनवा लेते। पानी छानने आदि के काम के लिए भी इसी पुरानी खादी का उपयोग करते। जिस चीज़ को बनाने में आदमी की शक्ति लगी है, समय लगा है, प्रेम लगा है, पैसा खर्च हुआ है, उस चीज का सही-सही और पूरा-पूरा उपयोग करने की भरपूर सावधानी गाधीजी बरता करते थे। यह उनकी अपरिग्रह-भावना का ही एक अग था।

२. नीम की दो पत्तियाँ

गाधीजी उन दिनो साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में रहते थे। एक दिन जब वे अपने हाथो चिट्ठियाँ लिखने में व्यस्त थे, तब उन्होने अपने पास बैठकर काम कर रही अपनी अग्रेज शिष्या कुमारी मीरा बहन से कहा : 'मीरा! चिट्ठियाँ लिख चुकने के बाद मुझको अपने हाथो रूई पीजनी है, और पूनिया बनानी है। मेरी पीजन मे सूत की जो डोर लगी है, उसके उठे हुए रेशों को दबाने और डोर को चिकना बनाने के लिए मुझको नीम की दो पत्तियाँ चाहिए। सामने नीम का जो पेड खडा है, उसकी दो पत्तियाँ लाकर तुम यहाँ रख दो।' गाधीजी के कहे कामो को उमग और उत्साह के साथ करने की आदत वाली मीरा बहन फौरन उठी और नीम के पेड़ के पास पहुँच कर वे उसकी एक टहनी तोडकर ले आई। उन्होंने वह टहनी गाधीजी के सामने रख दी। जब चिट्ठियाँ लिखने का काम पूरा हुआ, और गाधीजी ने अपना सिर उठाकर इधर-उधर देखा, तो उनको नीम की पत्तियो वाली वह टहनी दिखाई पडी। उसको देखते ही वे एकदम गम्भीर हो उठे। उन्होने मीरा बहन की तरफ देखा और व्यथा-भरी आवाज़ में उनसे पूछा : 'मीरा! क्या तुम इतनी नादान हो कि तुमको दो की गिनती भी नही आती है? मैने तुमसे कहा था कि मुझको नीम की दो पत्तियाँ चाहिए। फिर तुम बारह-चौदह पत्तियों वाली यह टहनी क्यो ले आई? तुम समझती नही हो कि तुमने आज कितनी बड़ी ग़लती कर डाली है! उतावली में किए गए तुम्हारे इस काम से आज हमारे दो व्रत टूटे है। एक अपरिग्रह का और दूसरा अस्तेय का। मुझको क्या पता था कि इस छोटे-से काम के बहाने तुम ऐसी दो बडी भूले कर बैठोगी? मुझको नीम की दो पत्तियो

की जरूरत थी तुम इतनी पत्तियो वाली यह टहनी ले आई हो। क्या इससे अपरिग्रह का हमारा व्रत नही टूटा ? अस्तेय के हमारे व्रत को धक्का नही पहुँचा ? जब हम अपनी जरूरत से ज्यादा किसी चीज़ को अपने पास रखते है, तो हम अपने अपरिग्रह और अस्तेय के व्रत को तोडते है।' गाधीजी काफी देर तक मीरा बहन को अपनी यह बात समझाते रहे। मीरा बहन की स्थिति तो ऐसी बनी कि काटो तो खून नहीं !

३. 'बापू ! आप तो बहुत कंजूस लगते हैं।'

गाधीजी के एक बहुत जाने-माने साथी श्री मोहनलाल पण्ड्या एक दिन गाधीजी से मिलने और उनसे जरूरी बातचीत करने के लिए साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में पहुँचे। खेडा जिले मे हुए किसानो के सत्याग्रह के दिनो में पण्ड्याजी ने बडी बहादुरी दिखाई थी। गांधीजी से बातचीत करने के बाद उस रात वे आश्रम मे ही रहे। हृदयकुंज के सामने वाले खुले मैदान में जहाँ रात को गाधीजी की खटिया लगती थी, वही मोहनलाल पण्ड्या की भी खटिया लगी और उस रात वे वही सोए। दूसरे दिन बड़े सवेरे जब जागने की घण्टी बजी, तो गाधीजी सहित सब जागे। तभी मोहनलाल पण्ड्या का ध्यान गांधीजी की तरफ गया। वे उस समय दातौन करके हाथ-मुँह धो रहे थे। पण्ड्याजी को अचानक एक मजाक सूझा और वे बोले : 'बापूजी ! आप तो बहुत ही कजूस लगते है।' गांधीजी ने हँसते-हँसते पूछा ! 'क्यो भाई, मै तुमको कजूस क्यो लग रहा हूँ ?' पण्ड्याजी ने कहा : 'मुश्किल से आधा सेर पानी जिसमे रह पाए, ऐसी इस छोटी-सी लुटिया के पानी से आप दातौन भी कर लेते है, और मुँह-हाथ भी धो लेते है। यह देखकर मुझको तो बड़ा अचरज होता है। आप पानी की इतनी कंजूसी क्यो करते है। यहाँ से १०० कदम यह साबरमती नदी बह रही है। इसमे पानी की कोई कमी नही है। ऐसी हालत मे आप इतने कम पानी से अपना काम क्यो चलाते है ?' गाधीजी बोले : 'मोहनलाल भाई, यह साबरमती नदी मेरे बाप ने नही बनाई है। इस पर तो सारी चराचर सृष्टि का हक है। मै इससे अपनी जरूरत के लायक पानी ही ले सकता हूँ। जरूरत से ज्यादा लेता हूँ तो चोरी का गुनाह करता हूँ। देखिए, इस लुटिया भर पानी से मैंने अपने दाँत भी माँज लिए, मुँह भी धो लिया, और हाथ भी धो लिए। धोने मे कोई कसर रही हो तो मुझसे कहिए !' बेचारे मोहनलाल भाई क्या कहते ? वे तो खिसिया कर रह गए।

४. स्नान-घर के बरतनों की चोरी

उन दिनों साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम की प्रार्थना-भूमि से कुछ ही दूर गांधीजी का अपना एक स्नान-घर बना था। इस स्नान-घर मे तांबे-पीतल के बरतनो मे गांधीजी के लिए नहाने का पानी भरा जाता था। स्नान के बाद

स्नान-घर पर ताला लगाने की जिम्मेदारी एक आश्रमवासी भाई को सौंपी गई थी। वह समय ऐसा था कि जब रात में अहमदाबाद के आसपास की बस्तियो से कुछ आवारा लोग आश्रम की हद में घुसकर छोटी-बडी चीजें चुरा लिया करते थे। एक रात गाधीजी के स्नान-घर का ताला खुला रह गया। सयोग से उसी रात आश्रम मे कुछ चोर आए और गाधीजी के स्नान-घर को खुला पाकर वे स्नान-घर मे रखे हुए ताँबे-पीतल के सब बरतन चुराकर ले गए। दूसरे दिन सुबह गाधीजी को इसकी जानकारी दी गई, तो इसमें उन्होंने अपना ही दोष देखा, और कहा कि नहाने का पानी भरने के लिए हमको इतने कीमती बरतन रखने की जरूरत ही क्या थी ? हम अपने पास ऐसी कोई चीज रखें ही क्यों जिसको चुरा लेने के लिए किसी का मन ललचा जाए और वह चोर बन जाए ? इसके लिए दोषी तो हम ही है। ऐसे अवसरो पर गाँधीजी का मन बहुत ही सजग और सक्रिय हो उठता था। उन्होने तुरन्त ही निश्चय किया कि अब उनके स्नान-घर मे पानी भरने के लिए ताँबे-पीतल के कीमती बरतनों की जगह केरोसिन के खाली कनस्तरों का ही उपयोग किया जाए। उन दिनों ये कनस्तर काफी सस्ते बिकते थे। उस दिन से गांधीजी के स्नान-घर में पानी के संग्रह के लिए खाली कनस्तरों का ही उपयोग होने लगा।

५. मिट्टी का ढेला

एक शाम खेड़ा जिले के श्री मोहनलाल पण्ड्या फिर गाधीजी से मिलने और उनके साथ चर्चा करने के लिए साबरमती पहुँचे। उस रात उनको वही रुकना पडा। दूसरे दिन सुबह वे अपने हाथ मे पानी-भरा लोटा लेकर दिशा-जगल के लिए निकले। लौटते समय आश्रम के हाल ही जोते गए खेत मे से उन्होने मिट्टी का एक बड़ा-सा ढेला उठा लिया। वे नल के पास पहुँचे। पहले ढेले की थोडी मिट्टी लेकर उन्होने उससे अपने हाथ धो लिए। फिर थोड़ी और मिट्टी लेकर वे अपना लोटा माँजने लगे। तभी गाधीजी उधर से निकले। उनकी चकोर आँखे मिट्टी के उस बड़े-से ढेले पर टिकी। उन्होने तुरन्त पूछा : 'मोहनलाल भाई, मिट्टी का यह इतना बडा ढेला यहाँ किसने रखा है ?' मोहनलाल भाई ने कहा—'बापू ! यह तो मैने रखा है। दिशा-जगल से लौटते समय मैं खेत मे से इसको उठा लाया हूँ।' गाधीजी बोले : 'क्यो उठा लाए हो ?' जबाव मे पण्ड्याजी ने कहा : 'बापू ! मिट्टी से हाथ धोने और लोटा माँजने के लिए मै इसको ले आया हूँ।' गाधीजी बोले : 'पण्ड्याजी, हाथ धोने और लोटा माँजने के लिए तो चुटकी-भर मिट्टी काफी होती है। यह ढेला तो ढाई-तीन सेर वजन का लगता है। नल के पास इतने बड़े ढले की क्या जरूरत है ? यह यही पडा रह गया, तो नल के पानी में भीगकर यहा कीचड़ कर देगा। कीचड़ पर पैर फिसलने से उतावली मे आने वालों को चोट भी लग सकती है। इस ढेले की जगह नल के पास नही है। इसको आप तुरन्त ही खेत

मे डाल आइए। यह वहाँ रहेगा तो चार दाने ज्यादा पैदा करके देगा। यहाँ नल के पास बना रहा तो यह कीचड बनकर किसी के हाथ-पैर तोड़ सकता है। इसकी जगह यहाँ नही, खेत मे है।' पण्ड्याजी बोले . 'बापू, मैं इसको फिर खेत में डाल आऊँगा।' बापू ने कहा : 'आप पहले उठिए, ढेला अपने हाथ मे लीजिए, और मेरे सामने ही इसको वापस खेत मे डाल आइए। जब तक आप यह काम नही करेंगे, मै यही रुका रहूँगा।' पण्ड्याजी ने ढेला उठाया और वे खेत की तरफ बढे। जब ढेला वापस खेत में पहुँच गया, तो गाधीजी को तसल्ली हुई, और वे अपने मुकाम की तरफ बढ गए। चुटकी-भर मिट्टी की जगह बडे-से ढेले का सग्रह गाधीजी को इतना चुभा कि जब तक ढेला अपनी असल जगह पर नही पहुँचा, वे उसकी चिन्ता करते रहे। अपरिग्रह के व्रतधारी की आँखे कितनी चकोर और मन कितना चौकस होना चाहिए, इसका एक अच्छा-सा उदाहरण हमको इस प्रसग से मिलता है।

अपरिग्रही गांधीजी के रोज-रोज के जीवन-प्रसगो में से ऐसे तो अनगिनत प्रसंग दिए जा सकते हैं, जिनसे अपरिग्रह मे उनकी गहरी निष्ठा व्यक्त होती रही है। अपरिग्रह की अपनी इस अखण्ड उपासना और साधना के फलस्वरूप ही गाधीजी ने अपने समकालीनो के सामने ट्रस्टीशिप की अपनी अनोखी योजना रखी थी। उन्होने अपने देश के उद्योगपतियो और धन कुबेरों को सलाह दी थी कि उनके पास उनकी अपनी आवश्यकता से अधिक जितनी चल-अचल सम्पत्ति है, उसके वे स्वय स्वेच्छा से ट्रस्टी बन जाएँ और उसका उपयोग लोकोपयोगी कामो मे करते रहने का व्रत ले ले। अपने पास धन-सम्पत्ति के रूप मे जो भी कुछ इकट्ठा हुआ है, वह अपना नही है, उनका है जिन्होने इसके इकट्ठा होने मे अपना योगदान किया है। जनता से मिली चीज, जनता की मानकर जनता को ही वापस दे देने की, उसी के उत्थान और कल्याण मे उसको लगाते रहने की रुचि और वृत्ति को गाधीजी ने विश्वस्त-वृत्ति माना था। परिवार, समाज और देश के स्वस्थ और सन्तुलित धारण-पोषण और सवर्धन-संगोपन के लिए लोक-जीवन मे विश्वस्त-वृत्ति को परिपुष्ट करने के विचार मे गाधीजी अपने जीवन के अन्तिम चरण मे ट्रस्टीशिप पर बहुत जोर देने लगे थे। वे चाहते और मानते थे कि जो लोग शुद्ध रीति-नीति के साथ धन-सम्पत्ति के विपुल अर्जन की क्षमता रखते है, वे उसका अर्जन अपनी पूरी योग्यता और कुशलता के साथ करते रहे। ऐसे धनी-मानी लोगों के सामने उन्होने एक ही मर्यादा रखी थी कि जो धन-सम्पत्ति उनके पास सचित हुई है, उसको वे अपनी न मानें, उस पर अपना कोई स्वामित्व न जताएँ। उसको समाज की माने और समाज को ही निरन्तर समर्पित करते रहे। इसके मूल में **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये'** की भावना काम करती रहे। जो चीज भगवान् से मिली है, उसको वापस भगवान् के ही हाथों मे सौंप देने की उदात्त वृत्ति का

ही एक प्रकट रूप ट्रस्टीशिप है। स्वामित्व हमारा नही। स्वामित्व पूरे समाज का है। हम तो उसके रक्षक-भर है।

धन-सम्पत्ति से भी आगे बढ़कर गांधीजी ने तो ट्रस्टीशिप के विचार को इस हद तक आगे बढाया कि मनुष्य अपने को अपने शरीर का, अपने मन का, अपनी बुद्धि का और अपनी वाणी आदि का भी स्वामी न माने। वह इन सबका उपयोग और विनियोग भी चराचर सृष्टि के हित में करता रहे। इन सबको प्रभु द्वारा सौपी गई धरोहर माने।

गांधीजी ने **'ईशावास्य-उपनिषद्'** के पहले मंत्र को अपनी सुबह-शाम की सामूहिक प्रार्थना में पहला स्थान इसी विचार से दिया था कि उसमें विश्वस्त-वृत्ति का सारा विचार बहुत परिणत रूप मे प्रकट हुआ है।

अपरिग्रह की अपनी उत्कट उपासना और साधना के फलस्वरूप गांधीजी ने अपने समय की दुनिया के सामने सत्याचरण के और सत्य की उपासना के जो ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किए है, वे चिरकाल तक लोकात्मा को उज्ज्वल और निर्मल बनाए रखने की दिशा दिखाते रहेंगे।

बीसवी सदी को लाँघकर इक्कीसवी सदी में प्रवेश के लिए उतावली बनी हमारे समय की मानवता ने गांधी-जीवन-दर्शन को पीने-पचाने की दिशा पकडने में थोड़ी भी कमजोरी, शिथिलता या असावधानी दिखाई, तो आने वाला जमाना उसके लिए बहुत ही भयावना और सर्वनाशकारो बन सकता है।

आइए, परम मंगलमय प्रभु से हम सब नम्रतापूर्वक बिनती करें कि वे हममे से हरएक के घट मे जाग उठे और हमको असत्य से सत्य की दिशा में, अँधेरे से उजेले की दिशा में और मृत्यु से अमरता की दिशा में बढ़ते रहने की भरपूर शक्ति, भक्ति और दृष्टि दे।



☐ इच्छा का समुद्र सदा अतृप्त रहता है, उसकी मागे ज्यों-ज्यों पूरी की जाती हैं, त्यों-त्यों और गर्जन करता है।

—**विवेकानन्द**

☐ जो तमाम इच्छाओं से ऊपर उठ गया है उसके द्वारा भलाई सदा इस तरह अनजाने, सहज और स्वाभाविक तौर से होती रहती है, जैसे फूल से खुशबू और सितारों से रोशनी निकलती रहती है।

—**स्वामी रामतीर्थ**

इसके विपरीत एक अन्य सामाजिक सकल्प को ले जिससे ऐसी अवस्थाओं का पता चलता हो जिनमें इस बात का प्रावधान हो कि व्यक्ति की जीवनोपयोगी तथा जीवन के उत्कर्ष की आवश्यकताओं की उपयुक्त मात्रा में यथासमय पूर्ति होती रहती हो, तो सभवत व्यक्ति की प्रेरणाये एवं वृत्तियाँ भिन्न रूप ग्रहण करेगी। ऐसी सामाजिक सरचना मे संग्रह की वृत्ति के उभरने और दृढ होने की सभावना नही के बराबर होगी। यदि मुझे मेरी योग्यता और क्षमता के अनुरूप काम मिलता है, बदले मे रहने, खाने की सुविधा मिलती है, बीमार होने पर उपचार हो जाता है, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा नि.शुल्क होती है, अवकाश के अवसरो पर यात्रा तथा मनोरंजन के साधन उपलब्ध करा दिये जाते है, और व्यक्ति में यह विश्वास बैठ जाता है कि सामाजिक सरचना वस्तुत. ऐसी व्यवस्था को पुष्ट करती है, तो सग्रह एक अनावश्यक एव बुद्धिहीन कृत्य प्रतीत होगा।

सामाजिक सरचनाएँ अनेक रूप में प्रकल्पित की गई है। यहाँ उल्लिखित संकल्पनाएँ वस्तुत: ठीक इसी रूप मे कही विद्यमान हो, यह तो नही है। वस्तुत: ये वर्णन एक प्रकार से आदर्श रूपी है, विचार की सुविधा के रूप में उन्हे एक अतिरञ्जक अभिव्यक्ति दी गई है। अपने समाज मे तथा अपने चारो ओर, जो समाज हम देखते है, वे न्यूनाधिक इन सकल्पनाओं के मिश्र रूप है। फलत विद्यमान सरचनाओं को ध्यान मे रखते हुए न तो यह कहना ही पूरी तरह ठीक होगा कि संग्रह आवश्यक है और न ही यह कहना कि वह अनावश्यक है। इस स्थिति मे यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि फिर इस प्रकार के उल्लेख का प्रयोजन ही क्या है ? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इस उल्लेख से यह पता चलता है कि सामाजिक सरचना तथा सग्रह के औचित्य मे परस्पर कोई सम्बन्ध है। विज्ञ पाठको के लिये यह मत साधारण जानकारी का विषय होगा कि बहुत सी अवधारणाएँ किसी सामाजिक सरचना की पृष्ठभूमि मे ही सार्थक होती है।

किन्तु एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है। क्या यह आवश्यक है कि अर्थ-प्रधान अथवा स्पर्धा प्रधान समाज मे सग्रह की वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति मे जन्म लेगी तथा पनपेगी, और इसी प्रकार क्या यह आवश्यक है कि कल्याण प्रधान समाज मे किसी भी व्यक्ति मे संग्रह की वृत्ति नही होगी या होती ? क्या यह सभव नही है कि अर्थ प्रधान समाज मे अनेक तथाकथित दबावों के रहते हुए भी कुछ ऐसे व्यक्ति हो जो संग्रह न करते हों तथा संग्रह करना ठीक नही मानते हों जबकि कल्याण प्रधान समाज मे तथाकथित दबावो के नहीं रहने पर भी कुछ ऐसे व्यक्ति हों जो सग्रहशील हों तथा संग्रह को ठीक मानते हो ? मानवीय स्वभाव की विलक्षणता को देखते हुए इन प्रश्नो का उत्तर 'हाँ' मे देने मे कोई बाधा नहीं दीखती। और यदि यह ठीक है तो सामाजिक सरचना मात्र से संग्रह की वृत्ति

को पूर्णतया समझना सभव नही होगा। संरचना तथा सग्रह में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है। परन्तु ऐसा भी नही कि वे नितान्त असम्बद्ध है।

यदि संग्रह के प्रश्न को संरचना के स्थान पर मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में देखा जाय तो कुछ और प्रकाश पड़े। परन्तु इस परिप्रेक्ष्य को रखकर विचार करने के पूर्व सामाजिक संरचना के बिन्दु से कुछ और पक्ष विचारणीय है। ये पक्ष पुरुषार्थ, चार आश्रम तथा चार वर्णो की कल्पनाओ से उभरकर आते है। पुरुषार्थ तथा चार आश्रमो की सकल्पना सग्रह को नकारती नही अपितु उसका स्थान निश्चित करती है। अर्थ और काम का स्वीकार तथा गृहस्थ का केन्द्रीय स्थान—इनके सन्दर्भ मे सग्रह के औचित्य को निश्चित किया जा सकता है। परन्तु मूल्यो की निम्नोच्च शृङ्खला मे धर्म का स्थान मर्यादा और अंकुश का काम करता है। सग्रह हो परन्तु मर्यादा के साथ, ऐसे कि दूसरी आवश्यकताओं तथा मूल्यो का हनन नही हो, और साथ ही यह स्मरण रहे कि संगृहीत धन सार्वजनिक हित का साधन बनना चाहिए—शायद ट्रस्टीशिप की गाँधीवादी अवधारणा यहाँ कही जुड़ती है।

दान की दृष्टि से चार वर्ण दो वर्गो में विभक्त किये जा सकते है। क्षत्रियों तथा वैश्यों के अनेक धर्मो मे एक महत्त्वपूर्ण धर्म दान है। स्पष्ट है जब अपने पास कुछ होगा ही नही तो दान किसका होगा। तो संग्रह तो किया जाना चाहिए परन्तु दान हेतु। ब्राह्मण वर्ग एव शूद्र वर्ग को दान का पात्र माना जा सकता है। ब्राह्मणो को तो बहुधा ये निर्देश दिये जाते रहे है कि उन्हे अपने पास धन जोड़कर नही रखना चाहिए तथा उसका दान और त्याग करना चाहिए क्योकि उनका प्रमुख धर्म मूल्यों का बोध कराना तथा उनका सवर्धन है, और उद्योग उनका धर्म नही है, तो दूसरे वर्गो का यह कर्त्तव्य है कि वे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करे। परन्तु इस अवस्था में अधिक प्राप्त कर लेने पर उनके पास अतिरिक्त सम्पत्ति बच रह सकती है, तो निर्देश यह है कि उसका दान कर देना चाहिए। संक्षेप मे हिन्दू सामाजिक संरचना मे संग्रह की अस्वीकृति नही है, अपितु उसके नियमन का विधान है। यह बात लगभग कुछ परिवर्तित रूप में अन्य दृष्टियों से निर्धारित सामाजिक सकल्पनाओ के विषय में भी की जा सकती है। श्रमण परम्पराओं मे गृहस्थ तथा मुनि का भेद ध्यान मे रखना होगा, इसके पूर्व कि परिग्रह के विषय मे कुछ कहा जा सके। पूर्ण अपरिग्रह केवल मुनियो के लिये ही निर्दिष्ट है।

सामाजिक सकल्पना से स्वतन्त्र मानवीय स्वभाव को ध्यान मे रखते हुए संग्रह को लेकर कुछ और पक्ष उभरते है। इस सन्दर्भ मे यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मनुष्य संग्रहशील प्राणी है? पशु जगत मे कुछ पशुओ में संग्रह की वृत्ति देखने में आती है तथा कहीं-कही उसका उपयोगिता से कोई

सम्बन्ध नही होता । चूहो में कागज, कपड़े की कतरने एकत्रित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, उनके लिए इनका कोई उपयोग होगा, ऐसा प्रतीत नही होता। चीटियो के विषय मे प्रसिद्ध है कि उनका सामूहिक जीवन होता है, और वे भविष्य में उपयोग की दृष्टि से सग्रह करती है । और दृष्टान्त भी लिये जा सकते है । मानवो मे, बालकों मे तरह-तरह की नितान्त अनुपयोगी परन्तु देखने मे चमकीली वस्तुओं को एकत्रित करने की वृत्ति देखी जाती है । इन उदाहरणो से यह पता चलता है कि सग्रह धन के अतिरिक्त अनेक दूसरी चीजों का भी हो सकता है । कुछ सग्रह तो इस प्रकार से है जिन्हे अपनाने के लिये युवको और बालको को विशेष रूप मे प्रोत्साहित किया जाता है, यथा डाक टिकटो का सग्रह, पुरातन वस्तुओ का सग्रह, पेड़-पौधो का सग्रह, विशिष्ट अवसरो पर यादगारो का सग्रह आदि । मानवीय स्वभाव तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कह सकते है कि मानव मे सग्रह की वृत्ति तो होती है परन्तु वह किस रूप मे अभिव्यक्त होगी, यह पहले से कहना सभव नही । महत्त्वपूर्ण बात यह देखना है कि यह वृत्ति व्यक्तित्व के अन्य पक्षो से कैसे जुड जाती है । अह-पोषण और इसके निमित्त विलक्षणता की प्राप्ति बहुधा किसी वस्तु के एकाधिकार के लिये प्रेरित करते हैं और वस्तु विशेष के संग्रह के लिये व्यक्ति को बाध्य करते है । बहुधा यह स्थिति अपने नकारात्मक रूप से जुड़ जाती है—जब किसी अन्य के पास वस्तु विशेष हो और मेरे पास न हो तो, अथवा एकाधिकार के कारण किसी और के पास वस्तु विशेष का होना, असहनीय हो जाता हो । ईर्ष्या, लोभ, मात्सर्य आदि स्वतः उभरने लगते है और व्यक्ति अपने चारों ओर अशान्ति का घेरा बना लेता है ।

सामान्यतया सग्रह की बात अनेक वस्तुओं के लिये होती है, उसके साथ मात्रा-अतिक्रमण की बात भी आती है । इस दृष्टि से किसी वस्तु विशेष के आधिपत्य को सग्रह की सकल्पना में लाना उचित नही कहा जायगा । परन्तु, यदि प्राप्ति की इच्छा, उसके लिये सतत प्रयास, वस्तु का अपने पास न होने का कष्ट, वस्तु का दूसरे के पास होने का कष्ट आदि-आदि स्थितियो को ले तो ये दोनो अवस्थाओ मे समान होती है । और फिर सग्रह या परिग्रह मे मात्रा की बात वस्तुत: प्रमुख नही है, अपितु मात्रा उसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती है ।

विलक्षणता, प्रतिभा सम्पन्नता से भी सम्बन्धित है । व्यक्ति की पहचान और विलक्षणता बहुधा उसकी प्रतिभा के उन्मेष और उत्कर्ष पर आश्रित होती है । वर्तमान प्रसग मे, किसी वस्तु के गुण की पहचान तथा उसकी प्राप्ति के उपाय विशिष्ट प्रतिभा की अपेक्षा रखते है । इस ओर पहले सकेत हुआ है कि सुरक्षा तथा स्वातन्त्र्य की अनुभूति कभी-कभी इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति के पास कुछ है । ये कुछ बातें व्यक्ति के सन्दर्भ में संग्रह के कुछ एक ऐसे

पक्षो की ओर सकेत करती है जिनमें से कुछ तो निर्दोष, कुछ आवश्यक तथा कुछ अवाछनीय प्रतीत होते है । किसी भी समाज मे व्यावहारिक स्तर पर व्यक्ति की श्रेष्ठता एव उत्कर्ष के लिये किसी प्रकार के तथा किसी मात्रा मे संग्रह अथवा परिग्रह को आवश्यक मानना होगा । इस सम्बन्ध में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आता है वह यह है कि नितान्त अपरिग्रह सम्पन्न मुनियो, सन्यासियों आदि के लिए समाज के कुछ लोगो अथवा वर्गो पर यह दायित्व आता है कि वे उद्यमशील हो तथा एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था को वनाये रखने में समर्थ हो जो वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम के लिये नैमित्तिक हो । यद्यपि सन्यासी समाज के सदस्य नही होते है, और न ही वे किसी से कोई अपेक्षा रखते है, आदर्श की दृष्टि से, समाज के लिये वे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है । उनके चारो ओर चाहे-अनचाहे अनेक समस्याये खड़ी हो जाती है । उनसे अनेक कर्मकाण्ड जुड जाते है । और फिर समाज के शेष सदस्यों के दायित्वो मे एक दायित्व उनकी सेवा-सुश्रुषा को भी गिना जाता है । इन परिस्थितियो मे एक नैमित्तिक आर्थिक ढाँचा और तदरूप उद्योग उपस्थित हो ही जाते है और इस अवस्था में किसी न किसी रूप मे सग्रह के औचित्य को स्वीकार करना ही पड़ जाता है । यहाँ स्मरण हो आता है कि दान तथा त्याग के निर्देश अप्रासंगिक हो जायेंगे, यदि सग्रह के औचित्य को स्वीकार न किया जाय । व्यापक दृष्टि से, अर्थात् हिन्दू-अहिन्दू दृष्टियो से (अहिन्दू दृष्टि से न केवल धर्मानुयायियो का सन्दर्भ ग्रहण करे अपितु सामाजिक व्यवस्था प्रधान दृष्टियाँ भी लें) यह कहा जायगा कि वर्तमान स्थिति मे न तो सग्रह उचित है और न दान । अपने ही देश को ले तो यह सन्दर्भ हमारा बयान तुरन्त भिखारियों की समस्या की ओर ले जाता है । भीख देना उतना हो दोषपूर्ण है जितना वस्तुओ अथवा धन का सचय । कदाचित् कुछ लोग भीख देने तथा दान करने मे भेद करना चाहें । इस सन्दर्भ मे अधिक चर्चा अभिप्रेत नही है । इतना कहना पर्याप्त होगा कि भीख देना दोषपूर्ण मानते हुए भी त्याग की वृत्ति का स्वतन्त्र महत्त्व है । निपट व्यावहारिक स्तर पर भी त्याग की भावना न होने से परस्पर सहयोग, आवश्यकता पडने पर किसी की सहायता जैसे साधारण कर्म भी सभव नही होंगे ।

यह एक विचित्र विरोधाभास है कि संग्रह एक ओर सुरक्षा, शक्ति और स्वतन्त्रता की भावनाओं को पुष्ट करने में सहायक होता है, तो दूसरी ओर असुरक्षा और बन्धन की वृद्धि करने वाला भी होता है । यदि मेरे पास कुछ है ही नही अथवा कुछ भी ऐसा नही जिसमें अन्य का आकर्षण न हो, तो मुझे क्या खोने, किस हानि अथवा किस चोरी का भय हो सकता है । फिर कैसी असुरक्षा और कैसा बन्धन ? अनेक दार्शनिकों का मानना है कि 'रखने' से अधिक 'होना' अधिक महत्त्वपूर्ण है । परिग्रह के विषय मे प्रो. दयाकृष्ण से चर्चा होते समय उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु की ओर ध्यान आकर्षित किया । उनका कहना था कि परिग्रह को लेकर व्यक्ति की दृष्टि से जीवन में क्रमश: अनेक

है, की रचना करते है। इस ओड से निश्चित दूरी रखते हुए ऋणावेशित इलेक्ट्रॉन लास्य निमग्न रहते है। इनके नृत्य की निर्धारित परिधियां है। नैसर्गिक रूप मे ये न तो अतिक्रमण और न ही कोई टकराव पसद करते है। परमाणु की इस भाँति की स्वाभाविक व्यवस्था उसकी ऊर्जा की निम्नतम अवस्था से जानी जाती है। निम्नतम ऊर्जा अवस्थिति मे, निर्दिष्ट क्षेत्र मे, परिभ्रमण करते रहना पदार्थ (या परमाणु) के मूल घटको का प्राकृतिक स्वभाव है। जब कभी परमाणु को बाहर से अतिरिक्त ऊर्जा दी जाती है, जैसे कि ट्यूब लाइट मे उपस्थित अणुओ को विद्युत् शक्ति, तब वह अतिरिक्त ऊर्जा सोख ली जाती है। शक्ति के इस अधिग्रहण पर अप्राकृत हुआ परमाणु उच्च धरातल पर पहुँच जाता है। वैज्ञानिक शब्दावली प्रयुक्त करे तो कह ले कि इलेक्ट्रॉन उच्च ऊर्जा कक्षको मे परिभ्रमण के लिए बाध्य किया गया है। बाध्य हुआ परमाणु इस अतिरिक्त ऊर्जा राशि को भविष्य के लिए सगृहीत कर स्वय के पास नही रखना चाहता। कदाच्, पराई इस ऊर्जा से वह बौखलाहट ही महसूस करता है। एक सैकण्ड के करोडवे हिस्से मे ही त्याग द्वारा छुटकारा पा अपनी पूर्वावस्था में लौट आना ही उसे श्रेयस्कर जान पड़ता है। एक क्षण मे, पराई सम्पत्ति का यह विसर्जन एक ने नही बल्कि अनेको परमाणुओ ने किया, जिस कारण पीला प्रकाश दे रहे सोडियम लेम्पो से चौराहे का प्रत्येक मोड जगमगा उठा।

अद्भुत है जड पदार्थ जो अपना सार्वजनिक कोष (कॉमन फण्ड) रखते है। एक समुदाय मे कुछ सदस्य उभय होते है जो किसी पितृ से ममत्व नही रखते। वे 'अ' के जितने अपने है, उतने ही 'ब' के। पूरे समुदाय के एकसे है इसीलिए तो वे 'मुक्त' विशेषण लिये है। किसी विद्युत् चालक पदार्थ (जैसे ताबा) मे अधिसख्य मात्रा मे मुक्त इलेक्ट्रॉन होते है—मोटे तौर पर एक मुक्त इलेक्ट्रॉन प्रति परमाणु। इसके विपरीत कुचालक भोडल मे इनकी मात्रा न सी ही है। इन 'मुक्तो' की पदार्थ मे गति यादृच्छिक है, इनकी दिशा नियमित नही अतएव वे पदार्थ से सामान्यतया निकल नही पाते। ये अप्रतिबद्ध घटक-मुक्त इलेक्ट्रॉन ही समुचित परिस्थिति मे विद्युत् धारा का निर्माण करते है। यदि ये अपने पितृ से सबद्ध रहते तो बल्ब हमे रोशनी नही देता। प्रकृति प्राय. धक् सा रख देती है, क्योकि जैसे ही हम प्रतिपक्षी बयान देना चाहते है वही हमे मुँह की खाना होता है। जड मे भी दान ग्रहणशीलता है, मगर अत्यल्प मात्रा मे। अस्तेयव्रती पदार्थ कुछ भिक्षा ग्रहण कर औघड़दानी मे रूपातरित हो जाते है। ये पदार्थ न तो चालक कोटि के है न ही कुचालक। ये मध्यम श्रेणी के है जिन्हे अर्द्ध-चालक नाम से जाना जाता है। ट्रांजिस्टर और बहुतसी इलेक्ट्रानिकी सुविधाएँ है ही इस कारण कि मध्यमवर्गी पदार्थो को जरा प्रलोभन दे उनमे अभूतपूर्व गुण-सत्ता पैदा की गई। यह, जरा-सा प्रलोभन वैज्ञानिक भाषा मे 'अशुद्धि की मिलावट' कहा जाता है। अशुद्धि—आटा में नमक जितनी। चुटकी भर से

अधिक उपयोगी नहीं। इतनी सी बाह्य सम्पत्ति ग्रहण कर अर्द्धचालक प्रेरित हो जाता है कि वह अपने निजी विद्युत् वाहक लुटाये।

अनावश्यक, अतिरिक्त भार से लदे रहना, जड़ पदार्थ का अपना धर्म नहीं है। भारित तत्त्व आरम्भ में तो इस जल्दी में उलीचता है कि मानो हलका-फुलका होकर ही दम लेगा। वस्तुतः दम तो वह हलका होने पर ही लेता है मगर अनैच्छित को त्यागने की गति शनैः शनैः क्षीण होती जाती है। अवांछित की मात्रा कम होती चली गई। 'छोड़ने की चाल' मंद हो चलती है, यद्यपि जारी रहती है। इस त्याग पर, निश्चय ही लुभावना वर्ण लिया वह तत्त्व काला पड़ जाता है। मगर पागलपन प्राकृत है। रेडियम चढा घड़ी का कांटा रात्रि के अंधकार में समय इसी कारण बता रहा है कि प्रतिपल अतिरिक्त उलीचने को सकलिपत है भारित तत्त्व रेडियम। यूरेनियम को चैन तभी है जब कि वह सीसा हो जाय। नाभिक क्रोड़ हलका होकर ही स्थायित्व पाता है। भारी—रेडियोधर्मी तत्त्वों की इस त्याग प्रकृति से ही वैज्ञानिक पुरातात्विक वस्तुओं की आयु का आकलन करते हैं। रेडियोधर्मी विखण्डन दर पर आधारित पृथ्वी की आयु का अनुमान सर्वमान्य है। दूसरी ओर, कृत्रिम रूप से भारित किये गये पदार्थ, प्रयोगशाला से इस तरह प्राप्त अतिरिक्त सम्पत्ति को संचित कर नही रखते। कृत्रिमतया रेडियोधर्मी बनाये पदार्थों की स्वतः त्याग प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही कैंसर जैसे जटिल रोगों का उपचार संभव हुआ।

आश्चर्य है, भौतिक पदार्थों का व्यवहार भौतिक संपन्नतायुक्त व्यक्तियों से बिल्कुल उलटा है। भौतिक तत्त्व जो हल्के है जैसे—कार्बन, नेत्रजन, ओषजन आदि वे ही जीवनदायी है। तत्त्व जिस मात्रा में हलका है उसी मात्रा में स्वतंत्र। पृथ्वी अपने इतने भार के दबदबे पर भी हाइड्रोजन को (जो सबसे हलका तत्त्व है) अपने वायुमण्डल में थामे नहीं रख पाती। अति भारी की तो प्रकृति ही विखण्डन है। अतिभारित यूरेनियम, प्लूटोनियम का विखण्डन ही परमाणु बम की शक्ति है। विपरीत्य, बिल्कुल हलके संलयित होते हैं। मामूली का मिलन ही सूर्य द्वारा उत्सर्जित प्राणदायक रश्मियो का स्रोत है। हलके तत्त्वों का यह निरन्तर मिलन है भी चक्रीय रूप में। परहिताय एक हुए, वांछित भूमिका निभा पुनः विलग हो गये फिर से मिलने को।

जड की अपरिग्रहिता पर लिख वैज्ञानिक चेतना से परिचित घर से बाहर आया। पास के बालुई टीले पर बनती-बिगड़ती लहरियो की समझ की वह टोह ले पाये कि उसने ऊपर देखा : खारा था पानी। सूर्य का ताप ग्रहण कर शुद्धिकरण की प्रक्रिया में वह वाष्पित हो उठा। तप से प्राप्त शक्ति लिया वह अपनी रौ मे मैदान की ओर बढ़ चला। त्यागो, इस ऊष्मा को—वाष्प ने सोचा,

उपलब्धि अन्य के लिए वरदायक हो तब कही तपस्या धन्य होगी ! तड़पड़ा रही, व्यथा मे आलोडित बालू पर झुकी निगाह ठहरी । सुपात्र को जोह वाष्प पसीज गई । विनम्र हो पानी बोला, मै तो स्वाभाविक आकृति मे लौट रहा हूँ जबकि सवेग रहित होती बालू का बयान—रेगिस्तान भला बोला ही कब । पोर पोर मे थाती को स्थान दिया उसने । जब तक चैतन्य कुछ समझे, जाने, तृप्त करती पराई धरोहर अपने उद्गम की ओर बढ़ चली होगी ।



वैभव बनाम कचरा

पूज्य श्री श्रीलालजी म. सा. के समय का किस्सा है । बीकानेर मे धर्म-निष्ठ श्रावक सेठ श्री गणेशमलजी मालू रहते थे । उनके यहाँ पशुधन बहुत था । प्रतिदिन छाछ बनती थी और सभी घरों मे बांटी जाती थी । आज तो छाछ का पानी भी दाम देने पर प्राप्त नही होता । मालूजी स्वयं छाछ बांटते थे ।

दीन-दु.खी, बेसहारा लोगों के बर्तनो में छाछ डालते वक्त उनमे चाँदी के सिक्के चुपचाप डाल देते थे । घर जाकर लोगो को पता चलता । कोई लौटाने आता तो बोल देते थे ये सिक्के मेरे नही, तुम्हारे ही होंगे । लेने वाले की प्रतिष्ठा मे आच न आये, उसे शर्मिन्दा न होना पड़े, तीसरे कान पर खबर न पडे, इसका पूरा ख्याल मालूजी रखते थे ।

किसी तरह यह बात पूज्य श्रीलालजी म. सा. के कानो तक पहुँची । उन्होने मालूजी से पूछा—आप तो बहुत लाभ कमा रहे है ? मालूजी ने बताया-गुरुदेव ! यह कचरा बढता ही बहुत है । मै जितना बाहर फैंकने की कोशिश करता हूँ, उतना ही यह बढता जा रहा है । आप ही तो फरमाते है कि—

पानी बाढ़े नाव मे, घर में बाढे दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ।।

□ श्री शान्ति मुनि

६१

सदाचार और एषणा : सामाजिक सन्दर्भ में

☐ डॉ० वीरेन्द्र शेखावत

सदाचार या सम्यक् आचार का प्रश्न जैन, बौद्ध, औपनिषदिक व शैव दृष्टियों मे सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है। यद्यपि अनेक मौलिक मुद्दों पर ये सभी एकमत है लेकिन इनके बीच गहरे मतभेद है। उदाहरण के लिए सभी दृष्टियों मे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को सदाचार का मूल आधार माना है, इन्हें धर्म का भी मूल कहा गया है। लेकिन एक ओर तो इनकी व्याख्या के बारे में मतभेद है, जैसे शैव आचार में ब्रह्मचर्य पालन का वह अर्थ नही है जो जैन आचार में है। दूसरी ओर विशेष परिस्थितियों में इनके त्याग का विधान भी है, जैसे औपनिषदिक आचार में किसी का जीवन बचाने हेतु साक्षी असत्य भाषण कर सकता है। लेकिन इन मूल आचारो के बारे मे समस्या यह उत्पन्न होती है कि ये नितान्त वैयक्तिक है या सामाजिक है ? यदि ये वैयक्तिक है तो कोई भी इनके अनुसार आचरण करने को बाध्य नही हो सकता, उस अवस्था मे इनका क्या महत्त्व रह जाएगा। पुनः यदि ये सामाजिक है तो इनके त्यागने पर दण्ड की या प्रायश्चित की व्यस्वथा होनी चाहिए जो धर्मशास्त्रों मे देखने में नही आती। इस सन्दर्भ में एषणाओ का विचार, जो चरक सहिता[1] मे उपलब्ध है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। वहाँ प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा इन तीन एषणाओ की प्राप्ति हेतु मानव को प्रयत्नशील रहने की सलाह दी गई है। सबसे पहले प्राणैषणा करनी चाहिए क्योकि यदि प्राण नही हैं तो कुछ भी नही है। अतः स्वस्थवृत्त के द्वारा तथा शोघ्रतापूर्वक विकार शमन के द्वारा प्राणों की सुरक्षा और स्वास्थ्य का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बाद धनैषणा करनी चाहिए क्योंकि प्राणों के रहते हुए धन का अभाव मृत्यु के समान है। अतः सुवृत्तिपूर्वक धनार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बाद परलोकैषणा करनी चाहिए क्योंकि वर्तमान जीवन बाद में आने वाले जीवन का हेतु है और वह जीवन श्रेष्ठ हो इसके लिए सदवृत्त, ज्ञान, तप आदि का प्रयत्न करना चाहिए। सामान्य जीवन में एषणाओं के महत्त्व को हम नकार नही सकते क्योंकि हम सभी इन्हे करते है। अब प्रश्न यह है कि इन एषणाओ का मूल आचारों से क्या सम्बन्ध है ? सरसरी तौर पर विचार करें तो ये एषणाएँ मूल आचारों की विरोधी

१—चरक सहिता, सूत्र स्थान, अध्याय ११, गुलाव कु वरवा आयुर्वेदिक सस्था, जामनगर, १६४६।

लगती है । फिर क्या एषणाओं का विचार भ्रामक है ? या कि मूल आचारों का विचार ही त्रुटिपूर्ण है ?

देह का महत्त्व सभी दृष्टियों मे स्वीकारा गया है क्योकि देह के माध्यम से ही आत्मा संसार-अनुभव या भोग प्राप्त करता है और उसी के माध्यम से कैवल्य या निव्वाण या मुक्ति या सदाशिवता को प्राप्त करता है । अतः देह को स्वस्थ रखना और उसका उचित पोषण सभी को स्वीकार्य होगा । अत' प्राणैषणा का औचित्य है । इसी प्रकार धन के विना भोग नही हो सकता अतः धनैषणा का भी औचित्य है । क्योंकि आत्मा की ससारगति का प्रयोजन ही भोग और तत्पश्चात् कैवल्य है, इनके अभाव में वह प्रयोजन पूरा नही हो सकता । यह असम्भव है कि आत्मा भोग के बिना ही मुक्त हो जाये । अत. भविष्यगति को श्रेयस्कर बनाने के लिए प्राणैषणा और धनैषणा को प्राथमिकता देने का भी औचित्य है । वस्तुतः, मूल आचारो को ध्यान में रखते हुए हम इन तीन एषणाओं में दो और जोड सकते है जिन्हे कामैषणा और भोगैषणा कहा जा सकता है । इनका महत्त्व भी लोकयात्रा मे सभी को स्वीकार्य होगा । इन एषणाओं को हम जन्मसिद्ध कह सकते है क्योंकि ये सृष्टि के मूल प्रयोजन और प्राणिमात्र के जीवन के अर्थ के अनुकूल है । मानवमात्र स्वभावतः, प्रकृतित. इन एषणाओ के लिए प्रयत्नरत है यद्यपि सभी उन्हे नीतिपूर्वक उपलब्ध नही करते । हर समाज और राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने सदस्यो व नागरिको को इन एषणाओ की पूर्ति हेतु उचित परिस्थिति उपलब्ध कराए । यह कहा जा सकता है कि राज्य व्यवस्था का औचित्य इसी मे होता है कि सभी को पाँच एषणाओं की उपलब्धि के उचित अवसर मिले अन्यथा मानव जीवन का वह अर्थ नहीं रह जायेगा जो सृष्टि की उत्पत्ति और प्रयोजन के विश्लेषण मे हमने इसे दिया है ।

ऐसी परिस्थिति की कल्पना कीजिए जहाँ किसी व्यक्ति के प्राण सकट मे है । ऐसी स्थिति मे अपने प्राणो की रक्षा के लिए क्या उसे अहिंसा का आचार त्याग देना चाहिए ? इसका उत्तर लगभग स्पष्ट है । यदि प्राणैषणा का कोई औचित्य है तो अवश्य उसे अहिंसा को त्याग देना चाहिए । तव अहिसा रूपी मूल आचार का महत्त्व अत्यन्त सीमित हो जाएगा क्योकि उसका तो सर्व अवस्थाओ व सर्वकालो में पालन किया जाना चाहिए । इसी प्रकार यदि किसी की भोगैषणा पर आघात होता है तो उसे अपरिग्रह के मूल आचार को त्याग देना चाहिए क्योंकि जिस समाज में उपभोग की वस्तुओं को गोदामो में इकट्ठा करके छिपा दिया जाता है वहाँ भोगैषणा पर आघात होता है और अपरिग्रह का पालन यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है । तव अपरिग्रह का महत्त्व भी क्षीण हो जाएगा । इसी प्रकार धनैषणा पर आघात होने पर अस्तेय आदि को भी त्यागना पड़ेगा । तव इन मूल आचारों का क्या औचित्य और महत्त्व है ?

जहाँ एषणाएँ जन्मसिद्ध है वहाँ मूल आचार धर्मसिद्ध है। अर्थात् ये वे आदर्श हैं जिन्हें प्राप्त करने में प्रयत्नशील मानव मानवता के उस चरम शिखर पर पहुँचता है जहाँ कि समाज व संस्कृति एक पूर्णता को प्राप्त करती है। इन मूल्य व आदर्शों का औचित्य उस जगद्दृष्टि या दर्शन या सृष्टि सिद्धान्त में है जिसमें मानव जीवन का अर्थ व प्रयोजन परिभाषित है। वस्तुत: थोड़ी परीक्षा करने पर हम पाते है कि ये आदर्श एषणाओं के विरोधी नही है। उदाहरण के लिए यदि सभी मानव अहिंसा के आदर्श पर चलते हैं तो प्राणैषणा की विवृद्धि होती है, प्राण अधिक सुरक्षित होते है, या सभी के अपरिग्रह का पालन करने से भोगैषणा भी मजबूत होती है। अहिंसा के आदर्श की कठोरतम परिभाषा यह है कि व्यक्ति मन, वचन व कर्म से किसी को पीड़ित न करे। इसी तरह अपरिग्रह का आदर्श अपने कठोरतम रूप में एक दिन के अनिवार्य उपभोग से अधिक संग्रह न करने का सुझाव देता है और मात्र सन्तानोत्पत्ति हेतु सम्भोग ब्रह्मचर्य का आदर्श है, आदि। यद्यपि ये आदर्श पूर्णत: वैयक्तिक है और कोई भी इन्हें अपनाने के लिए व्यवहारत: या कानूनी तौर पर बाध्य नही है लेकिन यदि अधिकतर लोग इन्हें मान लें तो सामाजिक दबाव के कारण अन्य भी इनका पालन करेंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज इनका पालन करने लगेगा। लेकिन समाज एक सीमित इकाई होता है और मानव इतिहास में यह सदैव होता है कि यद्यपि कोई समाज-विशेष आदर्शो की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है लेकिन अन्य समाज जो उन आदर्शो के महत्त्व को नही समझते, जो अपेक्षा-कृत अर्धबर्बर हैं उन पर आघात करते है। ऐसी परिस्थिति में किसी समाज विशेष को उन आदर्शो की रक्षा के लिए ही उन आदर्शो की अवहेलना करनी पडती है। यही बात व्यक्ति के लिए भी सत्य है। व्यक्ति को बहुधा अपने आदर्शो की रक्षा हेतु ही उन आदर्शो को त्यागना पड़ता है क्योंकि कुछ व्यक्ति या प्राणी स्वभावत. हिसक या परिग्रही आदि होते है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल मूल आचारों पर बल देना या केवल एषणाओ के महत्त्व को स्वीकारना मानव स्वभाव के सही स्वरूप को अनदेखा करना है। वह एक साथ भोगोन्मुख और अपवर्गोन्मुख है। वह एक साथ ही प्राणैषणा करता व अहिसा के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वह एक साथ भोगैषणा और अपरिग्रह को प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। जब तक हम मानव स्वभाव के इस यथार्थ को भलीभांति नही समझ लेते, जीवन के प्रयोजन को प्राप्त करने व लोकयात्रा को सफलतापूर्वक पूरा करने की हमारी नीति त्रुटिपूर्ण रहेगी। अत: एषणाएँ ही वो सीढी है जिसके द्वारा, जिसके सहारे, जिसको लाघते हुए हम आदर्शो के शिखर पर पहुँचते है, उन्हे नकार कर या उनके बिना हम उस शिखर पर पहुँच नही सकते। इस सन्दर्भ में, मै समझता हूँ कि शैव आचार अन्य सभी भारतीय आचारों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

वहाँ इन मूल आचारों का महत्ता को स्वीकारा गया है लेकिन एषणाओं को अनदेखा नहीं किया गया। उस क्षेत्र में अधिक शोध की आवश्यकता है।

आचार पालन में भी एक आचार दूसरे आचार में रुकावट उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति अपरिग्रह का पालन करता है, उसका बच्चा दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है और धनाभाव में उसका यथासमय उपचार न हो पाने से मर जाता है। ऐसी अवस्था मे अपने आश्रित की प्राणरक्षा करने में असमर्थ वह व्यक्ति उसकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी है। इसी प्रकार एक आचार की पालन प्रक्रिया उसी आचार की अन्य पालन प्रक्रिया में बाधा बन सकती है, जैसे मैं ध्यान व ज्ञान द्वारा सत्य का अनुसंधान करना चाहता हूँ लेकिन दूसरा भजन-कीर्तन द्वारा और वह सारे मोहल्ले को सिर पर उठा लेता है। इसी मे मुल्ला की बांग, पुजारी की शंखध्वनि और वे लाउडस्पीकर शामिल हैं जिनसे नित्य व्यवधान होता है। स्पष्ट है कि आचारो के आधुनिक सन्दर्भ और उनकी पालनविधि पर नए सिरे से सोचने की जरूरत है और यह जिम्मेवारी उन लोगो की है जो इस क्षेत्र मे सर्वाधिक सक्रिय हैं।

आधुनिक काल में गांधीजी का प्रयास इन आचारों के पालन हेतु किया गया और वह सर्वविदित है। वस्तु. उनके जीवन का इतिहास प्रमुखतया इन आचारों की अनुपालना के प्रयास का इतिहास कहा जा सकता है। वे दूध इसलिए नहीं पीते थे कि इसमें बछड़े के दूध की चोरी होती है लेकिन डाक्टर की सलाह पर उन्होंने बकरी का दूध स्वीकार किया। अपरिग्रह के पालन में भी गांधीजी बहुत जागरूक थे। उन्हे इनके पालन में कहाँ तक सफलता मिली और उनके अनुभव क्या थे, ये विचारणीय विषय है। लेकिन आधुनिक परिस्थितियों में इनका अनुपालन कितना कठिन है, यह तो उनके जीवन से स्पष्ट ही है।

व्यवहारशास्त्र या कानून के क्षेत्र में कुछ आधुनिक समस्याएँ है जिन पर मूल आचारो और एषणाओ के प्रत्यय कुछ प्रकाश डाल सकते हैं। जैसे अधिकारों और कर्तव्यों का द्वय। एषणाओ को हम अधिकारो के रूप मे देख सकते है। अतः अपने प्राणों की रक्षा और स्वास्थ्य मानवमात्र का (प्राणिमात्र का भी) अधिकार है। इसी प्रकार वनैषणा, भागैषणा आदि। अतः अधिकार वे है जो जन्मसिद्ध या स्वतःसिद्ध हैं और उनका हनन मानव के अस्तित्व को नकारने के समान ही है। एषणाओ की प्राप्ति में अव्यवधान या बाधारहितता ही मानव की स्वतन्त्रता है—कुछ परिस्थितियो में वे आचार विरोधी हों तब भी। जब एषणाओं को गौण समझकर मूल आचारों को ही सर्वोपरि माना जाता है तो मानव स्वतन्त्रता का हनन होता है चाहे ऐसा धर्म संस्था करे या राज्य ? इसी

तरह मूल आचारों को कर्तव्यों के रूप में देखा जा सकता है जो जगद्दृष्टि या धर्म द्वारा निर्धारित है। यदि इन कर्तव्यों का पालन न किया जाए तो मानव इन आदर्शो और मूल्यों को प्राप्त नहीं करता जो मानवता को परिभाषित करते है, जिनसे मानव जीवन का अर्थ व प्रयोजन निर्धारित होता है। क्योंकि मूल आचार जगद्दृष्टि सापेक्ष है अतः भिन्न जगद्दृष्टियो में भिन्न आचार या मूल आचारों की भिन्न व्याख्या सम्भव है। जो भी मानव किसी जगद्दृष्टि को धारण करता है उसके लिए उन आचारो का पालन स्वतः ही कर्त्तव्य बन जाता है क्योंकि किसी जगद्दृष्टि को धारण करने का मतलब ही यह है कि उसके अनुसार जगत को देखना और उन आदर्शो के अनुसार जीवन को जीना। अधिकार और कर्तव्य केवल व्यक्ति के ही नही, समाज और राज्य के भी होते है। किसी भी समाज को यह अधिकार है कि वह किसी जगद्दृष्टि के अनुसार जीवन को जिए और उसे निरन्तर विकसित करे तथा उसके अनुसार विचार एव कला में उपलब्धियाँ करे। इसी प्रकार सार्वभौमिकता या स्वायत्तता हर राज्य का स्वतः सिद्ध अधिकार है। इसी प्रकार समाजो और राज्यो के अन्य समाजों व राज्यों के प्रति तथा अपने सदस्यो और नागरिको के प्रति कर्तव्य होते है, जो उस जगद्दृष्टि द्वारा परिभाषित होते है जिसको वे समाज और राज्य धारण करते है। इनमें सास्कृतिक आदान-प्रदान, आर्थिक सहयोग व बर्बर शक्तियो से रक्षा में सहयोग, आदि तथा सदस्यों की एषणाओं की व्यवहारतः सुरक्षा और कर्त्तव्य पालन के लिए दण्ड व प्रेरणा व्यवस्था आदि है। यदि समाज और राज्य ही अपने कर्तव्यों से विमुख होते है तो यह निश्चित संकेत होता है कि जगद्दृष्टि में मौलिक परिवर्तन अपरिहार्य है।

मानव इतिहास में यह अक्सर होता है कि आचार की अति के कारण एषणा-हानि और एषणा की अति के कारण आचार-भ्रष्टता होती है और समाज पुनः-पुन. ह्रासोन्मुख होते है। यह इसलिए होता है कि आचार और एषणाओं का सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म है और उनका तालमेल तथा साम्य बनाए रखना अपेक्षाकृत असरल है। जो समाज इस तालमेल के महत्त्व को समझ लेते है, वे सास्कृतिक चिरस्थायित्व को प्राप्त होते है और ऐसे उदाहरण विरल होते है।

यद्यपि व्यक्ति का महत्त्व राज्य से अधिक हो सकता है लेकिन व्यक्ति और राज्य का महत्त्व समाज से अधिक नही। समाज का प्रतिनिधित्व वे व्यक्ति करते है जो उसकी जगद्दृष्टि का सर्जन करते है और तर्क बौद्धिकवाद प्रक्रिया द्वारा उसका निरन्तर विकास करते है, अर्थात् समाज के धर्म की विवृद्धि करते है। अपरिग्रह जैसे उच्च आदर्शो को त्याग देने से ही समाजों में आर्थिक शोषण सम्भव होता है जिसके फलस्वरूप समाजो और राज्यों का ह्रास होता है।

समाजों में साम्यभाव तभी बना रह सकता है जब एषणाओं और मूल आचारो रूपी उच्च आदर्शों का साम्य व सन्तुलन बना रहे ।•

• इस निबन्ध मे लेखक ने सामान्य जन-जीवन मे सदाचार और एषणा के सम्बन्ध पर विविध दृष्टियो से विचार करते हुए उनमे सामजस्य बैठाने का प्रयत्न किया है। यह आवश्यक नही है कि साधना के उच्च स्तर पर यह चरितार्थ होता हो ।—सम्पादक



आधी रोटी पर हक

एक महात्मा प्रवचन दे रहे थे—'सबको अपने-अपने हक की रोटी खानी चाहिए ।' प्रवचन-सभा में उस देश का राजा भी उपस्थित था। उसने खड़े होकर पूछा—'महात्मन् ! हक की रोटी कैसी होती है ?'

महात्मा ने कहा—'किसी दृष्टान्त से यह बात पूरी समझ में नही आयेगी। साक्षात् देखना हो तो मेरे साथ चलो ।'

महात्मा और राजा दोनों उस नगर के एक मुहल्ले में पहुँचे जहाँ एक बुढिया रहती थी । महात्मा के सकेत पर राजा ने बुढ़िया के घर जाकर कहा—'माई, मुझे हक की एक रोटी चाहिए ।'

बुढिया बोली—'राजन् ! मेरे पास एक ही रोटी है, किन्तु उसमें से आधी हक की है और आधी बिना हक की ।'

राजा के बात समझ मे नही आई । उसने प्रश्न किया—'एक ही रोटी में से आधी हक की और आधी बिना हक की कैसे ?'

उत्तर में बुढ़िया ने कहा—'मै एक दिन चरखा कात रही थी । सायंकाल का समय था । अन्धकार धीरे-धीरे बढता जा रहा था । इतने मे एक मशाल-जुलूस आता हुआ दिखाई दिया । मै मशालों के प्रकाश में सूत कातती रही । उस समय मुझे अपना दीपक नही जलाना पडा । जुलूस जब तक रुका रहा, तब तक मैने जो सूत काता, उसे बेचकर आटा लाई और यह रोटी बनाई । श्रम मेरा था और प्रकाश मशाल-जुलूस का, इसलिए इस एक रोटी मे आधी पर मेरा हक है और आधी पर मशाल-जुलूस का ।'

राजा ने यह सुनकर बुढिया को प्रणाम किया और राजमहल जाकर प्रजा के लिए अपना भंडार खोल दिया ।

☐ राजीव भानावत

६२

आधुनिक युग में अपरिग्रह का मापदण्ड : एक चिन्तन

□ श्री मानमल कुदाल

आधुनिक युग में अपरिग्रह का मापदण्ड काफी चर्चा का विषय बना हुआ है। भगवान् महावीर के समय में कर्मकाण्ड तथा हिंसा चरम सीमा पर बढी हुई थी, परन्तु आधुनिक युग में परिग्रह अपनी सीमा लांघ चुका है। आगम ग्रन्थों मे भी परिग्रह की सीमा के बारे मे स्पष्ट उल्लेख मिलते है। इनमें कहा गया है कि गृहस्थ को धन-धान्य आदि वस्तुओ की सीमा निश्चित करनी चाहिए। और इसी से प्रेरित होकर कई गृहस्थ परिग्रह की सीमा को बाधकर अपरिग्रह की ओर आगे बढे है। उन्होने १०० गायों के बजाय ५० गाये, दस हाथी के बजाय ५ हाथी, लाखो स्वर्ण मुद्राओ के बजाय हजारो स्वर्ण मुद्राएँ तथा कई मकानो के बजाय कुछ मकान रखे होगे। इस तरह परिग्रह के त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया होगा और तत्कालीन समाज ने ऐसे लोगों को त्यागी कहकर सम्मानित भी अवश्य किया होगा, क्योकि वे तो आगमो की सीधी-सादी भाषा के अनुसार ही अपने जीवन को ढाल रहे थे। परन्तु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या इस प्रकार के त्याग को अपरिग्रह की सज्ञा दी जाय ? यहाँ हमे यह समझना भी आवश्यक है कि परिग्रह का लक्षण क्या है ? क्योकि इसके लक्षण को जानकर ही हम परिग्रह-अपरिग्रह का निर्णय कर सकते हैं।

अपरिग्रहवादियो के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होने अपरिग्रह को समझाने के लिये परिग्रह का लक्षण समझाया। अपरिग्रहवादी समझते थे कि जब परिग्रह का लक्षण समझा देगे तो इससे बचकर मनुष्य अपरिग्रही बन जायगा। अतः उन्होंने कहा जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ परिग्रह है। इसका तात्पर्य यह है कि चाहे व्यक्ति के पास मकान, जमीन, जायदाद, धन-धान्य आदि कुछ भी न हो, फिर भी इनके प्रति आकर्षण, ममत्व, राग आदि हो तो वह निश्चित रूप से परिग्रही ही है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति के पास सब कुछ उपर्युक्त साधन होते हुए भी यदि उन वस्तुओ के प्रति उनका आकर्षण, राग, ममत्व नही है, तो वह अपरिग्रही है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण कोरा व्यक्तिगत नही है ? क्या मूर्च्छा होने या न होने का ज्ञान हमें हो सकता है ? मूर्च्छा एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसको दूसरे व्यक्तियों में जान पाना तो कठिन है ही, अपने आप मे जान पाना भी अत्यन्त कठिन है। अतः यह परिग्रह

६ ३

बढ़ते हुए परिग्रह का दुष्परिणाम

□ श्रीमती सुशीला बोहरा

गृहस्थो की आजीविका के लिये नीतिशास्त्र व समाजशास्त्र ने ६ कर्म बताये है यथा शिल्प, सेवा, असि, मसि, कृषि और वाणिज्य। इन ६ कर्मो के द्वारा गृहस्थ अपने परिवार का भरण पोषण करता था, समाज व राष्ट्र की भी सेवा करता था। जिस देश में शिल्प, विद्याएँ और कला-कौशल बढे चढे होते है, वह देश भौतिक दृष्टि से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। वहाँ की जनता सुखपूर्वक अपनी जिन्दगी बिताती है, दुष्काल के थपेड़ो और प्राकृतिक प्रकोपो का वह डट कर सामना कर सकती है। परन्तु जो लोग केवल धनोपार्जन को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाकर परकर्मो को सीखते है, उनके सामने समाज या राष्ट्र की सेवा करने या अपने परिवार का पोषण करने का कोई लक्ष्य नही होता, उनका लक्ष्य खूब पैसा कमाकर मौज शौक करना होता है। दुनिया मरे या जिए, समाज चाहे रसातल में जाय, चाहे राष्ट्र का नैतिक जीवन खतरे मे पड जाय उनकी बला से। उन्हे तो पैसा चाहिये, फैशन और भोगविलास के साधन चाहिये। आज मनुष्यो की वृत्ति इसी होडा-होड मे लगी हुई है। पैसे के लिए निकृष्ट से निकृष्ट कार्य करने को उतारू हो सकता है। वस्तु मे मेलसमेल की जा सकती है, चोरी आदि की जा सकती है, स्त्रियो व बच्चो को मौत के घाट उतारा जा सकता है, गौमाता को कसाई के हाथ बेचा जा सकता है। जैन कहलाने वाले लोग घी मे सूअर व गाय का मास मिला सकते है, भाई को कोर्ट कचहरी चढाया जा सकता है, पत्नी से दुराचार करवाया जा सकता है। संक्षेप मे दुनिया का कोई ऐसा निकृष्ट कार्य ऐसा नही है जो इसके लिये नही किया जाता हो। लेकिन अफसोस यह है कि यह सब करने के बाद भी न दिन में चैन है न रात्रि को विश्राम।

अतएव परिग्रह के प्रति ममत्व भाव किसी भी दृष्टि मे सुखकर व हितकर नही। व्यक्तिगत दृष्टि से इसी की मूर्च्छा ने उसे बेभान बना दिया है। उसकी हालत मकडी के समान बन गई जो स्वय अपने चारो ओर जाल का निर्माण कर उसी में फस जाती है। हम और आप भी मकडी की तरह ही इस जाल मे उलझ रहे है। जितना परिग्रह बढ रहा है उतना ही तनाव बढ़ता जा रहा है। व्यक्ति आज सामाजिक प्राणी से अपने दायरे मे बंद होता जा रहा है। उसका पारिवारिक दायरा सीमित होता जा रहा है, बूढे माता-पिता पर किया जाने वाला

खर्च बोझ बनता जा रहा है, प्रेम की गंगा सूख रही है, कोई किसी की सहायता करने को तैयार नही है। कंचन व कामिनी के चक्कर में वह भूल गया है कि पैसा पलग व मखमली गद्दे दे सकता है, पर नीद नहीं, वह दवाइयाँ दे सकता है पर स्वास्थ्य नही, भोजन सामग्री दे सकता है पर भूख नही, लेकिन इसकी चकाचौध इतनी गजब की है कि हमारी सोचने-विचारने की शक्तियाँ कुंठित हो रही है। आज पश्चिम के लोगों के उदाहरण हमारे सामने है। उनके पास सब कुछ है लेकिन चैन नही। वहाँ पति को पत्नी पर विश्वास नही और पत्नी को पति पर विश्वास नही, बच्चों को माता-पिता पर विश्वास नही और माता-पिता को बच्चो पर विश्वास नही। वे अब उस द्वन्द्व में से निकलकर, फकीर की तरह बनकर 'हरे कृष्ण हरे राम' में लगे है और हम 'हरे कृष्ण हरे राम' के स्थान पर 'हाय पैसा' की ओर लगे हैं।

हमारे आचार्य भगवन्तों ने छद्मस्थों की इसी कमजोरी को देखते हुए उस परिग्रह रूपी अजगर की पूंछ छोटी करने के लिये उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का निरूपण किया। परिग्रह का या तो भोग किया जा सकता है या उपभोग। भोग का अर्थ है उसे एक बार उपयोग करना तथा उपभोग का अर्थ है बार-बार उपयोग कर सकना जैसे मकान, वस्त्र आदि।

भोग-उपभोग की वस्तुएँ २६ प्रकार की है—उल्लणविहि, दंतणविहि, सचित्तविहि, द्रव्यविहि आदि। इन वस्तुओं की मर्यादा करने से हमारी आकाश के समान फैली इच्छाएँ थाली में चन्द्रमा के समान हो जायेंगी। हम निश्चित सुखी जीवन का सूत्रपात कर सकेंगे। हमारा श्रम व शक्ति का ह्रास नही होगा, स्वास्थ्य की रक्षा कर पायेगे, चैन की नीद सो पायेगे। सामाजिक दृष्टि से भी परिग्रह परिमाण व्रत व उपयोग परिभोग-परिमाण व्रत बहुत लाभकारी है। व्यक्तियो से ही समाज बनता है। स्वार्थी व्यक्तियो से समाज ऐसे कगार पर आ जायेगा जहाँ दूसरे के दुःख-दर्द की किसी को परवाह भी नही होगी। सामाजिक हित गोल हो जायेगा। इसी परिग्रह की वृत्ति से समाज मे आज दहेज आदि प्रवृत्तियो को बढावा मिला है। जिसके परिणामस्वरूप आज कई लड़कियों को जीवन भर कुंआरी रहने को मजबूर होना पड रहा है तथा दूसरी ओर पैसे के वल से हजारो लडकियो का कौमार्य नष्ट किया जा रहा है। यदि भोग-उपभोग की वस्तुओ को सयमित कर लिया जाय तो यह अनाचार, अत्याचार व सामाजिक जीवन को तहस-नहस करने वाली कुप्रथाएँ अपने आप नष्ट हो जायेंगी।

विज्ञान के विकास के साथ भोग-उपभोग की वस्तुओ में दिनोदिन वढ़ोतरी हो गई है अतएव दहेज जैसी सात्विक सास्कृतिक परम्परा विषम वन गई है। अखवारो में रोज दहेज के कारण मरने-मारने की घटनाये पढ़ने को मिलती है।

समाप्ति के लिये मानव जाति को अपरिग्रह का महान् सदेश दिया। उन्होने कहा—'इच्छाहु आगाससमा अणतया' कि इच्छाएँ आकाश के समान अनत है और यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओ पर नियंत्रण नही रखता है तो वह शोषक बन जायेगा। सग्रह वृत्ति पाप है। अत यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओ का सग्रह करता है तो वह समाज में अपवित्रता का सूत्रपात करता है। जैन दर्शन की दृष्टि से सभी परिग्रह हिसा से प्रत्युत्पन्न है क्योकि संग्रह वृत्ति द्वारा व्यक्ति दूसरो के हितो का हनन करता है और इस रूप मे सग्रह या परिग्रह हिसा का ही एक रूप बन जाता है। अतः सही अर्थो मे एक अपरिग्रही ही अहिसक होता है। जैन-दर्शन मे व्यक्ति की माँग, वासना और शोषण की वृत्ति के नियत्रण के लिये ब्रह्मचर्य, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा अस्तेय व्रत का विधान किया गया है। वस्तुत. परिग्रह समाज के लिये एक अभिशाप है क्योंकि वह समाज मे विषमता उत्पन्न करने वाला है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, असंयम आदि इसी की शाखाये-प्रशाखाये हैं और आज प्रत्येक व्यक्ति इनका शिकार है। अतः आधुनिक युग के संदर्भ में इस सिद्धान्त का महत्त्व सर्वाधिक है।

जैन दर्शन में दान का महत्त्व

इतना ही नही, महावीर ने तो जिनके पास सग्रह है उन्हे दान का उपदेश दिया है। दान को जैन दर्शन मे अतिथि सविभाग कहा गया है जिसका अभिप्राय है कि जिनके पास है, वे उसे जिनके पास नही है, उन्हे उनका हिस्सा दान कर दे। दान अभावग्रस्त पर कोई अनुग्रह नही है अपितु यह उनका अधिकार है। अतः जिन्हे दान दिया जा रहा है उन्हे वह साधन-सामग्री प्रेम पूर्वक, आदर के साथ व निःस्वार्थ भाव से दी जाय। दान के लिये सम विभाग शब्द का प्रयोग किया गया है। महावीर ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है "असविभागी न हु तस्स मोक्खो" अर्थात् जो व्यक्ति सम विभाग और सम वितरण नही करता, उसकी मुक्ति सम्भव नही है। वस्तुतः समविभाग और समवितरण सामाजिक न्याय और आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अग हैं। जब तक जीवन मे सम-विभाग और समवितरण की वृत्ति नही आती है और अपने सग्रह का विसर्जन नही किया जाता है, तब तक आध्यात्मिक जीवन या समत्व की उपलब्धि भी सम्भव नही होती। महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त भी इसी विचारधारा से उद्गमित है।

आवश्यकताओं को सीमित करें

व्यक्ति को अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति कम-से-कम वस्तुओ का उपयोग करके करनी चाहिये। इन सबके सम्बन्ध में भी यथाशक्ति नियम लेने चाहिये तथा आत्मा के विकास एवं उन्नति की दृष्टि से नियमों में संशोधन एव

परिवर्तन करते रहना चाहिये। इस प्रकार की बात व्यक्तिगत और सामाजिक तथा भौतिकता और नैतिकता सभी दृष्टिकोणों से उपयोगी है क्योंकि इससे व्यक्तिगत चरित्र का विकास होता है तथा समाज की समस्यायें सुलझती है। इस सम्बन्ध मे आचार्य हेमचन्द के 'योगशास्त्र' की गाथा २/१०६ इस प्रकार है—

"असंतोषम विश्वासभारम्भ, दु.ख कारणम् ।
मत्वा मूर्च्छाफल कुर्यात्, परिग्रह नियंत्रणम् ।।"

अर्थात् परिग्रह का परिमाण न करने से लोभ-तृष्णा का दबाव बढ़ने लगता है और इस तरह विशेष आरम्भ-समारम्भ एवं कषायों के बढने से आत्मा की अधोगति होती है। तृष्णा का यदि समुचित नियंत्रण हो तो परिग्रह की उपाधि कम हो सकती है और यह उपाधि जितनी कम होगी उतनी ही आत्मा में शांति होगी और परोपकार, सेवा, स्वाध्याय तथा भगवत्स्मरण का अधिकाधिक लाभ लिया जा सकता है।

परिग्रह परिमाण यदि सामाजिक दृष्टि और सामाजिक सिद्धान्त बन जाय तो साम्यवाद अथवा समाजवाद का विवाद सरलता से शांत हो सकता है। वस्तुतः यह धर्म व्रत अच्छी से अच्छी समाज व्यवस्था का सर्जन करने वाला व्रत है। आधुनिक विश्व में भी सोवियत रूस, जनवादी चीन आदि साम्यवादी देशों में उत्पादित वस्तुओं की किस्में (Varieties) कम है अतः वे संग्रह को स्वतः ही हतोत्साहित करती है। परन्तु यह बाह्य प्रयोग है जबकि भोगोपभोग का व्रत आभ्यन्तर प्रयोग होने से स्वतः ही अधिक प्रभावशाली होगा।

अपरिग्रह और अहिंसा

वस्तुत. महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और अस्तेय के तीनो सिद्धान्त एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। अहिंसा और अपरिग्रह तो एक ही सिक्के के दो पहलू है। अहिंसा का सिद्धान्त अपरिग्रह के व्यवहार में ही लागू पड़ता है। वस्तुतः हमारा जीवन व्यवहार ही इस प्रकार का होना चाहिये कि अहिंसा हमारे जीवन का अग बन जाय।

जैन दर्शन में अहिंसा से अपरिग्रह का मार्ग प्रशस्त किया गया है। यह बात सही है कि गृहस्थ जीवन मे रहते हुए हिसा और परिग्रह आदि से वचा नही जा सकता किन्तु इस सम्बन्ध मे महावीर का उपदेश है कि श्रावक अपनी दृष्टि को ठीक रखे। जो काम वह करे, उसके परिणामों से भलीभांति परिचित हो, आवश्यकता की उसे सही पहचान हो। जीवनयापन के लिये कितनी व किन वस्तुओं की आवश्यकता है ? उनको प्राप्त करने के क्या साधन

हैं ? तथा उनके उपभोग से दूसरे के हितों की क्या हानि है ? आदि बातों पर विचार कर वह परिग्रह करने में प्रयुक्त हो तो इससे कम से कम कर्मो का वन्ध उसे होगा। श्रावक के बारह व्रतों का पालन गृहस्थ को इसी निस्पृही वृत्ति का आभास कराता है और इसी से उसके आत्मज्ञान की समझ विकसित होती है।

अत: हम निष्कर्ष रूप से इस बात को कह सकते है कि अपरिग्रह की विचारधारा का आधार प्रजातात्रिक, धर्म निरपेक्षता एवं समाजवाद है। इसी विचारधारा पर महात्मा गाँधी ने अपने हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।



☐ सबसे बड़ा दान आदमी को इस लायक बना देना है कि उसे दान न लेना पड़े।

—तालमुद

☐ जो हाथ दुआ के वक्त खुदा की तरफ उठाये जाते है और मदद के वक्त बगलो मे दवा लिये जाते है, उनसे क्या फायदा ?

—सादी

☐ जो कुछ हम दूसरों को देते है, वास्तव में वह सब हम अपने आपको दे रहे है। अगर इस तथ्य को पहचान लिया तो फिर ऐसा कौन होगा जो दूसरों को न दे ?

—महर्षि रमण

☐ जो किसी को न देकर आप ही खाता है, वह नष्ट हो जाता है।

—सामवेद

☐ दानी का धन घटता नही।

—ऋग्वेद

☐ दानी के चरित्र का पता दान की अपेक्षा दान देने के तरीके से अधिक लगता है।

—लॅवेटर

६५

भूख जो अतृप्त ही रही*

□ श्री लादूलाल जैन

प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण एक छोटा सा गाँव था। वहाँ के निवासी सरल, शांत एव सुखी जीवनयापन करते थे। वहीं एक छोटा सा परिवार था— एक कृषक, उसकी पत्नी और तीन बच्चे। कृषक तथा उसकी पत्नी बड़े परिश्रमी थे। अपनी ४० बीघा जमीन में कृषि करते, प्राप्त उपज से गृहस्थी चलाते। जो कुछ मिलता, सतोषपूर्वक जीवन बिताते। जीवन का क्रम आनंदपूर्वक निराबाध गति से चल रहा था।

एक दिन उस कृषक परिवार में उनका एक सम्बन्धी मिलने आया। कृषक ने आगन्तुक की आवभगत की। काफी समय पश्चात् मिलकर दोनो को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। रात्रि में बहुत समय तक बातचीत का दौर चलता रहा। बातो ही बातों में कृषक ने अतिथि से पूछा, "इस समय आप कहाँ होकर आये है ?" उसने कहा, "मै इस समय स्वर्णभूमि से होकर आ रहा हूँ।"

"स्वर्णभूमि ! यह कौन सी भूमि है तथा कहाँ पर है ?" कृषक ने पूछा।

अतिथि बोला, "प्रिय बन्धु, वह भूमि वास्तव मे स्वर्णभूमि ही है। वह सोना उगलती है। वह यहाँ से लगभग पचास मील दूर है।"

"आप वहाँ क्यो गये थे ?"

"सुना था वह भूमि बहुत उपजाऊ है, वहाँ के लोग बहुत सीधे-सादे है। वहाँ चाहे जितनी भूमि बिना किसी मूल्य के प्राप्त की जा सकती है। इच्छानुसार चाहे जितनी भूमि प्राप्त कीजिए, किसी प्रकार की बाधा नही।"

"आश्चर्य, महान् आश्चर्य ! आपने कितनी भूमि वहाँ पर प्राप्त की ?"

"बीस बीघा।"

---

*टालस्टाय की कहानी 'How much land does a man need ?' के आधार पर लिखित।

वातचीत चलती रही । अर्द्ध-रात्रि पश्चात् दोनों सोये । प्रातःकाल होने पर आगन्तुक अपने स्थान पर लौट गया ।

× × ×

कृपक के मन में काफी उथल-पुथल मच गई । "स्वर्णभूमि ! वह भी विना मूल्य के । कैसे है वहाँ के लोग जो बिना मूल्य के ही भूमि यो ही लुटा देते है ? क्या यह वात सत्य हो सकती है ? एक वार प्रयास किया जावे ?"

"अभी मेरे पास किस बात की कमी है । जीवन सुख से वीत रहा है। क्यों व्यर्थ की झंझट में पड़ूँ ?"

"पगले, ऐसा स्वर्ण अवसर कब प्राप्त होने वाला है ? तू ही क्यों तेरे बेटे-पोते तक चैन की बंसी बजायेंगे। तेरा क्या जाता है ? एक बार प्रयास तो कर ।"

अंतर्द्वन्द्व चलता रहा । तृष्णा ने संतोष पर विजय पाई ।

कुछ दिन गृहस्थी तथा कारोवार ठीक करने मे लग गये । स्वयं की भूमि मे से आधी भूमि वेचकर नकद राशि अपनी अण्टी मे ली, शायद नई भूमि लेने मे आवश्यकता पड़ जावे । पत्नी तथा वच्चो को आश्वासन दिया कि वह स्वर्ण-भूमि में कुछ भूमि प्राप्त कर शीघ्र लौटेगा ।

× × ×

चल पडा राही अपनी मंजिल पर ! मन अनेक आशाओं एवं उमगों से ओत-प्रोत था । भविष्य के सुनहले स्वप्न उसके पैरों को द्रुत गति दे रहे थे। कल्पना के अश्व वेलगाम दौड़ रहे थे। "खूब भूमि होगी मेरे पास। कुछ ही वर्षों में लक्ष्मी मेरे चरणों मे लौटेगी । एक विशाल भवन बनाऊँगा जिसमें मेरे पौत्र-प्रपौत्र सुख से रहेगे । रोजमर्रा के झझटों से छुट्टी मिल जावेगी । समाज मे मेरे समान कौन वैभवशाली होगा ?"

दो दिन की पद-यात्रा के बाद कृपक जा पहुँचा स्वर्णभूमि मे । बाग-वगीचों, हरे-भरे खेतों को देख उसका मन-मयूर नाच उठा । चारो ओर पक्षी चह-चहा रहे थे । एक अद्भुत सौन्दर्य-साम्राज्य वहाँ व्याप्त था । दो दिन की थकान न जाने कहां लुप्त हो गई ?

ग्राम में पहुँचते ही ग्रामवासी आ पहुँचे उसका स्वागत करने । उन्मुक्त हृदय से उन्होंने उसका स्वागत किया । पारस्परिक अभिवादन के वाद वार्ता का सिलसिला चल पड़ा । कृषक वोला, "मैंने सुना है कि आपके यहाँ भूमि

मिलती है। भूमि कैसी है, किस भाव से मिलती है ? एक व्यक्ति को आप कितनी भूमि दे सकते हैं ? कृपा करके सभी बातें विस्तार से बताने का कष्ट करें।"

ग्राम के प्रमुख ने कहा, "आप भूमि के लिए चिंता न करें। आप रात्रि शांति से व्यतीत करें। कल जैसा आप चाहेंगे, वैसा हो जाएगा।"

पर कृषक को चैन कहाँ था ? बोला, "मैं बड़ा आभारी हूँ आपका। यदि आपको कोई बाधा न हो तो भूमि के बारे में बताने की कृपा करें।"

प्रमुख कहने लगा, "गाँव के पास ही स्वर्ण रूपा नदी बहती है। उसके पार अथाह भूमि है। यह भूमि थोड़े से परिश्रम से ही सोना उगलती है। वर्ष में तीन फसलें देती है। उपज की कोई सीमा नही। रही मूल्य की बात। हम भूमि का कुछ भी मूल्य नहीं लेते। जो बोता है, भूमि का वही स्वामी होता है।"

"मुझे कितनी भूमि मिल सकेगी ?" कृषक ने उत्सुकता से पूछा।

प्रमुख ने कहा, "जैसा मैंने आपको बताया। यहाँ भूमि की कोई कमी नहीं है। आप चाहे जितनी ले सकते हैं। न उसका कुछ मूल्य है। आप कल प्रातः सूर्योदय से पूर्व उस सामने वाले पहाड़ पर आ जाइए। सूर्योदय होते ही उस पहाड़ से नीचे उतर कर सूर्यास्त होने से पूर्व तक जितनी भूमि आप चल कर पार कर लेंगे तथा लौटकर पहाड़ के शिखर को छू लेंगे, वह सब भूमि आपकी हो जावेगी। न भूमि का कोई मूल्य, न कोई लगान। शर्त केवल यही है कि आप दिन भर चलकर चाहे जितनी भूमि पार कर लें, आपको सूर्यास्त से पूर्व पहाड़ पर पहुँच कर शिखर को छूना है, तभी आप उसके स्वामी हो सकेंगे।"

कृषक ने सुना और दंग रह गया। कितने भोले-भाले और सांसारिक प्रपंचों से शून्य है ये ग्रामवासी ! उसने सोचा। उनकी बात विश्वास में आने लायक कम ही थी। पर जिस सहजता से वह कही गई थी, उस पर अविश्वास भी नही किया जा सकता था।

कृषक ने रात में गहरी निद्रा लेने की कोशिश की ताकि प्रातः तरो-ताजा होकर उठे। पर मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठ रहे थे। सुखद भविष्य की कल्पना उसकी निद्रा में बाधा डाल रही थी। अपने जीवन की परम आकांक्षा पूरी करने वह जा रहा था। उसने जैसे—तैसे रात्रि पूरी की। पौ-फटने से पूर्व वह जाग उठा।

सूर्योदय के पूर्व ही वह पहाड़ के शिखर पर जा पहुँचा। अनेक ग्रामवासी

५२. **श्री के० एल० पोकरना**– व्याख्याता, स्वास्थ्य शिक्षा, निवारक एवं सामाजिक चिकित्सा विभाग, सवाई मानसिंह मेडिकल कॉलेज, जयपुर।

५३. **श्री संजीव भानावत**—सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर—३०२००४

५४. **श्री उदय जैन**— चिन्तक और लेखक, ब–८, विश्वविद्यालय शिक्षक आवास, ए-बी. रोड, इन्दौर।

५५. **श्री घन्ना मुनि**—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के सुशिष्य

५६. **श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल**– प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, बी-८१, राजेन्द्र मार्ग, बापूनगर, जयपुर—३०२०१५

५७. **मुनि श्री रूपचन्द**—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, लेखक और कवि

५८. **श्री काशिनाथ त्रिवेदी**—प्रबुद्ध विचारक, लेखक और शिक्षाविद्, गाँव पीपल्याराव, इन्दौर-४५२००१

५९. **डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर**—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग में एसोशियेट प्रोफेसर

६०. **डॉ० धनराज चौधरी**—लेखक और कथाकार, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के भौतिक शास्त्र विभाग में सहायक प्रोफेसर।

६१. **डॉ० वीरेन्द्र शेखावत**—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग में सहायक प्रोफेसर।

६२. **श्री मानमल कुदाल**—प्रभारी, आगम,अहिंसा, समता एव प्राकृत संस्थान, सुन्दरवास, उदयपुर।

६३. **श्रीमती सुशीला बोहरा**—स्वाध्यायी एवं लेखिका, परियोजना निदेशक, जिला महिला विकास अभिकरण, जोधपुर

६४. **डॉ० अमृतलाल गाँधी**—विचारक और लेखक, जोधपुर विश्वविद्यालय के राजनीति शास्त्र विभाग में रीडर।

६५. **श्री लादूलाल जैन**—लेखक, एस-६ (५६) ज्योति मार्ग, बापूनगर, जयपुर।

□ □ □

विज्ञापन-खण्ड



जिन प्रतिष्ठानों, संस्थानों, व्यक्तियों आदि ने [illegible] हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया, उन सबके प्रति हम [illegible] करते है। विज्ञापनों के संकलन आदि में हमें श्री [illegible] मेहता, श्री मोफतराजजी मुणोत, श्री चैतन्यमलजी ढढ्ढा, श्री [illegible] बोथरा, श्री के. एस. गलूंडिया व श्री पार्श्वकुमारजी मेहता आदि [illegible] सहयोग प्राप्त हुआ है एतदर्थ हार्दिक आभार।

—[illegible] परिवार

विज्ञापन अनुक्रम

जे एगं नामे, ते बहूं नामे ।

—आचारंग १/३/४

जो अपने आपको नमा लेता है—जीत लेता है, वह समग्र ससार को नमा लेता है।

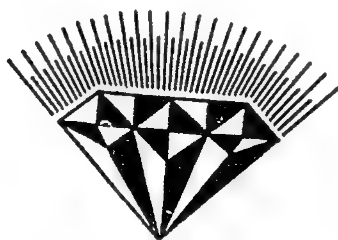
With best compliments
from :



Phone . 41071
Telegram WELLCUT

SUPER GEMS

Dhandhia House, K. G. B. Ka Rasta,
Johari Bazar, Jaipur-302 003 (India)



MANUFACTURERS, EXPORTERS & IMPORTERS
OF
PRECIOUS STONES

Postal Address : POST BOX 361, JAIPUR-302 001 (India)

सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाण खवेई ।
उत्तराध्ययन २९/५९

ज्ञान की आराधना करने से आत्मा अज्ञान का नाश करती है ।

ममहि कारए ण तमेव ममहि पडिलब्भई ।

—भगवती सूत्र ७/१

जो दूसरो के सुख एव कल्याण का प्रयत्न करता है वह स्वय भी सुख और कल्याण को प्राप्त होता है ।

दो को सदा बन्द रखो—

- पर निन्दा श्रवण के लिए कान को ।
- दोष कथन और असद्भाषण के लिए मुख को ।

गुरु हस्ती के दो फरमान ।
सामायिक, स्वाध्याय महान् ।।

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

- ☐ जिनवाणी पत्रिका का ४३ वर्षों से नियमित प्रकाशन ।
- ☐ ज्ञान एवं चरित्रवान सुश्रावकों, स्वाध्यायियों, योग्य धार्मिक अध्यापको तथा मेधावी प्रचारको को तैयार करने हेतु स्वाध्यायी एवं शिक्षक-प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन ।
- ☐ धार्मिक शिक्षण शिविरों तथा धार्मिक पाठशालाओं का सचालन ।
- ☐ सन्त-मुनियों व महासतियांजी के चातुर्मास से वंचित क्षेत्रों में पर्युषण पर्व पर शास्त्र-व्याख्यान, चौपाई आदि वाचन हेतु योग्य स्वाध्यायियो को भेजकर जैन संस्कृति के रक्षण, प्रचार एवं प्रसार मे योगदान ।
- ☐ मुनियों व गृहस्थों के बीच के ब्रह्मचारी या साधक वर्ग का गठन ।
- ☐ आगम एवं अन्य विविध प्रकार के सत् साहित्य का प्रकाशन ।



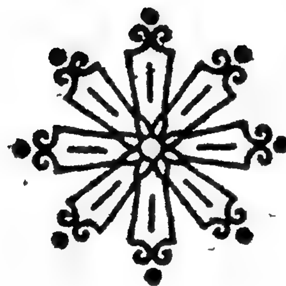
जिन व्यक्तियों, संस्थाओं एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमें सहयोग प्रदान किया, उन सबके प्रति हार्दिक आभार ।

—'जिनवाणी' परिवार

पवित्र हृदय से की गई करणी ही काम आयेगी
और करणी के अनुसार ही सुगति मिलेगी।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

With best compliments from :



वही व्यक्ति मनुष्यों के लिए चक्षु के समान मार्ग-दर्शक है जिसने भोग की तृष्णा पर विजय प्राप्त कर ली है। —सूत्रकृतांग १५/१४

दो बातों पर ध्यान रहे—

- जो कामना पर विजयी है, वह रंक होने राजा है ।
- जो कामना का गुलाम है, वह राजा होने कंगाल है ।

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य ।।

—उत्तराध्ययन 1/16

दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करे, इससे तो अच्छा है कि मै सयम तप के द्वारा अपना दमन कर लू ।

यह शरीर नौका रूप है, जीवात्मा उसका नाविक है और संसार समुद्र है। महर्षि इस देह रूप नौका के द्वारा संसार-सागर को तैर जाते है।

—उत्तराध्ययन २३/७३

मोह से जीव बार-बार जन्म-मरण के आवर्तन मे फसता है।

—आचारांग

With best compliments from :

☐ **RAYMONDS RETAIL SHOP**

886, Jawaharganj, JABALPUR-482 001

Phone : 24371

☐ **SHREE TEXTORIUM**

Distributor-Garden

Azad Chowk, Gorakhpur Bazar,

JABALPUR-482 002

Phone : 24079

☐ **SAMPATLAL AND BROS**

☐ **SAMPAT SAREE EMPORIUM**

☐ **SAMPATLAL AND COMPANY**

Azad Chowk, Gorakhpur Bazar,

JABALPUR-482 002

Phone Shop : 24079 Resi. : 21859

A HOUSE OF QUALITY

औरों के कल्याण में, रहता जिनका ध्यान।
उनका अपने आप हीं, हो जाता कल्याण॥

With best compliments from :



एगोमे सासओो अप्पा, नाण-दंसण संजओो :।
सेसामे बाहिर भावा, सव्वे संजोग-लक्खण॥

FROM :

BARDIA BROTHERS

BARDIA MANSION

Kapasia Bazar,

AHMEDABAD-2

लोभ-कलि-कसाय-महक्खंधो,
वितासयनिचय विपुलसालो ।

प्रश्न १/५

परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध तने हैं—लोभ क्लेश और कषाय चिन्ता रूपी सैकड़ों ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ है।

४७-पूरिसा, । अत्ताणमेव अभिणिगि

मानव ! अपने आपको ही निग्रह (संयत
तू दुःख से मुक्त हो सकता है ।

चत्तारी धनदाष्टा खंती

क्षमा, संतोष, सरलता और

परिग्गह निविट्ठाणं वेरं तेसि पवड्ढई

—सूत्रकृतांग १/९/३

जो परिग्रह (संग्रहवृत्ति) में फंसे हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते

With best compliments from :



M/s Prakash Chand So

1418, Pitaliyon Ka Chowk

JAIPUR-302

hand

किरिश्रं च रोयए धीरो ।

उत्तराध्ययन १८/33

धीर पुरुष सदा क्रिया (कर्तव्य) मे ही रुचि रखते है ।

मन-प्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्य-निमिग्रहः ।
भाव-संशुद्धि रित्येतत्तपो, मान समच्चते ।।

—गीता

अर्थात् मन से सदा प्रसन्न रहना, शात एवं मौन रहना, मन को अपने वश मे रखना और अन्तःकरण को शुद्ध तथा पवित्र रखना यह मानस तप है ।

कार्यकर्ता मे दो बाते आवश्यक है—

□ जवान जैसा जोश हो।

□ वृद्ध जैसा होश हो।

कर्म-वृक्ष को आगे बढाने वाला है राग और द्वेष । जहाँ राग-द्वेष सूख गया कर्म-वृक्ष भी सूख जायगा ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

With Best Compliments From :



R. K. GEMS

Partaniyon Ka Rasta,
Johari Bazar,
JAIPUR-3

स्वाध्याय से आत्मा स्व–पर के भेद को समझने मे प्रति क्षण जागरूक रहती है ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा.

With Best Compliments From :



सरफि पेपर मिल्स लिमिटेड

101-103, पदमा टावर–I,
5, गजेन्द्र प्लेस,
नई दिल्ली–110 008

देहली-अलवर रोड,
अलवर
(राजस्थान)

अस्तेय (अचौर्य) व्रत का साधक बिना किसी (स्वामी) की अनुमति के, और तो क्या, दाँत साफ करने के लिए एक तिनका भी नहीं लेता।

—भगवान् महावीर